न्यायदर्शनम्

वात्स्यायनमुनिकृतभाष्यसहितम्

क्षत्रियकुमारेण श्रीमदुदयनाराणवर्मणा
नागरीभाषयाऽनुवादितम्

तच्च

मधुरापुरस्थ-शास्त्रप्रकाश-कार्य्यालये
(डा० विद्दूपुर, मुज़फ़्फ़रपुर)
नाम्निस्थाने प्रकाशितम्

संवत् १९६३ सन् १९०६ ई०
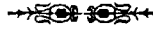
THE

NAYASUTRAS OF GOUTAM

with

VATSYAN'S BHASHYA

Translated into Nagari and published
by
Udaya Narain Singh at Shastra Publishing office
Madhurapur, Bidhupur, Mozafferpur.

—X:*:X—

Printed at Brahma Press Etawah.

ओ३म्

समर्पणम्

श्रीयुत परम मान्यवर क्षत्रियकुलचूड़ामणिपरमोदार सनातनआर्यधर्मप्रवर्त्तकवीराग्रगण्य श्रीमेजर जनरल सर प्रतापसिंह बहादुर महाराजाधिराज ईडर नरेशेष्वित—उदयनारायण सिंहस्य कोटिशोनतयस्स्फुरन्तुतराम् ।

भगवन् !

श्रीमान् ने सनातन आर्य्यधर्म की उन्नति करके हम भारतवासियों का परम उपकार किया है । ईश्वर श्रीमान् जैसे धर्मरक्षक—वैदिकधर्म प्रवर्तक दानशील, आदर्शपुरुष और आर्षग्रन्थों के उन्नायक महाराजाओं की प्रतिदिन संख्या बढ़ावे ।

श्रीमानों की रुचि स० आ० ध० की ओर देख मैं ने वेद के छः उपाङ्गों में से नास्तिक मतों के प्रलयकर्त्ता मूलोच्छेदक तथा वेदोक्तधर्मसंस्थापक शतघ्नी स्वरूप महर्षि गौतमप्रणीत न्यायशास्त्र पर महर्षि वात्स्यायन प्रणीत भाष्य सहित का सरल भाषानुवाद किया है ।

इस सभाष्य सानुवाद वेदोपाङ्ग न्यायशास्त्र को मुद्रित करा श्रीमानों के कर कमलों में विनयपूर्वक अर्पण कर आशा करता हूं कि श्रीमान् इसे सानन्द स्वीकार करेंगे और मेरे "शास्त्रप्रकाश कार्य्यालय" के संरक्षक बन आर्षग्रन्थों का उद्धारक बनेंगे, जिस्से मुझे अन्यान्य अमूल्य भारतरत्न आर्षग्रन्थों को सानुवाद प्रकाशित करने में सहायता मिले ॥

शास्त्रप्रकाश—कार्यालय
स्थान—मधुरापुर, विद्दूपुर
ज़ि० मुज़फ़्फ़रपुर

श्रीमतामाज्ञाकारी——
क्षत्रिय कुमार—
उदयनारायणसिंह

ओम् सच्चिदात्मनेनमः ।

प्रस्तावना

भारतवर्षीय आर्य–दार्शनिक–सम्प्रदाय प्रायः दो भागों में विभक्त हैं। एक 'नास्तिक' और दूसरा 'आस्तिक'। आपततः बहुत से लोग इन दो शब्दों का प्रयोग कर कर्त्तव्य मार्ग से अनायासलभ्य विच्युति को प्राप्त होते हैं। प्राचीन समय से अस्तित्ववादी ही " आस्तिक " कहे जाते और अस्तित्व को मिथ्या कहने वाले "नास्तिक" नाम से प्रसिद्ध होते आये। इस समय अस्तित्व और उस के अपलाप् के साथ किसी पदार्थ का सम्बन्ध होने से समधिक सुसङ्गत होगा इस का विचार होना परमावश्यक है। दार्शनिकमात्र ने किसी न किसी पदार्थ का जिस किसी एक रूप में अस्तित्व अङ्गीकार किया है। सुतरां सामान्यतः " अस्तित्वापलापकारित्व " किसी का सम्भव नहीं। अतएव नास्तिक संज्ञा का भी प्रयोग–स्थल दुर्लभ हुआ।

इसी कारण अस्तित्व और इस के अपलाप के विषय रूप से एक विशेष पदार्थ निर्वाचन करना आवश्यक हुआ। वह पदार्थ क्या है? यह विवेचनीय है। इस स्थान में दो प्रकार का मतवाद बहुत दिनों से आन्दोलित होता आता है। कोई कहता है कि इस अस्तित्व और नास्तित्व का विषय "ईश्वर" हैं। कोई उसे "परलोक" या " जन्मान्तर " निर्धारण करना चाहता। इस स्थल में द्रष्टव्य यह है कि यदि ईश्वर के अस्तित्व में अविश्वासी ही का नाम नास्तिक है, तो कपिल, जैमिनि प्रभृति दार्शनिक महर्षिगण को भी ईश्वर के न मानने अंश में नास्तिक कहना पड़ेगा। शास्त्रों में किसी स्थान में उन को नास्तिक कह कर निर्द्देश एवं निन्दा नहीं कियी गयी है। प्रत्युत सर्वत्र ही अति विशद्भाव से सांख्य एवं मीमांस के मत बड़े मान्य से आदृत एवं आलोचित हुए हैं।

मीमांसा रचयिता महर्षि जैमिनि महोदय को "नास्तिक" कहने से वेदोक्त नित्य नैमित्तिक कर्मानुष्ठान रूप आर्य्यों का आचार, भी नास्तिकता का पोषक गणनीय होगा। और इसी प्रकार सांख्याचार्य कपिलदेव को " नास्तिक" कहने से पवित्र योगतत्त्व को भी नास्तिकता में आना पड़ेगा। और उस २ मत के अनुष्ठातृगणसाधु, धार्मिक योगी प्रभृति अपने २ नाम से न कहे जा कर " नास्तिक" नाम से प्रसिद्ध होंगे। और ऐसा होने से शास्त्रों में

जो "नास्तिक–निन्दा" देखी जाती है वह सांख्य और मीमांसादि में प्रयुक्त होगी। जब इस का कुछ भी अंश (शास्त्रों में) देखा नहीं जाता तब उन को ईश्वर–स्वीकार न करने मात्र से "नास्तिक" कहना युक्ति–युक्त नहीं हो सकता। विशेषतः साधरणता से अविसम्बाद रूप उन महाशयों के मतवाद की प्रमाणता मानी जाती है। सुतरां प्रमाण उद्धृत कहने से इस प्रकार कपोल कल्पित निरास करने की आवश्यकता नहीं दीखती। परन्तु सांख्य एवं मीमांसा के मत में ईश्वर का अनङ्गीकार होने से ईश्वर की सत्ता–अस्वीकार नहीं होता, ये बात हम आगे दिखलावेंगे।

चार्वाक आदि सम्प्रदायों का नाम नास्तिक होना प्रमाण सङ्गत होता है क्योंकि सब ही आस्तिक दर्शनों में उन के मत के खण्डन समय में "वे लोग जन्मान्तर नहीं मानते" ऐसा लिखा गया है देह से भिन्न आत्मा की भी विद्यमानता उन में से बहुत नहीं मानते। सब ही आस्तिक सम्प्रा॰ प॰ शास्त्रों में ऐसे मतों की निन्दा पायी जाती है। ये नास्तिक मता[illegible]गण लौकिक, 'प्राकृत' और 'लोकायतिक' प्रभृति निन्दित [illegible] कहे गये हैं और उन के युक्तियों को युक्त्याभास कहकर [illegible]। कपिलादि आचार्यगण "जन्मान्तर" को मानते हैं। [illegible] किसी व्यक्ति ने इन ऋषियों के उद्देश्य पर लक्ष्य [illegible] उन के प्रति कोई निन्दा वाक्य का प्रयोग नहीं किया है। अनेक [illegible] दार्शनिकों का अभिप्राय यही है कि जो लोग वेद के असंशयित प्रामाण्य मानने में आपत्ति नहीं करते वे ही लोग आस्तिक और इस के विरुद्ध पक्ष वाले नास्तिक हैं। इस पक्ष में चार्वाकादि का ही तत्पर्यानुसार "नास्तिक" नाम होना युक्त है। जिस कारण वे ही लोग वेद की प्रमाणता की परीक्षा में विरुद्धपक्ष में खड़े होते हैं। यद्यपि चार्वाक सम्प्रदाय के किन्हीं व्यक्ति ने "आत्मा वै जायते पुत्रः" (आत्मा ही पुत्र रूप से जन्मग्रहण करता है) इस वेदवाक्य की प्रमाणता मानकर अपने "पुत्रात्मवादी" नाम की सार्थकता सम्पादन किया है। (१) एवं अपर चार्वाक "स वा एषः पुरुषोऽन्नरसमयः" इस वेद वाक्य के बल से अभिमत "देहात्मवाद" का समर्थन किया है (२) तथापि

(१)—अति प्राकृतस्तु आत्मा वै जायते पुत्र इत्यादि श्रुतेः स्वस्मिन्निव स्वपुत्रेऽपि प्रेमदर्शनात् पुत्रे पुष्टे नष्टेऽहमेव पुष्टो नष्टश्चेत् याद्यनुभवाच्च आत्मेति वदति- वेदान्तसारः ॥ (२)—चार्वाकस्तु स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय इत्यादि श्रुतेः प्रदीप्त गृहात् स्वपुत्र परित्यज्यापि स्वस्य निर्गमदर्शनात् स्थूलोऽहं कृशोऽस्मीत्याद्यनुभवाच्च स्थूल शरीरमात्मेति वदति वेदान्तसार. ॥

वे लोग उस का सर्वांश प्रामाण्य वाद में अनुमोदन नहीं करते। आंशिक प्रामाण्य को स्वीकार करना एक उपहास की सामग्री है। कोई एक वेदवाक्य असंशय प्रमाण, और कोई एक अप्रमाण, इसप्रकार स्वेच्छानुमत विशृङ्खला वाक्य को, यह लड़कों कीसी अनर्थक बात है ऐसा कह कर दार्शनिक लोग इन का उपहास करते हैं। व्यवहार क्षेत्र में जिस प्रकार मिथ्यावादी का अपर एक वाक्य भी मिथ्या कहकर अवधारित होजाता, उसी प्रकार "प्रत्यगस्थूलो ऽचक्षुर प्राणोऽमनाऽकर्त्ता चैतन्यं चिन्मात्रः, ॥ इत्यादि श्रुति को प्रमाण करके स्वीकार न करने से "आत्मा वै जायते पुत्रः" इत्यादि का स्वीकार करना न हुआ। इन दो वेद वाक्यों में से एक सत्य, दूसरा मिथ्या कहकर अवधारण करना असङ्गत है, क्योंकि चाहे जिस किसी वेदवाक्य को कोई भ्रम क्यों न माने, इस से वेदवाक्य की भ्रम रहना हुआ। जब कि अन्य भी वेदवाक्य हैं, तब वेदवाक्य की भ्रम ही स्वीकार करना पड़ा। सुतरां जिस को सत्य कह-कर प्रतिज्ञा कियी [illegible] मनोरथमात्र पर्यवसित हुई मानो अपनी प्रतिज्ञा [illegible] स्वयं [illegible] भी चुप होना पड़ा।

उच्चारण करने [illegible] के दोष, गुण, [illegible] में संक्रमण करते हैं। यदि वेद को अपौ[illegible] तो उस में पुनरुक्त दोष का सम्पूर्ण रहना सम्भव नहीं। [illegible] वाक्य प्रमाण रूप से गृहीत होगा, अपर वाक्य [illegible] पर भी प्रमाण कह कर गिना नहीं जावेगा; इस के गूढ़ रहस्य की जिज्ञासा करनी आवश्यक है। जो लोग वेद को पौरुषेय मानते हैं, उन के मतानुसार वेद [illegible] है। अशेष विज्ञान-निधि भगवान् के रचित वेद में एक ओर [illegible] और दूसरी ओर [illegible] का अनुमान करने से उस की सर्वज्ञता पर भी आपत्ति आ पड़ती है। और ईश्वरत्व भी वाङ्मात्र पर्यवसित होकर [illegible] अन्तःसार शून्य एक वस्तुमात्र रहा जाता। नास्तिक चार्वाक ईश्वरत्व को भले ही न मानें इस में कोई आपत्ति नहीं किन्तु उन ने एक ही वेद वाक्य रूप वस्तु के ऊपर परस्पर विरुद्ध प्रामाण्य और अप्रामाण्य ये दोनों धर्म आरोप कर वास्तविक वेद की प्रमाणता को स्वीकार नहीं कियी। इसी से हमारे शास्त्रों में इन को "नास्तिक" की आख्या आचार्यों ने दियी है।

कपिल जैमिनि प्रभृति महर्षियों ने वेदों ही का अवलम्बन कर अपना २ मत स्थापन किया है और वेद के प्रमाणों के निश्चय के लिये अपना २ मगज खाली कर वेदानुरागित्व प्रदर्शन किया है; सुतरां उन महर्षियों को

" नास्तिक " कहने से–हमें भारकी बनना पड़ेगा। नास्तिक दर्शनों की समालोचना के साथ इस लेख का कोई मुख्य उद्देश्य नहीं, इसलिये अब आगे आस्तिक दर्शनों पर विचार किया जाता है।

इस समय भारतीय आस्तिकदर्शनों की किञ्चित्समालोचना कियी जावेगी। भारत में आस्तिक दर्शन साधारणतः ६ भागों में विभक्त हैं। १ पूर्व मीमांसा, २ उत्तर मीमांसा, (वेदान्त) ३ न्याय, ४ वैशेषिक, ५ सांख्य और ६ पातञ्जल दर्शन हैं। इस प्रकार इन छः शास्त्रों का नाम कहा जाता है।–परन्तु "सर्वदर्शनसंग्रह" नामक ग्रन्थ में माननीय श्रीमाधवाचार्य जी ने रामानुजदर्शन, शैवदर्शन, रसेश्वरदर्शन प्रभृति और अनेक आस्तिकदर्शनों का उल्लेख किया है और उन के मत पृथक् २ रूप से स्थापन किये हैं। उस में आस्तिक दर्शनों का पूर्वोक्त विभाग अनुपपन्न हुआ या नहीं, सो यहां विचारणीय नहीं है। तब इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वे स्वतन्त्र दर्शन नहीं हैं। प्रत्युत उक्त षड् दर्शनों ही के अन्तर्निविष्ट हैं। इन दर्शनों के किन्हीं २ भाष्यकारों का मत और उन २ के शिष्यों का मत ही तो इन के उत्पत्ति के कारण हैं। जैसे रामानुज दर्शन, श्रीभाष्य का (रामानुजकृत) मतसंग्रह, पूर्ण–प्रज्ञदर्शन,–माध्वभाष्य का (आनन्दतीर्थ रचित) मतसंग्रह, जीवाणुत्व प्रतिपादन करने से इस को कोई २ अणुभाष्य भी कहते हैं। कोई तो माध्वभाष्य के किन्हीं अंशों को "अणुभाष्य कहते, कोई आनन्दतीर्थ विरचित भाष्य को ही "अणुभाष्य" मान कर अंशविशेष को "माध्वभाष्य" कहते हैं। फलतः इसप्रकार इन की स्वतन्त्रता का खण्डन किया जा सकता है। यहां इन प्रत्येक छः दर्शनों के सब विषयों की पूरी समालोचना न करके केवल इन के मुख्य २ विषयों में जो लोगों को परस्पर–विरोध दीखता है–उस की संगति, दर्शनों के प्रतिपाद्यविषय, दर्शनों का मतभेद, दर्शनों के बननेका समय, दर्शनों का वेद से सम्बन्ध इत्यादि विषयों पर विचार होगा। यद्यपि छः हो दर्शन आर्ष एवं पढ़ने देखने योग्य हैं, परन्तु इस समय नास्तिकों से वेदोक्त धर्म की रक्षार्थ–तर्कशास्त्र से सर्वसाधारण को अवगत होना बहुत आवश्यक समझ कर हम ने प्रथम गौतमीय न्यायभाष्य का भाषानुवाद किया है अतएव प्रथम भूमिका में उक्त सब विषयों की मीमांसा कर तदनन्तर न्यायशास्त्र के कर्त्ता गौतम, वात्स्यायन, आदि आचार्यों का समय, न्यायग्रन्थों की नामावली, सूत्र, भाष्य, वार्त्तिक आदि का विचार क्रमशः किया जावेगा। इति शुभम्।

उदयनारायणसिंह अनुवादक ॥

दर्शनशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय ॥

मनुष्य परमात्मा के ध्यान में (असम्प्रज्ञात योग) अवस्थान पूर्वक प्रमाण वृत्ति अवलम्बन कर जिन सब प्रतिपाद्य तत्त्वों का सिद्धान्त करता है वे सब तत्त्व एवं उस के प्रतिपादक प्रमाण जिस शास्त्र में लिपिबद्ध हों उसी को "दर्शनशास्त्र" कहते हैं। अवस्था विशेष के कारण चित्त निर्म्मल होने पर उस अवस्था में प्रतिभाशाली व्यक्ति की दृष्टि में "बाह्य" और "आन्तर तत्त्व" सब प्रतिभात हो सकते हैं। साधारण लोगों के पक्ष में उस प्रकार अतीन्द्रिय विषय प्रत्यक्ष नहीं होते ॥

जिन सब महापुरुषों के चित्त में इसप्रकार सत्य सब स्वतः प्रतिभात होते, वे निज कार्य्यों में उन सब सत्यों का विश्वास करते और उन में श्रद्धावान् होते हैं। किन्तु जिन लोगों का ऐसा स्वतः सिद्ध या योग अथवा साधन जात दृष्टि लाभ नहीं होता, उन के लिये इन सत्यों की उपपत्ति के लिये या उन सब सत्यों में विश्वास करने के लिये कोई विशेष कारण नहीं रहता। तब जितने समय वे लोग (साधारण लोग) इन सत्य द्रष्टा ऋषियों या महापुरुषों के ऊपर श्रद्धा रखते हैं, जितने समय तक इन के वाक्यों को "आप्तवाक्य" कहकर विश्वास करने में प्रवृत्ति रखते उतने समय तक—उन को किसी प्रकार का गोल योग संघटित नहीं होता।

लोक में जब नाना मुनियों के नाना मत देखने में आते और जब शास्त्रों में लिखा है कि "वेदाश्च भिन्नाः स्मृत्योविभिन्नाः" तब यह समझ में नहीं आता कि इन में से किस के मत का अनुयायी होना चाहिये, तब लोगों के मन में संशय उत्पन्न होता है। तब ज्ञानार्थी लोगों के मन में सत्य के खोज की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है–फिर जिज्ञासा का उदय होता है। इस जिज्ञासा या सत्यानुसन्धान के लिये "आप्तप्रमाण" के अतिरिक्त अन्य प्रमाण संग्रह कर उन के द्वारा सत्य स्थापना की चेष्टा किया जाती है। या कोई शास्त्र से विभिन्न मत युक्ति द्वारा सामञ्जस्य कर इस प्रकार मत स्थापना कर गोलमाल मिटाने की चेष्टा करते हैं। इस प्रकार चेष्टा का फल जिस ग्रन्थ में लिपिबद्ध रहता, वही "दर्शनशास्त्र" है मनुष्य द्रष्टा अवस्था में प्रमाण और *युक्ति अवलम्बन पूर्वक तत्त्वदर्शन करने की चेष्टा करता है इसी कारण इन ग्रन्थों का नाम "दर्शनग्रन्थ" है।

---

* आधुनिक दार्शनिक पण्डित सपनेहर कहते हैं कि – "A man becomes a philosopher by reason of a certain perplexity from which he seaks to free himself and the perplexity arises from the contemplation of the world.

इन दर्शनों में से वेदोक्त कर्मकाण्ड और ज्ञान के विभिन्न या आपात विरोधी मत समन्वय के लिये जो दर्शन शास्त्र हैं, उन को मीमांसा कहते हैं। और जिन तत्त्वों का स्पष्ट आभास वेद में नहीं पाया जाता परन्तु आप्त पुरुषों ने युक्ति प्रमाण से जिस ग्रंथ में उनका सिद्धान्त किया है, वह ग्रन्थ भी दर्शनशास्त्र है। 'सांख्य', 'न्याय' प्रभृति मीमांसा ग्रन्थ नहीं हैं। परन्तु ये भी दर्शनशास्त्र हैं।

दुःख निवृत्ति के लिये, सन्देह निरासनार्थ और ज्ञानालोचना या विज्ञानवृत्ति की चरितार्थता के लिये हम लोगों को तत्त्वसिद्धान्त करने का प्रयोजन पड़ता है। वेदान्तशास्त्र की आलोचना के लिये 'श्रवण,' 'मनन', और 'निदिध्यासन' आवश्यक है। प्रमाण और युक्ति अवलम्बन से वेदान्तादि ग्रन्थों से उक्त तत्त्वों का स्थिर करना ही "मनन" है। दर्शनशास्त्रों से इस मनन क्रिया में पूर्ण सहायता मिलती है।

श्रुति में लिखा है कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" (बृहदारण्यक, २ । ४ । ५) इसी लिये जिस शास्त्र द्वारा 'आत्मदर्शन' या 'ब्रह्मदर्शन' हो उस को "दर्शनशास्त्र" कहते हैं। [illegible] दर्शनशास्त्र का यही मुख्य अर्थ है। अतएव जिस में आत्म [illegible] आप्त ऋषि द्वारा उक्त धर्म संस्थापित हो, जिस में साधारण तत्त्व का विचारपूर्वक [illegible] करने में सहायता मिले, जिस में सन्देह दूर हो, जिज्ञासा का उत्तर मिले ज्ञान प्रवृत्ति की चरितार्थता हो, और, अन्त वहीं आर ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान हो, आत्म या ब्रह्मदर्शन हो, "दर्शनशास्त्र" है। दर्शन शास्त्र—ब्रह्म या आत्मज्ञान शास्त्र है।

दर्शन को अङ्गरेजी में "फिलासफ़ि" कहते हैं इस शब्द का मूलार्थ ग्रहण करने से यह समझा जाता है कि मनुष्य विद्या या ज्ञान के अभिमुख आकृष्ट हो उस ज्ञान या तत्त्व की प्राप्ति के लिये जो चेष्टा करता, उस चेष्टा की गति और फल जिस ग्रन्थ में निपिबद्ध हो, वही "फिलासफ़ि" है। सुतरां मूल अर्थ में दर्शन और "फिलासफ़ि" एक ही है। [illegible] दर्शन कहने से अन्तर्दृष्टि की जितनी प्रधानता समझी जाती, "फिलासफ़ि" कहने से उतना नहीं *। पाश्चात्य 'मेटा फिसिक्स्' कहने से, अनेक दर्शन शास्त्र समझे जाते हैं।

प्रसङ्गानुसार "दर्शन" और "विज्ञान" (२) में क्या भेद है सो कहा जाता है। हम लोग ज्ञानेन्द्रिय (चक्षु आदि पांच एवं मन) द्वारा जिन सब बाह्य और आन्तर विषयों का प्रत्यक्ष करते—एवं परीक्षा और पर्य्यालोचना द्वारा जो प्रत्यक्ष सत्य कह कर निश्चय करते और अनुमान आदि प्रमाण और युक्ति के

* जर्मन देश निवासी पण्डित काण्ट ने जिन को Transcendental philosophy कहा है वही दृष्टि मूलक प्रकृत दर्शन शास्त्र है। (२) – मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्प शास्त्रयोः। इत्यमरः।

बल से जिस तत्त्व का निश्चय करते, प्रत्यक्ष सिद्ध वस्तु का स्वरूप, गुण, क्रिया, जाति इत्यादि सम्बन्ध में जो नियम आविष्कार करते, वेही 'विज्ञान' के विषयहैं। विज्ञान केवल इस प्रत्यक्ष (भौतिक) सिद्ध पदार्थके तत्त्वोंकी आलोचना करता है। इसी प्रत्यक्ष ज्ञान से पाश्चात्य विज्ञान–अर्थात् प्राकृत विज्ञान की उत्पत्ति और परिणति है। इस ज्ञानेन्द्रियज प्रत्यक्ष को छोड़कर केवल शुद्ध ज्ञान स्वरूप में अपर एक विषय का प्रत्यक्ष होता है। वही प्रत्यक्ष सिद्धवस्तु आत्मा या परमात्मा है। इसी आत्मदर्शन कर लेने से आत्मज्ञान एवं ब्रह्मज्ञान लाभ होता है। सुतरां ज्ञान दो प्रकार का है। १–बाह्य-विज्ञान और २–आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान। हमारे ज्ञान में दो तत्त्व एक साथ प्रतिभात होतेहैं। १ ज्ञाता और २ ज्ञेय। इनमें से आत्मा ज्ञाताहै, और हमारे देह और बाह्य जगत् ज्ञेय हैं। यही बाह्य जगत् और देह सम्बन्धीय विज्ञान "बाह्य विज्ञान" है। "मनोविज्ञान" मूलदर्शन शास्त्र के अन्तर्गत नहीं है। यह विज्ञान शास्त्र का विषय है।

वेदान्त दर्शन। १। १। ४ सूत्र का भाष्य देखने से बोध होता है कि प्रकृति, ब्रह्म, आत्मज्ञान, ज्ञान का विषय है। आन्तर प्रत्यक्ष से ज्ञान में जो अनुभूति या दृष्टि होती है वही इस ज्ञान के अन्तर्गत है। इस ज्ञान का नाम तत्त्वदर्शनहै। सुतरां वस्तु स्वरूप दर्शन से (Perceptive knowledge) विज्ञान या विशेष ज्ञान होताहै; बाह्य विषय के स्वरूप दर्शन से प्राकृत विज्ञान होता है; और आन्तर विषय के स्वरूप दर्शन से आत्मज्ञान लाभ होता है।

दर्शन–विशेष ज्ञान का विषय नहीं–इस में तत्त्व प्रत्यक्ष या अनुभूत नहीं होता। तब दर्शनशास्त्र में प्रमाण और युक्ति या चिन्ता के द्वारा जो सत्य अनुमित होता, है उस का प्रत्यक्ष नहीं होता। इस प्रकार सत्य (Abstract knowledge) प्रधानतः दर्शनका विषयहै *। किन्तु अनेक स्थानों में दर्शनशास्त्र ने विज्ञान के अधिकार में प्रवेश किया है। विज्ञान भी अनेक

---

* जर्म्मन पण्डित स्वेगलर साहब (Schwegler) ने कहा है कि

"Philosophy is reflection, the thinking consideration of things By what does philosophy distinguish itself from those seince ?. .. not certainly by the defference of its matter. .. ....but its form by its method---so to speek by its mode of knowing ?

History of Philosophy P. 1.

पण्डित कुज साहब कहते हैं कि——

" Philosophy is the conplete developement of thought........(it) is the understanding and explanation of all things.

Cousin's History of philosophy, vol. 1 P. 23.

समय दर्शन के अधिकार में आपड़ाहै। (१) दर्शन और विज्ञान सम्बन्ध में और भी अनेक पार्थक्य हैं। उन में से दिगदर्शनमात्र हम यहां दिखलाते हैं। दर्शन की प्रमाण-प्रणाली और विज्ञान की प्रमाण-प्रणाली भिन्न २ हैं। दर्शन और-विज्ञान के आलोचित विषय भिन्न २ हैं। विज्ञान कहनेसे बाह्य विज्ञान ही मन में होता है। जो हो, इस समय देखा जाता है कि विज्ञान जगत्तत्त्व या कभी मनसतत्त्व की आलोचना करता है। दर्शन आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व ज्ञान के आलोचित विषय भिन्न २ हैं। विज्ञान जगत् तत्त्व या कभी २ मनस्तत्त्व आलोचना करता, दर्शनशास्त्र आत्मतत्त्व या ब्रह्मतत्त्व की मीमांसा करता है। विज्ञान समीप विषय की आलोचना करता, दर्शन असीम का अपता लगाता। विज्ञान बहुत्व का व्यापार ले कर व्यस्त रहता,-दर्शन इन बहुत्वों में एकत्व का अनुसन्धान करता है। विज्ञान कार्य की आलोचना करता,-दर्शन उस के मूल कारण का अनुसन्धान करता। विज्ञान प्रतिलोम युक्ति (Apostereosi)अवलम्बन करता, दर्शन अनुलोमयुक्ति (Apriori) अवलम्बन करताहै। विज्ञान इसकाल के सुखके वृद्धि या दुःखके ह्रास की चेष्टा करता, दर्शनशास्त्र मनुष्य को सुख दुःखके पारलेकर उसके सब बन्धनों को छुड़ा कर उसको नित्य आनन्द देना चाहता। विज्ञान इस काल की बातों पर विचार करता। विज्ञान जड़ और शक्तितत्त्व की आलोचना करता-दर्शन शक्तिमान् का अनुसन्धान करता है।

---

(१) जर्मन पण्डित इडवार उदग् मा|व कहते हैं कि——

Philosophy is the science of princeples.

History of Philosophy vol. 1. P. 1.

जर्मन प० दार्शनिक हार्कट साहब कहते हैं कि——

"Philosophy is the eleboration of conceptions

पण्डित हर्कट स्पेन्सर साहब कहते हे कि——

" Sceince is partially unifind knowledge.

Philosophy is completely unifind knowledge.

पण्डित सपनें हर नें कहा है कि ——

"Philosophy begins where science ends. Science cannot proeed from the known to un-known as every thing is unknown to philosophy. Philosophy is most general relational knowledge, the first princeples of which cannot be denied by other princeples ,,

पुनः अन्यत्र इन ने कहा है :

" Philosophy is the sum total of genral gudgements of that which is to be found in human consciousness.

Its taste is to state in the abstract the nature of the whole world and its parts. ,,

आधुनिक दर्शन अपने २ विषयों को छोड़ कर परस्पर एक दूसरे के विषय में हस्ताक्षेप करता है ।

अस्तु—हमें यहां दर्शनशास्त्र का आलोच्य विषय क्या है इस पर विचार करना है । दर्शनशास्त्र का प्रथम आलोच्य विषय—जगत् है । जिस समय मनुष्य को प्रथम ज्ञान प्रस्फुटित होता उस समय जगत् ही उस के ज्ञान में प्रतिभात होता है । जितने दिन जगत् का नियत परिवर्त्तन में नानारूप शक्ति या शक्तिमान् की क्रिया देख कर मन अभिभूत रहता, जितने समय उन शक्तियों को असीम जानता—इस जगत् को अनन्त असीम कह कर, हमारा ज्ञान उसे धारण नहीं कर सकता—जितने दिन जगत् को असीम कर हम अपने ज्ञान में उसे प्रवेश नहीं करा सकते उतने दिन तक "दर्शनशास्त्र" का आरम्भ होता नहीं । असीम और ससीम की सीमा का निर्धारण करना ही 'ज्ञान' का उद्देश्य है । ज्ञान राज्य की सीमा अतीत कर ज्ञानातीत का राज्य आरम्भ होता है । ज्ञान इस ज्ञानातीत के राज्य में प्रमाण और युक्ति बल से कभीं नहीं जा सकता । उस राज्य में जाने के लिये उपाय कभी स्थिर नहीं कर सकता । दर्शन, केवल ज्ञान और ज्ञानातीत के मध्य में सीमा क्या है, यह निर्धारण कर सकता है । किन्तु ज्ञान के क्रम विकाश के साथ ज्ञान की सीमा क्रमशः विस्तीर्ण होने लगता है, ज्ञानातीत का राज्य—अज्ञेय राज्य को जीत कर दर्शन, क्रमशः ज्ञान विस्तार करता है ।

ज्ञान की सीमा चाहे जितनी विस्तृतहो उसके पार में असीम का राज्य रहेहीगा । ज्ञानकी परिधि का पूर्ण विस्तार होने ही पर दर्शन शास्त्र शेष सीमा में उपनीत होताहै—उस के परे दर्शन को आगे चलने की क्षमता नहीं । उसके बाद ब्रह्मज्ञान का प्रयोजन होता है । यह 'ज्ञान' या 'आन्तरप्रत्यक्ष' मूल सत्य उपलब्धि का शेष उपाय है-यही दर्शन का शेष सिद्धान्त है । और इसी कारण "दर्शन" नाम की सार्थकता होती है । इस बात को यहां लिखने की विशेष आवश्यकता नहीं ।

मनुष्य पहिले सम्पूर्ण जगत् को ज्ञानकी सीमामें लाताहै । उस समय दर्शन का आरम्भ होताहै । उस समय इस ससीम जगत् के मध्यमें असीमका या ज्ञानातीत के राज्य का आरम्भहोता, कहां से इसका अनुसन्धान आरम्भ होताहै ? जगत् के ज्ञानकी सीमा कहां पर है ? इत्यादि को निश्चय करने के लिये 'दर्शन' आलोचना में प्रवृत्त होताहै । कारण की 'अनुसन्धानवृत्ति' मनुष्य की अत्यन्त

प्रबल होतीहै । यह प्रकृति ज्ञानका बीज, है । इस वृत्ति के न रहने से मनुष्य और पशु में कोई भेद नहीं रहता, इसी वृत्ति के वश से प्रथम इस प्रत्यक्ष जगत् के बीच जो नियत क्रिया देख पड़तीहै उस क्रिया का आधार क्या ? एवं उस का कारण क्या ? इन के अनुसन्धान करने में प्रथम वृत्ति होती है । इस अनुसन्धान के फल से ज्ञान के सीमा की वृद्धि होने लगती है । क्योंकि कार्य कारण के अन्तर्गत होताहै । कार्य की अपेक्षा कारण का परिसार अधिक है । इसप्रकार कारणके कारणको देखते २ एवं ज्ञानराज्यको बढ़ाते २ दर्शन अग्रसर होता है । जगत् में जिस नियम की शृङ्खला में ज्ञान की धारणा होती है; जिस नियम को अपरिवर्त्तनीय नित्य कह कर ज्ञानसिद्धान्त करता, उसी से कारण का अनुसन्धान सम्भव है । जिस स्थान में शेष कारण में उपनीत होता—यही स्थान ऐसे दर्शन के आलोचना की सीमावृद्धि है (१) उस से और अधिक पार नहीं जा सकती । इस स्थान में साधारणतः दर्शन का इस प्रकार शेष होता है । उस के परे ज्ञानातीत का राज्य है । यह ज्ञान की परिधि सब की समान नहीं होती । ज्ञान राज्य के विस्तार का सामर्थ्य सब का समान नहीं होता । इसी कारण विभिन्न दार्शनिकों का सिद्धान्त विभिन्न होता है । इसी कारण दर्शनों का मतभेद है ।

जो हो, जिस समय इस परिदृश्यमान जगत् का स्वरूप क्या है ? इस के जानने के लिये आकांक्षा होती है उस समय इस नियत गतिशील या परिवर्त्तनशील जगत् में कोई अपरिवर्त्तनीय सत्ता या उपादान है या नहीं, इस के जानने की इच्छा होती है । इस काल में स्थापित जगत् नित्य है या सृष्ट है? इस देशकाल का स्वरूप क्याहै ? इस के जानने का कौतूहल होताहै । जो लोग इस प्रकार जगत् के उपादान का अनुसन्धान करते हैं । उन में से कोई तो कहते हैं कि-जगत् की सत्ता है. परन्तु परिवर्त्तनीय आवरण में आवृत्त हो कर उस के स्वरूप को हम लोग उपलब्धि नहीं कर सकते । कोई कहता

(१) सपनेहर साहब कहते हैं [illegible]

" Becouse something permanent is present along wiht what changes (ie the permanent changes in form and quality with action) the idia of permanence (ie the idia of matter) first appears. Through space and time matter is reached as the possibility of co-existence and permanence.,, Matter is more than consation. Its true being is in action couse and effect constitute the whole, natur of matter."

है कि इस परिवर्त्तन को छोड़ कर जगत् की और कोई नित्य सत्ता नहीं है। कोई कहता है कि यह सत्ता जड़ है, और कोई कहता कि यह शक्ति है। किसी की ऐसी धारणा है कि इस नानारूप से प्रतीयमान जगत् में एक मात्र सत्ता ही है। कोई कहता है कि यह जगत् मूल पांचभूतों से गठित है, कोई कहता है कि इन पांचभूतों में एक मूल भूत है—अन्य चार सृष्ट हैं।

कोई आकाश को, कोई जल को, कोई अन्न या पृथिवी को मूल भूत या मूल उपादान मान कर निश्चय करते हैं। कोई कहता है कि परमाणु ही जगत् की मूल सत्ता है। कोई कहता है कि मूल परमाणु—एकरूप है। कोई कहता है कि बहुरूप है। कोई कहता है कि—यह प्रमाणु या भूत—चाहे जो जगत् की आदि सत्ता हो वही एक अनन्त मूलशक्ति का विकाशमात्र है। चाहे जो हो, जो लोग जगत् के मूल उपादान कारण का पता लगाते हैं,—उन का मत दो प्रकार का है। किसी के मत से जगत् का मूल उपादान जड़ है कोई कहता है कि यह मूल उपादान शक्ति है।

जगत् का मूल उपादान जो हो, वही जगत् का मूल कारण या उसी से जगत् की सृष्टि है यह धारणा होती है। इसी कारण कोई जड़ को, कोई शक्ति को जगत् का मूल कारण कहते हैं। और उस से जगत् की सृष्टि है, ऐसा निश्चय करते हैं। सब दार्शनिक इस प्रकार मूल कारण का रहना सिद्धान्त नहीं करते। जो लोग सिद्धान्त करते हैं कि कार्य के उत्पादन होने पर कारण का नाश होता और कारण से भिन्न धर्मयुक्त वे जगत् के किसी नित्य उपादान का रहना नहीं मान सकते। इसी कारण, बौद्धदर्शन में " शून्यवाद " और " क्षणिकवाद " आये हैं। जो लोग कार्य्य को कारण स्वरूप या रूपान्तर समझते हैं, जो लोग कार्य और कारण में एक ही सत्ता रहना स्थिर करते, वे ही लोग जगत् के मूल कारण क्या है? इसे जानने को प्रवृत्त होते हैं। इसी लिये कारण का स्वरूप क्या है यही सब दार्शनिकों को प्रथम सिद्धान्त कर लेना पड़ता है। इस विषय में और जानने की आवश्यकता नहीं।

अतएव जगत का मूल पदार्थ या मूल उपादान या नित्य सत्ता क्या है? और जगत् किस उपादान से उत्पन्न हुआ है? ये दोनों ही प्रश्न एक हैं। जगत् तत्त्व की आलोचना करने में कार्य से कारण का पता लगाना पड़ता है। और कारण का अर्थ क्या है, इसे—स्थिर करना पड़ता है। कारण का कारण क्या, है, यह भी युक्ति या प्रमाण द्वारा स्थिर कर लेना पड़ता है। इस प्रकार

अन्त में एक आदि कारण में जा पहुंचता है। तब चिन्ता इस आदि कारण के आगे नहीं जा सकती। इसी स्थान में असीम का राज्य आरम्भ होता है। अतएव कारण तत्त्व स्थिर करना और जगत् में कारण अनुसन्धान करना—इस समय के दार्शनिकों का प्रथम कार्य है। यही—दर्शनशास्त्र का प्रथम स्तर है।

कारण तत्त्व को अनुसन्धान कर दार्शनिक पण्डितगण प्रधानतः दो प्रकार के कारणों की उपलब्धि करते हैं। (१) एक निमित्त कारण और दूसरा उपादान। जगत् का उपादान या उपादान कारण क्या है, इस का अनुसन्धान कर लेने पर, जगत् का निमित्त कारण क्या है, इस का अनुसन्धान करना आरम्भ करते हैं। यही दर्शनशास्त्र का द्वितीय स्तर है। जो लोग जगत् तत्त्व आलोचना कर निमित्त और इस उपादान कारण को एक ही स्वीकार (सिद्धान्त) करते हैं,—वे लोग दर्शन के द्वितीय स्तर में आ नहीं सकते। पहिले कह चुके हैं कि जगत् का मूल या निमित्त कारण नाना प्रकार का है, जगत् नाना शक्ति का कार्य और नाना शक्तिमान् का आश्रयीभूत है, ऐसी धारणा जबतक रहती है तब तक इस विषय में कोई दार्शनिक तत्त्व निर्णय नहीं होता। जिस समय इस जगत् का एक निमित्त कारण उपलब्ध होता—तब ही यह तत्त्व आलोचना दर्शन शास्त्र का विषय होता है।

जगत् का निमित्त कारण आलोचना कर कोई कहता है कि उपादान और निमित्त कारण एक है, स्वतन्त्र नहीं। कोई उपादान को ही निमित्त कारण कहता, कोई निमित्त कारण को ही उपादान कारण कह कर सिद्धान्त करता है। कोई कहता है कि ससीम ,जगत के अतिरिक्त असीम ईश्वर ही जगत् का निमित्त कारण है, कोई कहता है कि जगत् का जड़ या शक्ति उपादान ही स्वतः सिद्ध शक्ति बल से यह निमित्त कारण हुआ है। कोई कहता है कि ईश्वर ही जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण है। जो लोग निमित्त और उपादान कारण अलग अलग सिद्धान्त करते, उन

(१)--जगत् मे शृङ्खला और नियम देख कर हीं निमित्त कारण का अनुमान होता है। हम लोग जिस प्रकार अपने किसी विशेष अभिप्राय या निमित्त मे किसी कार्य विशेष मे नियुक्त होते हैं—जैसे घड़ा के प्रयोजन में घड़ा धारण कर, उस की तैयारी करने के लिये मृत्तिका उपादान लेकर उस को घट रूप मे परिवर्त्तन करते हैं।—उसी प्रकार शृङ्खला बद्ध, सुनियन्त्रित जगत् किसी ने किसी अभिप्राय विशेष से या किसी निमित्त से इस को उपादान से प्रस्तुत किया है—ऐसी धारणा होने से निमित्त कारण का अनुमान होता है केवल उपादान स्वतः प्रवर्त्तित होकर बिना निमित्त से ऐसे 'कौशल पूर्ण जगत् की उत्पत्ति करना ऐसी धारणा नहीं होती। और निमित्त कारण अपने आप उपादान को सृष्टि कर सकता है, स्वय ही उपादान कारण होता है, ऐसी धारणा होती है॥

में से कोई इस निमित्त कारण को शक्तिमय कोई चैतन्यमय यह सिद्धान्त करतेहैं। इसप्रकार जगत् की तत्त्व आलोचना करते २ क्रमशः (१)ईश्वर तत्त्व की धारणा होती है। जगत् को ससीम सिद्धान्त कर, कब उस का असीम आधार ईश्वर-होता—यह स्थिर किया जाता है। फिर जगत् जो कठोर अपरिवर्त्तनीय नियम बल से चालित होकर क्रमशः परिणत होता है, यह सिद्धान्त कर जगत् के ज्ञानमय नियन्ता की कल्पना करना पड़ता है। इस प्रकार ईश्वर तत्त्व की आलोचना करना ही दर्शनशास्त्र का द्वितीय स्तर है।

इस प्रकार ईश्वर और जगत् तत्त्व की आलोचना करने के बाद दार्शनिक पण्डित क्रम से आत्मतत्त्व की आलोचना में प्रवृत्त होते हैं। हमारा स्वरूप क्या है, ? हमारे साथ ईश्वर का क्या सम्बन्ध है, ? और हमारे साथ जगत् का सम्बन्ध क्या है? इस के जानने के लिये दर्शन अग्रसर होता है। यही दर्शनों का तृतीय स्तर है। इसी स्तर में प्रधानता से आत्म—तत्त्व पर्यालोचित होता है। "यह मैं क्या हूं ?—मैं जान सकता—हूं ? मैं जगत् किस प्रकार जान सकता ? जगत् की इयत्ता कहां तक जानसकता ?- इसको स्थिर करनेकी चेष्टा होती है। मैं क्या उपादान से गठित हूं? या मैं नित्य हूं, या सृष्ट ?—मृत्यु होने में मेरा नाश होता है या नहीं? मैं जगत् के उपादान में गठित हूं?—क्या मेरी सत्ता स्वतन्त्र है ? या मैं जड़ का परिणाम हूं ? या कि चैतन्य की अभिव्यक्ति हूं ? ऐसे सिद्धान्त करने की प्रवृत्ति होती है। मेरे दुःख का परिणाम क्या है ?—मेरे सुख की चेष्टा की सीमा कहां है ?—मैं स्वाधीन हूं ? या प्रकृति की लीला युक्त हूं ? इस के जानने की आकांक्षा होती है। इस आत्मतत्त्व जानने की इच्छा से प्रकृत दर्शनशास्त्र की अभिव्यक्ति होती है—इसी पर दर्शन की मूल भित्ति स्थापित है।

इस आत्मतत्त्व के सम्बन्ध में आत्मा का स्वरूप क्या है, इस सम्बन्ध में नाना विधमत प्रचलित हैं। इस पर श्रीमान् शङ्कराचार्य्य कहते हैं कि:— " प्राकृत लोग अर्थात् ज्ञान चर्चा विहीन अज्ञ मनुष्य और चार्व्वाक लोगों ने निश्चय कर रक्खा है कि यह चैतन्य विशिष्ट देह ही आत्मा है। अर्थात् अहमास्पद। और उस की अपेक्षा किञ्चित् सूक्ष्म बुद्धि वाले कहते हैं

(१)—इन दो प्रकार की युक्तियों का अवलम्बन कर जिस ईश्वर तत्त्व में आजाताहैं, उन्हीं दो युक्तियोंको अङ्गरेजी में cosmological proof एव Theological या Physico-theological proof कहतेहैं। जगत् के उपादान कारण से मूल सत्ता की धारणा और उस से ईश्वर की धारणा Cosmological proof. है और निमित्त कारण से नियामक ईश्वर की धारणा ही Teleological proof. है।

कि इन्द्रिय समष्टि ही चेतन है सुतरां इन्द्रिय समष्टि ही आत्मा है। अन्य एक सम्प्रदाय का निश्चय है कि मन ही आत्मा है—मन भिन्न और कोई पृथक् आत्मा नहीं। और बौद्ध कहते हैं कि क्षण–विनाशी विज्ञान प्रवाह ही आत्मा है इससे पृथक् आत्मा नहीं। उन्हीं में से एक दूसरा सम्प्रदाय कहता है कि 'आत्मा कोई पदार्थ नहीं, न्यूनता ही का अपर नाम आत्मा है" तार्किक लोग कहते हैं कि आत्मा देहादि से अतिरिक्त और देहाश्रयी और संसरणशील है। यह संसरणशील आत्मा कर्म निग्रह का कर्त्ता और कर्म फल का भोक्ता है। अन्य सम्प्रदाय का सिद्धान्त है कि आत्मा अकर्त्ता है, अर्थात् वह कुछ नहीं करता प्रकृति का कर्तृत्व उस पर छायारूप से अनुक्रान्त होता है। इस लिये वह भोक्ता, करता नहीं। दूसरे लोग कहते हैं कि इस देहाश्रयी संसारी आत्मा को छोड़ कर अन्य एक स्वतन्त्र, सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् ईश्वर नामक आत्मा है। इस सम्बन्ध में इस पक्ष का मत यह है कि वही सर्वशक्तिमान् ईश्वर आत्मा ही भोक्ता का या संसारी आत्मा का आत्मा अर्थात् स्वरूप है।"

वेदान्त दर्शन के १।१।१ सूत्र के भाष्य पर इस प्रकार तत्त्व आलोचना करते २ दर्शन शास्त्र का तीन रूप स्तरों में अग्रसर होना दिखलाया गया है। और अन्त में दर्शन की पूर्ण परिणति होती है। परन्तु हमारे देश के दर्शन की परिणति का इतिहास आलोचना कर यह तत्त्व पाया नहीं जाता। क्योंकि हमारे देश में जिस समय दर्शन की प्रथम आलोचना हुई थी ठीक उसी समय का कोई विवरण नहीं पाया जाता। जिस समय यहां दर्शन धारावाहिकरूप से आलोचित होना आरम्भ हुआ था उसी समय दार्शनिक मत का विकाश हुआ था, ऐसा नहीं दीखता। वेदान्त दर्शन ही दर्शनशास्त्रों में प्रथम ग्रन्थ कह कर प्रसिद्ध होने पर भी उस समय सब तरह के दार्शनिक तत्त्व आलोचित हो कर सब तत्त्व आदि का इसप्रकार परिस्फुटित होना वेदान्त दर्शन ही से जाना जाता है। सुतरां हमारे देश के दर्शनशास्त्र की क्रमोन्नति का इतिहास पर्यालोचना कर यह तत्त्व पाया नहीं जाता। साधारणतः युक्ति अवलम्बन कर और युरोप के दर्शन शास्त्रों का इतिहास आलोचना करने से इस तत्त्व की सहज में उपलब्धि होती है। इसप्रकार दर्शन की क्रमोन्नति का कारण मानवदृष्टि की उन्नति है। अर्थात् मनुष्य पहिले बाह्य जगत् आलोचना करना आरम्भ करता–जितना ही ज्ञान के परिसर की वृद्धि होती है, उतना ही अन्तर्दृष्टि

स्पष्टतर होनेलगती। फिर अन्तर्दृष्टि से आत्मतत्त्व की आलोचना आरम्भ होती है। पहिले लिख आये हैं कि हमारे ज्ञान में दो विषय प्रतिभात होतेहैं एक ' अहं , और 'दूसरा इदं, या ' ज्ञाता और 'ज्ञेय, पहिले ही यह ' इदं , इस का तत्त्व में अतिरिक्त अन्यतत्त्व की आलोचना आरम्भ नहीं होती। इस आलोचना के परिणत होने पर 'अहं, तत्त्व के आलोचना का समय होता है उस के बाद ' अहं , और ' इदं , ये दो तत्त्व एकी भूत करके उसके ऊपर का तत्त्वज्ञान प्रतिभात होताहै। तब ही ब्रह्म आलोचना का समय आता है। जगत् से जो ईश्वर के धारणाकी बात कही गईहै। वह स्रष्टा ईश्वर की धारणा है। शङ्कराचार्य जी ने इसीको संसारी आत्मा छोड़-कर स्वतन्त्र सर्वशक्तिमान् ईश्वर कहा है। यह ईश्वर और ब्रह्म भिन्न हैं। जगत् तत्त्व से ईश्वर की धारणा होतीहै। किन्तु ब्रह्म की धारणा नहीं होती। ब्रह्म की धारणा ही दर्शन की शेष परिणति है और यही दर्शन का चतुर्थ स्तर है। आत्म तत्त्व आलोचना से यह ब्रह्म धारणा होती है (१)

जब दर्शनशास्त्र इसप्रकार पूर्ण परिणत होता है तब इस के आलोच्य विषय जगत् तत्त्व, आत्मतत्त्व; ब्रह्मतत्त्व और इन तीनों में सम्बन्धतत्त्व; अर्थात् जगत् के साथ जीव का सम्बन्ध, जगत् के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध, आत्मा के साथ ब्रह्मका सम्बन्ध, और जगत् का आत्मा और ब्रह्म इन तीनों के साथ सम्बन्ध, इस बात को और बढ़ा कर त्रिभुजाकार में समझाते हैं—कल्पना करो कि—
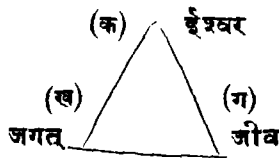
इस त्रिभुज के उच्चकोण पर ब्रह्म और नीचे वाले दो कोणों पर एक कोण में जीव, और दूसरे में जगत् को समझना। और इस त्रिभुज के एक २ रेखा को इन के बीच सम्बन्ध धारण करोगे। और जगत् और ब्रह्मका सम्बन्ध क, ख रेखा पर, जगत् और जीव का सम्बन्ध ख' ग रेखा में और ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध क, ग रेखा का अनुमान करोगे ॥ और ये ब्रह्म,

(१)--आत्म तत्त्व की आलोचना से जो ब्रह्म का सिद्धान्त होता है, इसी को अङ्गरेजी में Ontological proof कहते हैं ॥

जीव और जगत् और इन के बीच सम्बन्ध एकत्र इस त्रिभुज में धारण करोगे। यों समस्त दर्शन शास्त्र का आलोच्य विषय हम लोग समझ सकते हैं। कोई दार्शनिक केवल जगत् तत्त्व आलोचना करते हैं। कोई जीवतत्त्व आलोचना करते। और कोई जगत् और जीवके बीच सम्बन्धतत्त्वकी आलोचना करतेहैं। उस के बाद दार्शनिक पण्डित जब ब्रह्म तत्त्व पर–आते हैं तब ब्रह्म ही उन का आलोच्य विषय होता है। उस के बाद ब्रह्म और जीव का सम्बन्धतत्त्व या ब्रह्म और जगत् के सम्बन्ध तत्त्व की आलोचना का आरम्भ होता है। उस के पीछे दर्शन के शेष परिणाम में ये सब ही तत्त्व (क, ख, ग,) दार्शनिक पण्डितों के आलोच्य विषय में आजाते हैं।

इस स्थल में यह उल्लेख करना उचित है कि दर्शन के इन कई प्रतिपाद्य विषयों को छोड़ कर और भी एक अवान्तर विषय आलोच्यहै। यह विषय आत्मतत्त्व के अन्तर्गत है। केवल ज्ञेय और ज्ञाता का विषय या उनके तत्त्व आलोचना करने ही में दर्शन शान्त नहीं होता। ज्ञान का स्वरूप क्या? यह भी उस को आलोचना करना पड़ता है। ज्ञान का स्वरूप क्या, उस का प्रमाण क्या, किस उपाय से हमें जगत्, आत्मा, और ब्रह्मसम्बन्ध में ज्ञान लाभ होता है, ये भी दर्शन की आलोचना के विषय हैं।

किस प्रमाण का अवलम्बन कर ज्ञान उत्पन्न होताहै, किस प्रमाण के अवलम्बन से उल्लिखत तत्त्वों की इयत्ता जानी जाती है, प्रमाणद्वारा बुद्धि में किस प्रकार निश्चयात्मक ज्ञान उत्पन्न होताहै, प्रकृत तत्त्वज्ञान किस प्रकार एवं किस उपाय से प्राप्त किया जाता ये भी दर्शन के आलोच्य विषय हैं। ज्ञानस्वरूप को समझ कर–कहां तक अपनी शक्ति की क्षमता है यह समझ कर अपनी परिसर वृद्धि करने में और अज्ञेयता के राज्य में प्रवेश करने में चेष्टा करता है,। इसी कारण ज्ञानतत्त्व और प्रमाण तत्त्व की आलोचना करना भी दर्शन को प्रयोजन होता है। हमारे देश में इसी प्रयोजन से प्रधानतः न्यायदर्शन की उत्पत्ति हुयी है। युरोप में पूर्व समय में न्यायशास्त्र दर्शनों में नहीं गिना जाता था जर्म्मन दार्शनिक मि० काण्ट ने–असाधरण प्रतिभा से इसी न्याय को अपने दर्शन की मूलभित्ति करलियी है, उन के दर्शन में प्रधानतः यही ज्ञानतत्त्व आलोचित हुआ है।

जो हो सर्वावयव सम्पन्न सम्पूर्ण दर्शन शास्त्र में इन सब विषयों की आलोचना रहती है। जिन सब दर्शन शास्त्रों में इन सब विषयों की प्रकृत

आलोचना नहीं रहती वे सब ही दर्शनशास्त्र अपूर्ण या आंशिक हैं। हमारे देश में एकमात्र वेदान्त दर्शन में इन सब विषयों का तत्त्व पूर्ण-रूप से आलोचित हुआ है। इसी कारण वेदान्त पूर्णदर्शन है। वेदान्त छोड़ किसी दर्शन में ऐसा सर्वावयव सम्बन्ध नहीं है। वेदान्त दर्शन में आत्मतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व विशेष रूप से आलोचित हैं। इस में जगत् तत्त्व की भी आलोचना है। ब्रह्म और जीव का सम्बन्ध, ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध, जगत् और जीव का सम्बन्ध, इन सबही की मीमांसा कियी गयी है। मनुष्य किस प्रमाण से इन सब तत्त्वों में प्रवेश कर सकता, यह भी वेदान्त में इङ्गित किया गया है। अब आगे दर्शनों के परस्पर मत भेद का वर्णन होगा।

दार्शनिक-मतभेद ॥

सब ही कोई जानते हैं कि, „ आर्यदर्शनशास्त्र " में नाना मतभेद हैं। वैदिक सनातन धर्म की प्रकृति की जिन ने विशेष समालोचना कियी है, केवल उन्हीं लोगों ने इस मतभेद का कारण समझ कर उस धर्म की प्रकृति के साथ नाना मतभेद की विलक्षण संगति समझी है। दर्शनों में जो नाना मतभेद होंगे, सो विचित्र नहीं, मतभेद न होने ही से आश्चर्य बोध होता। मतभेद क्यों होगा? सो तो समझ में आता है; परन्तु न क्यों होगा, यह समझ में नहीं आता। यह बात सब के निकट युक्तिसिद्ध नहीं। इस बात की विरोधिनी युक्ति यह है-कि

वेद कहो, दर्शन कहो, सब ही ऋषि उपदिष्ट वाक्य हैं। ऋषिवाक्य कहने से आप्त वाक्य हुए। आप्तगण भ्रान्तिरहित होंगे। अभ्रान्त ऋषिप्रोक्त आप्त वाक्यों में मतभेद क्यों होगा? शास्त्र में आप्त लक्षण या लिखा है।

" आप्तःखलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा "। न्यायभाष्ये वात्स्यायनः १।१।७

पुनः

"आप्तो नामानुभवेन वस्तु तत्त्वस्य कार्त्स्न्येन निश्चयवान्।
रागादिवशादपि नान्यथावादी यः स इति चरके पतञ्जलिः॥"

मुञ्जुषा।

तात्पर्यः-जिन ने अनुभव द्वारा सब पदार्थों का तत्त्वज्ञान लाभ किया है। सुतरां सब ही तत्त्वों में जिन का अभ्रान्त ज्ञान उत्पन्न हुआ है। रागादि वशीभूत होकर भी जो अन्यथा वादी न हों, सुतरां सब ही अवस्था में जो सत्य

बोलें, वे ही "आप्त हैं" । ऐसे आप्त प्रोक्त शास्त्रों में मतभेद क्यों ? आप्त लोगों में यदि नाना मतभेद होवें तो उन में और सामान्य लोगों में भेद ही क्या हुआ ? क्योंकि सामान्य लोगो में तो मतभेद हुआ ही करता। इस विरोधिनी युक्ति का क्रमशः खण्डन किया जाता है।

हमारे ऋषियों में कोई स्वाधीन या स्वतन्त्र मतप्रणेता नहीं थे, उन सब ही महर्षियों ने वेदों की व्याख्यामात्र कियी है। वेदों में जो सब मत और साधन तत्त्व विभिन्न अधिकारियों के निमित्त निविष्ट हैं। उन में से एक २ ऋषि ने सब बातों को ग्रहण पूर्वक विशद रूप से स्थापन किया है।

"ब्रह्माद्या ऋषिपर्यन्ताः स्मारका नतुकारकाः"।

पुनः

" य एवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च

त एवायुर्वेदप्रवक्तानाम् "। न्या० भा० वात्स्यानः २।१।६८

शास्त्रों में लिखा है कि ब्रह्मा से लेकर जितने ऋषि हैं, सब ही वेद के स्मारक और अर्थद्रष्टा हैं, रचयिता नहीं हैं।

भगवान् यास्कमुनि(१)कहते हैं कि, ऋषिगण अतीन्द्रिय द्रष्टा थे, ये लोग तपोबल से सब वस्तुओं का तत्त्व साक्षात् (प्रत्यक्ष) कर सकते, इस लिये वे लोग "साक्षात्कृतधर्मा" थे। वे २ मन्त्रद्रष्टा ऋषि लोग जिस २ प्रकार स्वयं सिद्ध हुवे थे, उसी २ प्रकार लोगों ने सर्वसाधारण के लिये साधनपथ दिखलाया, है। भर्तृहरि कहते हैं कि

" ऋषीणामपियज्ज्ञानं तदप्यागमहेतुकम् ।"

अर्थात् "ऋषियों की सब ही ज्ञान वेदमूलक है।" माना कि सब ही ज्ञान वेद मूलक हैं, तो एक वेद से इतने मत भेद क्यों ? वेद में जब कि ऐसी भिन्नता का कारण है तो वह भिन्नता क्यों नहीं होगी ? (उत्तर) इस भिन्नता का कारण विभिन्न अधिकार है। भर्तृहरि ने इस मतभेद का कारण यों लिखा है:—कि

" तस्यार्थवादरूपाणि निश्रित्यस्वविकल्पजाः ।

एकत्विनांद्वैतिनांच प्रवादाबहुधामताः ॥" वाक्यपदीये ।

भाः—अर्थवाद के "अर्थवाद" ही से क्या द्वैतवाद, क्या अद्वैतवाद, दोनों ही मत प्रसूत हुए हैं। जो लोग अद्वैतभाव के अधिकार होने योग्य नहीं वे अवश्य ही द्वैतवादी हैं और उन के सब ही ज्ञान ऐन्द्रियक हैं। ऐन्द्रियक

(१)—निरुक्त नैगमकाण्ड ।

ज्ञान मात्र समल और सापेक्ष (Relative) भेद ज्ञानमात्र है । जितने दिन लोग, निर्म्मल (Absolute) ज्ञान में उपनीत नहीं होते, उतने दिन तक उन का ज्ञान द्वैतभाव सम्पन्न होता है । वे लोग किसी वस्तु का प्रकृत तत्त्व नहीं समझ सकते । उन की बुद्धि, ज्ञान और मन इसी ऐन्द्रियक ज्ञान के परतन्त्र होते हैं । ऐसी बुद्धि वाले लोगों का प्रयोजन विचार कर अनेक प्रकार के उपदेश की आवश्यकता ऋषियों को हुई । इस प्रकार प्रयोजनानुसार जिन उपदेशों की आवश्यक्ता हुई, वे ही वेद के अर्थवाद (१) हैं ।

"अद्वैतब्रह्मसिद्धि" में यह बात विशेषरूप से वर्णित है । "आर्यशास्त्रप्रदीप" कार ने उक्त ग्रन्थोक्त विषय की इस प्रकार व्याख्या कियी है कि—

"शास्त्र प्रकाशक मुनिगण भ्रान्त नहीं थे, उन के मतों को विचार से देखने पर परस्पर विरुद्ध मालूम होने पर भी कोई ऋषि तात्पर्यतः अन्य ऋषियों के विरोधी नहीं थे. "अद्वैतब्रह्मसिद्धि" में यही बात दिखलाई गई है । यदि यह कहो कि अद्वैतवाद ही सत्य है, तो द्वैतप्रतिपादन परक न्याय, वैशेषिक, आदि भ्रान्तमत स्थापक शास्त्रों द्वारा तत्त्वजिज्ञासुओं को क्या इष्टापत्ति होगी ? नहीं, ऐसा नहीं है, द्वैतप्रतिपादन परक ग्रन्थ निष्प्रयोजनीय नहीं हैं । न्याय, वैशेषिकादि द्वैतवाद संस्थापक पुरुष भी ऋषि थे, सुतरां उन को भ्रम हो नहीं सकता । यदि यह कहो कि ऋषियों को भी भ्रम होता था तो इतने कहने से भी तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध नहीं होगा । कोई भी ऋषि भ्रान्त नहीं थे । महर्षियों के अभिप्राय क्या थे उन को न समझ पाने ही से लोगों के मन में नाना विधि सन्देह हुआ करते हैं । थोड़ा विचार करने से समझ में आवेगा कि द्वैतप्रतिपादनपरक महर्षियों की आपात दृष्टि में विरुद्ध रूप से उपलभ्यमान मत सब विवर्त्तवाद पर्यवसित होते हैं । द्वैतप्रतिपादन परक शास्त्रकार लोग तात्पर्यतः अद्वैत ही वाद का आदर करते इसी मत को श्रेष्ठ मानते थे, इस के यथेष्ट प्रमाण पाये जाते हैं । तर्ककेशरी उदयनाचार्य ने अपने "आत्मतत्त्व विवेक के बौद्धाधिकार" में कहा है कि 'विवर्त्तवाद' ही सत्य है, इस में अणुमात्र सन्देह नहीं, किन्तु "अदरख के व्यापारी को जहाज की खबर से क्या गरज" इस कहावत की नाईं । अर्थात् उदायनाचार्य का मतलब यह है कि मैं द्वैतवादियों ही के लिये जिस कार्य में व्याप्त हुआ हूं तो इस में अद्वैतवाद की बात करना अनावश्यक है ।

(१) — देखो न्याय शास्त्र २ । १ । ६३ ।

इस समय बोध होता है कि हमारे दार्शनिक मतभेद ऋषियों की अज्ञता, बुद्धि विकृति, वा भ्रान्ति वशतः नहीं, किन्तु अज्ञ लोगों को ज्ञानपथ में लाने के लिये उन महानुभावों ने वेद के अर्थ का विशदरूप से समझाया है। इसी बात को आर्य्यशास्त्र प्रदीपकार कहते हैं कि सामान्य पण्डितों का मत अज्ञता निबन्धन होता है। दार्शनिक ऋषियों का मतभेद तो अज्ञ लोगों को शिक्षा देने के लिये है। दर्शनों की उत्पत्ति कैसे हुयी ? इस पर थोड़ा ध्यान देने से यह विषय और भी परिष्कृत हो जावेगा।

विज्ञान भिक्षु ने सांख्य के प्रवचन नामक भाष्य की विस्तृत भूमिका में सांख्यरूप से दर्शनों का विरोध भञ्जन कर दिया है। पहिले वह दर्शनों की उत्पत्ति सम्बन्ध में कहते हैं कि श्रुति में कहा गया है:—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि।

'श्रवण,' 'मनन,' और 'निदिध्यासन' द्वारा सदा आत्मा को साक्षात्कार करना चाहिये। आत्मा को साक्षात्कार करने के लिये ये तीन उपाय श्रुति में कहे गये हैं। आगे गुरु—उपदेश क्रम से समग्र वेद, श्रवण, अध्ययन और अभ्यस्त करे। सब वेदों से इस प्रकार आत्मतत्त्व सुनने पर, इस के बाद इस के सम्बन्ध में चिन्ता का प्रयोजन पड़ता है। चिन्ता एवं युक्ति की सहायता से वेदार्थ का तात्पर्य्य न समझ सकने पर उस का वेद पढ़ना ही व्यर्थ होता है। विविध प्रमाणों से परमात्मा की अनवरत चिन्ता करना ही "मनन" है। मनन से सब विषयों के तात्पर्य्य ग्रहण हो जाने पर योग मार्ग में पदार्पण करना आवश्यक है। मनन द्वारा परमात्मतत्त्व की धारणा के पीछे अभिप्राय और भी लगाकर प्रगाढ़ध्यान परायण होने का नाम 'निदिध्यासन' है।

वेदोक्त साधन पथ यही है। इस प्रकार साधन पथ अवलोकन करने पर, आत्म साक्षात्कार सम्भावित होता है। यह मार्ग जब तक अवलम्बित होता तब ही तक दर्शनशास्त्र का विचार विद्यमान रहता है। जितने समय पर्य्यन्त मनन का अनुष्ठान होता है उतने ही समय के लिये वैदिक "अर्थवाद" है। जितने समय तक वेद के प्रकृत तात्पर्य ग्रहणार्थ नाना प्रमाण पथ की चिन्ता और उपदेश विद्यमान हैं। दार्शनिक ऋषियों ने उन्हीं सब उपदेशों को सत्रूप से गांथा है; और वही एक २ दार्शनिक प्रस्थान में परिणत हुआ है। प्रस्थानों (ग्रन्थ) में प्रमाण पद्धति भी इसी कारण

स्वतन्त्र २ हुयी हैं। जिस ग्रन्थ का जिस प्रकार अधिकार है उस की प्रमाण-पद्धतियां भी उसी प्रकार भिन्न २ हैं ।

विज्ञानी भिक्षु कहते हैं कि कापिल सांख्य का अधिकार आत्मतत्त्व ज्ञान है, यह आत्मतत्त्व ज्ञान केवल विवेकोदय होने पर सम्भव होता है। इस पुरुषार्थ साधन पथ को दिखलाने के लिये भगवान् कपिल ने श्रुतियों का सार संकलन कर परमात्मज्ञान विषय में श्रुति की अविरोधिनी नाना उपपत्ति उपदेश कियी हैं। श्रवण द्वारा सांख्य ने जिन श्रुति वाक्यों को लिया है, वे श्रुतियां सांख्य के निकट आप्त वाक्य हैं। नाना उपपत्ति या अनुमान मूलक युक्ति द्वारा उन आप्त वाक्यों को जतलाने के लिये सुतरां सांख्य ने प्रत्यक्ष अनुमान इन दो प्रकार की युक्तियों का अवलम्बन किया है।

सांख्यकार ने इस लिये तीन प्रकार का प्रमाण माना हैः—१ शब्द, (आप्त वाक्य), २ अनुमान, और ३ प्रत्यक्ष। सांख्य का प्रतिपाद्य निर्गुण ब्रह्म, न्याय और वैशेषिक का प्रतिपाद्य सगुण ब्रह्म है। इसी कारण नैयायिकों ने और एक अधिक प्रमाण स्वीकार किया है। सामान्य वस्तु के तत्त्वज्ञान की उपमा देकर नैयायिक लोग ब्रह्म तत्त्व प्रतिपादन में प्रवृत्त हुए (१) निर्गुण ब्रह्म विद्या में सामान्य वस्तु तत्त्व की उतनी उपयोगिता नहीं है ऐसा समझकर कापिल सांख्य में वह गृहीत नहीं हुआ किन्तु सगुण ब्रह्मविद्या में उपमान अत्यन्त उपयोगी है।

वेदान्त और भी कई एक प्रमाण स्वीकार करता है, जिस कारण इसका अधिकार सगुण और निर्गुण दोनों ही में हैं। ब्रह्ममीमांसाकार पूर्णप्रज्ञ, माध्वाचार्य, वल्लभ, और रामानुज सगुण द्वैतवादी और शङ्कर निर्गुण अद्वैतवादी थे। सौगत और जैन लोगों ने आप्तवाक्य (शब्द प्रमाण) को अस्वीकार कर प्रत्यक्ष एवं अनुमान को ग्रहण किया है। चार्वाक लोग "प्रत्यक्ष" प्रमाण छोड़ कर अन्य कोई प्रमाण नहीं मानना चाहते। इसी कारण आप्त विरोधी नास्तिक "दर्शन" भी छः प्रकार के रचे गये हैं। चार्वाक दो प्रकार के, बौद्ध चार प्रकार के और एक जैन या अर्हत ये छः हैं। आप्तवाक्य मानने वाले आस्तिक दर्शन भी छः प्रकार के हैं।

१ न्याय वैशेषिक भेद से दो प्रकार का न्यायशास्त्र, सांख्य और

(१) – कापिल साङ्ख्य में नित्य ऐश्वर्य निराकरण के लिये सगुण ईश्वर का खण्डन है, कुसुमाञ्जलिकार उदयनाचार्य ने इसी प्रमाण बल से उस ईश्वर की स्थापना में प्रयास किया है। माधवाचार्य ने सर्वदर्शन सग्रह में इसी युक्ति का सार सङ्कलन किया है। वैशेषिक ने शब्द और उपमान ग्रहण कर अनुमान के भीतर रक्खा है।

पातञ्जलयोग भेद से सांख्य दो प्रकार का और पूर्व और उत्तर भेद से मीमांसाशास्त्र दो प्रकार का है। इस प्रकार आस्तिक दर्शन भी छः हैं। सगुण ईश्वर केवल कापिल सांख्य और पूर्व मीमांसा में प्रतिषिद्ध है। कपिल मुनि घोर ज्ञान वादी और जैमिनि मुनि घोरकर्मवादी हैं। एक इन में से ज्ञान द्वारा मुक्ति प्रयासी और दूसरे कर्म द्वारा मुक्तिप्रयासी हैं। सगुण ईश्वर को चाहे क्यों न माने ? आस्तिकदर्शनकारगण, नित्य वस्तु निर्गुण सत्ता परमात्मा को स्वीकार करते हैं। शुद्ध उपासना के निमित्त सगुण ईश्वर की प्रतिष्ठा है। आस्तिकदर्शन के विरोध-भञ्जनात्मक विज्ञानाचार्य का प्रसङ्ग इस समय अनायास उद्धृत किया जा सकता।

दर्शन में ज्ञान की एक सीमा निर्दिष्ट हुई है, वह सीमा इन्द्रिय और अतीन्द्रिय के बीच स्थापित है। ऐन्द्रियक ज्ञान वाह्य विषयों का द्वार स्वरूप है, मन और बुद्धि इस ऐन्द्रियक ज्ञान व्यापार में व्यापृत होकर जितनी दूर जा सके, उसी स्थान में यह सीमा स्थापित है। यह ज्ञान सापेक्ष (Relative) द्वैतज्ञान है। इसी निमित्त द्वैतवादी गण प्रकृत वस्तु के तत्त्वावधारण में असमर्थ होते हैं। प्रकृत वस्तु तत्त्व क्या है ? सो इस ज्ञान के परे है। योगी लोग कहते हैं कि इस के पार जाने का उपाय एक मात्र निरोध है। पातञ्जल योग-कहता है कि यह निरोध केवल चित्तलय करने पर संसिद्ध होता है।

चित्त सब ऐन्द्रियक द्वैत ज्ञान का संस्कार एक दम विलीन होने पर यह निरोध उपस्थित होता है। तब निर्मल और अखण्ड (Absolute) ज्ञान का विकाश होता है । निर्मल ज्ञान का विकाश होने पर सब वस्तु तत्त्व जाना जाता है, तब एक मात्र ब्रह्म ही प्रत्यक्ष हो सकता है। इस कारण इस ज्ञान का नाम 'केवल' या 'अद्वैतज्ञान' है। यही ज्ञान साक्षात् मुक्ति का साधक है। इस ज्ञान के प्राप्त होने पर जीव सर्ववित् होता, सुतरां उसे कुछ भी जानने की अपेक्षा नहीं रहती। योग शास्त्र में इस ज्ञान को पाने के लिये साधन बतलाये गये हैं। सांख्य में ईश्वर निरवलम्ब योग, पातञ्जल में ईश्वरावलम्बित योग का उपदेश है। श्रुति में भी कहा गया है। और हम ने पूर्व ही कहा है कि दार्शनिक लोग उसी श्रुति का अवलम्बन कर कहते हैं कि श्रवण, मनन, निदिध्यासन, ये ही प्रशस्त साधन पथ हैं। इन्हीं प्रशस्त साधन पथों में कर्म भक्ति, और ज्ञान सन्निविष्ट हुए हैं। श्रवण और मनन पर्यन्त सामान्य मानस ज्ञान की सीमा है, निदिध्यासन का अवलम्बन कर हम लोग योग पथ में अग्रसर होते हैं। मन को ध्यान में नियुक्त और निमग्न करना ही 'निदिध्यासन

है; उसी 'ध्येय' को श्रवण, अवधारण, निर्णय, प्रतिपक्ष, और अनुचिन्तादि द्वारा करना ही श्रवण और मनन का विषय है। यह ध्येय—दो प्रकार है, १ सगुण दूसरा निर्गुण। सगुण स्थूल और सूक्ष्म है। स्थूल से सूक्ष्म सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर में, सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम में जाना ही मनन और दर्शन का विषयहै। इस सूक्ष्म तत्वकी एक सीमाहै, जहां निर्गुण तत्त्व का आभास और अध्यास लाभ किया जाता है। उसी सीमा पर आ कर योगी लोग निर्गुण के ध्यान में अधिष्ठित होते हैं। सम्प्रज्ञात या सामान्य और सम्यक् प्रकार सविकल्पकज्ञान राज्य से असम्प्रज्ञात या संज्ञा हीन निर्विकल्पज्ञान-राज्य में प्रवेश लाभ करते हैं।

सम्प्रज्ञात से असम्प्रज्ञात योगराज्य में आने की अवस्था में योगियों को एक योगबल या ऐश्वर्यलाभ होता है, योगशास्त्र में इसी योगबल और ऐश्वर्य का विस्तार पूर्वक विवरण दिया गया है। (यो० शा० विभूति पाद) कोई २ योगीगण इस योगबल में आकर इतने मुग्ध हो जाते कि वह फिर निर्गुण ध्यान में प्रवृत्त नहीं होते। पीछे उन्हे इसी ऐश्वर्य में मुग्ध होना पड़ता है, इसी कारण कापिल सांख्य में उस ऐश्वर्य के प्रतिषेध के लिये सगुण ईश्वर की असिद्धि प्रमाणों से कियी गयी है, अन्य कारणों से नहीं! विज्ञानाभिक्षु कहते हैं कि—

"इस शास्त्रमें (सांख्यदर्शनमें) ऐश्वर्य वैराग्यके लिये ही ईश्वरवाद का खण्डन किया गयाहै। यदि बौद्धमतानुसार नित्य ऐश्वर्य प्रतिषेध न करो तो, परिपूर्ण, नित्य, निर्दोष, ऐश्वर्य दर्शनसे उसमें चित्त का अभिनिवेश होकर, विवेकाभ्यास का प्रतिबन्धक हो सकता हैं, यही सांख्याचार्य का अभिप्राय है"। अन्यत्र लिखा है कि—ईश्वर दुर्ज्ञेयहै' इसी कारण निरीश्वरवाद का व्यवहार हुआ है। और ऐसा होने ही से ऐश्वर्य वैराग्य सम्भावित होता है। यदि ईश्वर को मानो, तो नित्य ऐश्वर्य भी मानना पड़ेगा, सुतरां नित्य ऐश्वर्य में वैराग्य सम्भव नहीं"।

इसी कारण सांख्य में ईश्वर (सगुण) असिद्ध है। जो तत्वज्ञान और निर्गुण तत्वसांख्य का प्रतिपाद्य है, पीछे सांख्य योगियों का उसी तत्वज्ञान लाभ में व्याघात उत्पन्न होता है वही योगसिद्धि पक्ष में ईश्वरवाद असिद्ध है। विज्ञानाचार्य और भी कहते है कि—

" विशेषतः ब्रह्ममीमांसा ग्रन्थ में आदि से अन्त तक ईश्वर ही प्रतिपन्न हुए हैं। इस शास्त्र का ईश्वर प्रतिपादन ही मुख्य उद्देश्य है। उस के

उस अंश में वाधा पड़ने से शास्त्र ही का अप्रामाण्य हो जावे। जिस शब्द का जो उद्देश्य है वही उस शब्द का अर्थ है। ब्रह्ममीमांसा में केवल ईश्वर प्रतिपादन ही शास्त्रकर्त्ता को अभिप्रेत है। सांख्यशास्त्र में केवल पुरुषार्थ साधन आत्मसाक्षात्कार का उपाय स्वरूप प्रकृति पुरुष में विवेचना ही मुख्य उद्देश्य है। इसी निमित्त सांख्यशास्त्र को ईश्वर प्रतिषेधांश का वाध होने से उस का अप्रामाण्य नहीं होता। जिस कारण प्रकृति पुरुष विचार ही तत्त्वज्ञान और विवेक लाभ का उद्देश्य साधन सुनिश्चित है। जिस का जो उद्देश्य होता, उस का वही उद्देश्य सिद्ध होने पर उस वाक्य का प्रामाण्य कहाता है। अतएव सांख्यशास्त्र का अप्रामाण्य न हो कर ईश्वर प्रति षेधांश में अन्यान्य शास्त्रापेक्षा अवश्य दुर्बल कहना पड़ेगा।"

तब देखाजाताहै जो दर्शनकार जिस अधिकार में हैं, उस अधिकार का जो प्रयोजन है, उस प्रयोजन की सिद्धि के लिये उस का युक्तिपथ अवधारित हुआ है। सगुण ब्रह्म के प्रतिपादन में जो नियुक्त हैं, वे एक दम निष्प्रयोजन नहीं हैं; मोक्ष मार्ग में उन का भी गौणभाव से प्रयोजन है। विज्ञानभिक्षु के मतानुसार केवल सांख्यअपेक्षा ही उनकी अपकर्षता है। सांख्यज्ञान द्वारा परम ज्ञान उत्पन्न होताहै. सुतरां यही ज्ञान साक्षात् मोक्षका साधनहै। जिस ज्ञानका प्रतिपादन करना उन्हें प्रयोजन है वह ज्ञान परम्परा रूप से मोक्ष का साधन है। सांख्यशास्त्र के मत से यह सेश्वरवाद व्यावहारिक और ऐश्वर्य्य वैराग्य साधक है, निरीश्वरवाद पारमार्थिक है किन्तु दर्शनशास्त्र में सगुण ब्रह्ममीमांसा ही पारमार्थिक है—गौणभाव से पारमार्थिक है। सुतरां व्यावहारिक और पारमार्थिक विचार से क्या सेश्वरवाद क्या निरीश्वरवाद दोनों ही ने प्रयोजन सिद्धि के लिये उपयोगी कहकर दर्शनों में स्थान पाया है। एवं शुद्ध प्रयोजनानुसार परस्पर विरोधी हो कर खड़े हुए हैं। सेश्वरवाद कापिल सांख्य का विरोधी, और निरीश्वर वाद से श्वर दार्शनिकों का विरोधी है, इस लिये विज्ञान भिक्षु कहते है कि:—

"ब्रह्ममीमांसा और योगसूत्र कार नित्य ईश्वर को मानते है। सांख्य के मत से ईश्वर स्वीकृत नहीं है और ऐसे भी स्वीकार नहीं किया जाता, कि व्यावहारिक पारमार्थिक भेद से ईश्वर निरीश्वरवाद अविरुद्ध है"।

दार्शनिक प्रस्थान के प्रयोजनानुसार ये सगुण और निर्गुण वाद परस्पर विरोधी होने पर भी मोक्ष के लिये दोनों ही प्रयोजनीय हैं।

जो दर्शनकार सेश्वरवाद में नियुक्त हैं, उन ने उसी सेश्वरवाद के पक्ष का समर्थन किया है। पीछे निरीश्वरवाद द्वारा उन का प्रयोजन व्यर्थ होता है; इसी कारण निरीश्वरवाद के प्रति उन ने कटाक्ष पात कर अज्ञ लोगों को समझाने के लिये नाना कल्पनायें रची हैं। निरीश्वरवाद में भी उसी प्रकार किया गया है। अपने २ प्रयोजन सिद्धि के लिये दार्शनिक लोगों ने जो २ कल्पनायें रची हैं, उन में बहुत सी वेदविरुद्ध वृथा बात की भी आवश्यकता हुयी है। इसी कारण विज्ञान भिक्षु ने कहा है किः—

"पापियों के ज्ञान प्रतिरोध के निमित्त आस्तिक दर्शन में भी अंशतः श्रुति विरुद्ध—अर्थ व्यवस्थापित हुए हैं। इसी से उस २ अंश की प्रमाणता भी हो जाती है। जो २ अंश श्रुति स्मृति से अविरुद्ध हैं, वे ही प्राधान्यरूप से मुख्य विषय कह कर आदृत हुआ करते। शास्त्रमात्र में विरुद्ध और अविरुद्ध दोनों ही अर्थ विन्यस्त रहते हैं। उन में जो अंश श्रुति स्मृति विरुद्ध हैं उन को अप्रामाण्य समझ कर परित्याग करते और जिस अंश में श्रुति स्मृति अविरोधी हैं; वे ही प्रामाण्य जान कर ग्रहण किये जाते हैं"।

हमारे दर्शनशास्त्र में जो सगुण और निर्गुण ब्रह्मतत्त्व का प्रतिपादन किया गया है, सो हम ने पहिले ही कहा है कि विभिन्न यह अधिकारियों के निमित्त है। इन ज्ञानाधिकारियों को हमारे शास्त्रकारों ने तीन प्रधान श्रेणियों में विभक्त किया है—१ द्वैतज्ञानी, २ द्वैताद्वैतज्ञानी, और ३ अद्वैतज्ञानी। जब तक ऐन्द्रियक विषय ज्ञान प्रबल हैं, उतने समय तक हम लोग अद्वैतज्ञान के अधिकारी नहीं हो सकते। जब तक भेद ज्ञान (Relative knowledge) वर्त्तमान रहता, तब तक अभेद अपरिच्छिन्न निर्म्मल (Absolute) ज्ञान असम्भव है। सांख्य में यही बात कही गयी है। कापिल सांख्य में जो हम लोग अद्वैत वाद का निरास देखते हैं उस का कारण और कुछ नहीं। कपिल ने दिखलाया है कि द्वैतवादी के अनुमान तर्क से अद्वैतवाद सिद्ध नहीं होता। युक्ति और अनुमान से जिस प्रकार सगुण ब्रह्म असिद्ध है, अद्वैतवाद भी उसी प्रकार असिद्ध है। अनुमान से जो अर्जित नहीं हो सकता वह अनुमान द्वारा परिमेय नहीं होता. जो लोग अनुमान द्वारा अद्वैतवाद सिद्ध करेंगे, वे निश्चय ही विफल होंगे। शङ्कराचार्य्य ने उसे केवल श्रुति—शासन से अद्वैतवाद स्थापन किया है। अनुमान से यदि अद्वैतवाद सिद्ध होता, तो सब ही लोग विन परिश्रम अद्वैत ब्रह्मज्ञानी हुआ करते। तब कष्ट साध्य योगपथ की आवश्यकता भी न होती।

सामान्य अनुमान और तर्क से अखण्ड अद्वैतज्ञान असिद्ध कहकर, उस के लिये स्वतन्त्र पथ बतलाया गया है। वही स्वतन्त्र पथ "पुरुषार्थ साधन" है। इस पुरुषार्थ साधन द्वारा विवेकोदय होने से आत्मा साक्षात् कार होता है। इस से पहिले अद्वैत ब्रह्मज्ञान असम्भव है। आत्मसाक्षात् कार होने पर तब सब ही ब्रह्ममय हो जाता है उस समय सब ही "एक मेवाद्वितीयम्," सुतरां आत्मज्ञान भिन्न जिस समय अद्वैतज्ञान असम्भव है, उस समय अनुमान द्वारा उस अद्वैत वाद का स्थापन करना व्यर्थ है। सांख्यशास्त्र में जब आत्मज्ञान ही प्रतिपाद्य है, तब अनुमान से अद्वैतवाद का निरसन कर उस अद्वैतज्ञान का प्रकृत मार्ग दिखलाना ही जो उस उद्देश्य का साधक कहें, तो इस में सन्देह क्या है ? यही बात विज्ञान भिक्षु कहते हैं कि–

" जिस शास्त्र का जो विषय उद्देश्य है उस शास्त्र का उस विषय में वर्णन करने ही से उस शास्त्र में सप्रमाण एवं अविरुद्ध कहना पड़ता। अंशतः कोई निन्दित विषय रहने से शास्त्र को निन्दित नहीं कह सकते। यदि कहो कि सांख्यशास्त्र में बहु पुरुष माने गये हैं, वह अंश अवश्य निन्दनीय है, तो वह अंश निन्दनीय नहीं हो सकता।

जीव का इतर ज्ञान ही सांख्यशास्त्र का प्रधान प्रयोजन है, उस प्रयोजन की सिद्धि या अर्थ की बाधा होने से, उस को अप्रामाण्य कहा जा सकता है। नाना विधि श्रुति में आत्मा का नानात्व और एकत्व वर्णित है। आत्मा का नानात्व व्यावहारिक और एकत्व पारमार्थिक है सुतरां व्यावहारिक और पारमार्थिक ज्ञान से नानात्व और एकत्व दोनों सिद्ध और अविरुद्ध हैं। व्यावहारिक ज्ञान से नानात्व प्रतिपादित होने पर भी प्रकृत पक्ष में आत्मा का एकत्व ही सुसिद्धान्त है। ये सब विषय हम ने ब्रह्ममीमांसा में विशेष वर्णन किया है। "

विज्ञानाचार्य्य जिस प्रकार साङ्ख्य के भाष्यकार हैं उसी प्रकार वेदान्त सूत्र के माध्वभाष्य पर–ब्रह्ममीमांसा के भी वृत्तिकार हैं। ब्रह्ममीमांसा में पूर्णप्रज्ञ माध्वाचार्य्य ने द्वैतवाद ही का प्रतिपादन किया है, किन्तु द्वैतवाद प्रतिपादन किया है इस कहने से " निर्गुण ब्रह्मवाद " को एक दम विरुद्ध नहीं कहा है। वह निर्गुण ब्रह्मवाद उन के विषय के अन्तर्गत नहीं है। जब तक जीव का विषय ज्ञान नष्ट नहीं होता, तब तक वह द्वैतज्ञानी हो यह भेद ज्ञान जो एक दम तिरोहित होता ऐसा सम्भव नहीं। जीव जितना ही ध्यान-

परायण होता है, उतनः ही उस का मन सूक्ष्म विषयों में लगता है। स्थूल ऐन्द्रियक ज्ञान की जितनी सूक्ष्मता सम्पादित होती, उतना ही अद्वैतज्ञान का आभास भीतर उदित होता है । सादि ज्ञान से अनादि का आभास, ससीम से असीम का आभास अनित्य से नित्य का आभास, बहुत से एक का आभास परिवर्त्तनशील जगत् और ज्ञेय से एक मात्र नित्य, अपरिवर्त्तनीय, अज्ञेय का आभास, अनित्य नाम रूप से अनाम और अरूप का आभास प्रभृति जितना अद्वैत के आभास के अन्तर सञ्चारित होने लगते, और जितना हीं वह आभास अन्तर में प्रगाढ़ता लाभ करता, उतना ही भेदज्ञान क्रमशः सूक्ष्मता को प्राप्त होकर परम सूक्ष्म पदार्थ में चित्त सन्निवेशित होने लगता है। स्थूल से इस प्रकार सूक्ष्म ज्ञान का आविर्भाव और प्रगाढ़ संस्कार उत्पन्न होने से जो अभेद का आभास अध्यासित होता है, वही क्रमशः भेद प्रतिबंधक हो उठता है । ऐन्द्रियक ज्ञान की सीमा यहीं पर्यन्त है। युरोपीय सूक्ष्म दर्शन की भी यही सीमा है। यही द्वैताद्वैतवाद भेदाभेद ज्ञान है।

हमारे शास्त्रकार तत्त्वदर्शी इस भेदाभेद ज्ञान पर्यन्त जाकर ज्ञान के मार्ग में एक दम रुक नहीं गये, वे और भी अग्रसर हुये । जिस मार्ग से इस सीमा को पार कर गये, वही समाधि-पथ है। युरोपीय तत्त्वदर्शीगण, इस के मूल में भी नहीं आना चाहते: आना नहीं चाहते क्या इस पथ का अब तक उनने अनुसन्धान ही नहीं कर पाया। जो कुछ उन ने सुना है, उस को सुनकर हतबुद्धि होकर उस को (Mysticism) कहा है। ये तीन प्रकार मतानुयायी, रामानुज ने वेदान्तसूत्र पर भाष्य किया है । उन ने अपने भाष्य में उक्त तीनों मत दिखलाया है । अधिकार भेद से ये तीनों पथ प्रामाणिक हैं। जो लोग नितान्त स्थूलदर्शी हैं, उन के लिये द्वैतज्ञान, जो लोग ऐन्द्रियकज्ञान की सूक्ष्मता साधन में तत्पर हैं, उनके लिये 'द्वैताद्वैत' या 'भेदाभेदज्ञान' और जो लोग निर्गुण परमात्मा के दर्शन के आकांक्षी हैं, उन के लिये अभेद अद्वैत ज्ञान यथार्थ हैं। सर्वोपनिषद् के अनुसार रामानुज ने भगवान् बौधायन आचार्य्य की ब्रह्मसूत्र की वृत्ति को आलोडन पूर्वक शारीरक भाष्य को प्रणय कर विशिष्टाद्वैतवाद विवृत किया है।

भेद, भेदाभेद और अभेद ज्ञानानुसार जिस प्रकार वेदान्त के तीन प्रकार प्रस्थान की उत्पत्ति हुयी है। पाशुपत दार्शनिकगण भी उसी प्रकार द्वैत और अद्वैत प्रस्थान में विभक्त हैं । माधवाचार्य्य ने जो 'शैवदर्शन' नाम से

बतलाया है वह मत द्वैत प्रस्थान, 'प्रत्यभिज्ञा' और रसेश्वर दर्शन अद्वैत प्रस्थान हैं।

द्वैत, द्वैताद्वैत और अद्वैतज्ञान, अधम, मध्यम और उत्तम (क्रम से) अधिकारियों के निमित्त हैं। द्वैतज्ञानी की ज्ञाना लोचना जितनी सूक्ष्मता में आती, उतना ही वे द्वैताद्वैत भाव से परिपूर्ण हुआ करते। हमने पहिले ही कहा है कि इस सूक्ष्म ज्ञान में हम लोग अद्वैत से बहुत दूर आभास पाते हैं। ससीम से क्रमशः असीम, सान्त से क्रमशः अनन्त हो उठते हैं। वास्तविक विचार करने के अनन्तर कभी सांशत्व या सान्तभाव सम्भावित नहीं होता तब जो हमारे निकट सब ही वस्तु सान्त और ससीम रूप से प्रतीत होते, सो केवल हमारे मायिकज्ञान का दोष है। मायिक ज्ञान से छिप कर हम लोग अनन्त ज्ञान को सम्यक् उपलब्ध नहीं कर सकते; पलब्ध नहीं कर उस के विचार के लिये इस मायिक ज्ञान की सहायता एकान्त आवश्यक होती है। मायिक ज्ञान से हम लोग ससीम और सान्त की उपलब्ध कर, तब उस सान्त और ससीम के बीच अनन्त को विचार करने में समर्थ होते हैं। यही समझाने के लिये ब्रह्मसूत्र में लिखा है कि:—

"बुद्ध्यर्थः पादवत्। वेदान्तदर्शन" ।३।२।३३

शङ्कराचार्य्य कहते हैं कि "बुद्ध्यर्थ" उपासनार्थ है। सामान्य ज्ञान से लाने के लिये श्रुति में उस अनन्त की पाद कल्पना कियी गयी है। अपरिमेय को परिमेय रूप से निर्देश किया है। वास्तविक अनन्त निर्गुण सत्ता की मायिक त्रिगुणात्मक कोई अंश या खण्ड सम्भावित नहीं; किन्तु हमारा मायिक ज्ञान भी अखण्ड नहीं। खण्ड ज्ञान में अखण्ड की भावना ही उपासना का अङ्ग है। पुनर 'बुद्ध्यर्थ' अर्थ से जानना एवं उपासना अर्थ समझा जाता है।

ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त में अखण्ड और निर्गुण ब्रह्म के इस प्रकार पाद कल्पित हुए हैं।

"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"

"त्रैकालिक भूत समुदाय रूपी यह जगत् उस विराट का एक पाद मात्र है। अवशिष्ट और भी तीन पाद हैं, वे अमृत स्वरूप हैं। वह अमृतात्मा पादत्रय, इस को प्रकाशस्वरूप से अवस्थित हैं।"

शङ्कराचार्य्य कहते हैं कि इस श्रुति में जो ब्रह्म की पाद कल्पना दीख

पड़ती है सो केवल सामान्य ज्ञान में उस विराट को लाने के लिये है।

क्या ब्रह्म मीमांसा, क्या अद्वैत शाङ्करभाष्य, सब ही मत में श्रुति का प्रतिपाद्य निर्गुण और अखण्ड ब्रह्म ही गृहीत हुआ है; केवल उपासनार्थ उस के रूप, नाम, कल्पित हुए हैं। सामान्य में उस का केवल ध्यान करना कहा गया है। इस सामान्य ज्ञान का ध्यान अवलम्बन कर उपासना पथ में भक्त अग्रसर होकर उस के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतर से सूक्ष्मतम ज्ञान को प्राप्त होते हैं। द्वैताद्वैत ज्ञान की चरम सीमा में आकर भक्त लोग सगुण ब्रह्म उपासना में सिद्ध होते हैं। यही सगुण ब्रह्म का ध्यान एवं उपासना क्रम २ से किस प्रकार उत्थित होती है, इस को रामानुज कहते हैं कि:—

" अर्च्चा या प्रतिमादि की उपासना करने से दुरित राशि विदूरित और उस की सहायता से विभव या ऐश्वर्य्योपासना में अधिकार होता है पश्चात् व्यूह की (अनिरुद्ध, प्रद्युम्न, सङ्कर्षण, और वासुदेव ये ही चतुर्व्यूह युक्त ब्रह्मोपासना) उपसना में अधिकारी हो जाते हैं। तदनन्तर सूक्ष्म की उपासना में सामर्थ्य उत्पन्न होता है। पीछे अन्तर्यामी को साक्षात्कार करने की शक्ति समुद्भूत हो जाती है। यह ध्यान किस प्रकार सञ्जात होता सो रामानुज कहते हैं —

" ध्यानञ्च तैलधारावदविच्छिन्नस्मृतिसन्तानरूपा " *

तैल—धारा की नाईं अविच्छिन्न स्मृति परम्परा स्मृति के आविर्भाव का नाम 'ध्यान' है। स्थूल जगत् में भगवान् की जो स्थूल प्रतिमा प्रतिबिम्बित है, उसी स्थूल प्रतिमा की भावना क्रम २ से सूक्ष्म ईश्वर में समुत्थित हो जाती है। इस सूक्ष्म सगुण ईश्वर की भावना में क्रम से ब्रह्म का विभव या ऐश्वर्य भावना और ज्ञान स्रोत हृदय में उगने लगता है। उस के बाद वह भावना ही धारा तेल की धारा की नाईं भगवान् सूक्ष्मतर चतुर्व्यूह को भेद करता है। सूक्ष्म और सम्पूर्ण षड्गुण विशिष्ट वासुदेव हृदय में ध्यानस्थ होने पर अन्तर्यामी परमात्मा के ध्यान से चित्त संयोजित होता है। ब्रह्मध्यान के इस पर्यायानुसार जो स्मृति या भावना परम्परा तैलधारावत् अविच्छिन्न रूप से अनुभूत होती, वही ध्यानरूप से निर्दिष्ट हुआ है। रामानुज ने सगुण सूक्ष्म का इस प्रकार ध्यान बतलाया है। यहां द्वैताद्वैत ज्ञान परिसमाप्त हो गया

* [illegible]

क्योंकि रामानुज कहते हैं कि, यहां भक्त "शेषरूपी ब्रह्म में लीन हो कर सब अभीप्सित सिद्धि सम्भोग करते हैं"।

रामानुज का यह ध्यान गीता में अभ्यासरूप से विवृत हुआ हैः—

"अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसानान्यगामिना।
परमंपुरुषंदिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्" अ० ८। श्लो० ८

"हेपार्थ! अभ्यास योगयुक्त अर्थात् पुनः पुनः स्मरण रूप योगयुक्त-योगी एकाग्रचित्त से दिव्यपरमपुरुष को स्मरण करते करते उस परम पुरुष को लाभ करते हैं" एकाग्र चित्त से इस प्रकार भगवान् को स्मरण करते२ अन्त में किस प्रकार शेषरूपी ब्रह्म में लीनता होती है, सो भी गीता में कहा हैः—

"सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्रसमदर्शिनः" ॥ अ० ६ श्लो० २९।

"योगाभ्यास से जिस का चित्त समाहित हुआ है और जो सब जगह ब्रह्म ही को देखते हैं, वह समाहित समदर्शीयोगी ब्रह्मादि स्थावर पर्यन्त सब प्राणियों में आपको और आपमें उन सम्पूर्ण भूतमात्र का दर्शन करते हैं।"

जीव जब द्वैताद्वैत ज्ञान से ब्रह्म भावना में ध्यानस्थ ब्रह्म में लीन होते (अविच्छिन्न रूप से लीन होते) तब उन की समाधि अवस्था होती है इस प्रकार समाधिसम्पन्न जीव क्रम से निर्गुण ध्यान में अधिकारी होता है। द्वैतज्ञानी के चित्त में सगुणब्रह्म ही प्रतिपादित है, निर्गुण के ज्ञान से वह अन्ध है इस सगुण का ध्यान जितने सूक्ष्म से सूक्ष्मतम होता क्यों न जावे, वे सब ही ज्ञान, साकार या मूर्त्तज्ञान हैं। इस कारण आर्यशास्त्र में उपासना दो प्रकार की कही गयी है, साकार और निराकार, समस्त ध्यान ही साकार हैं, केवल एक मात्र निर्गुण का ध्यान निराकार है। गीता के १२ वें अध्याय में ये दो प्रकार उपासना कही गयी है। रामानुज जी ने जो निदिध्यासन की बात कही है, सो सगुण ईश्वर ध्यान सब ही मूर्त्तध्यान हैं। रामानुज की साकार उपासना पर्याय क्रम से इस प्रकार निर्दिष्ट हो सकती है— उपासना १ स्थूल साकार २ मानसिक साकार, और ३ सूक्ष्म साकार।——

(१) स्थूल साकार ।

अर्चा या प्रतिमादि । विभव. या रामादि अवतार।

(२) मानसिक साकार, या चतुर्व्यूह । *

अनिरुद्ध । प्रद्युम्न । सङ्कर्षण । वासुदेव ।

(३) सूक्ष्म साकार

सूक्ष्म वासुदेव । अन्तर्यामी ।

इसी ध्यान के पर्याय में Herbert Spencer ने ऐसा लिखा है कि:-

"The coalescence of Polytheistic conceptions into the Monotheistic conception and the reduction of the Monotheistic conceptions to a more and more general form in which personal superintendence becomes merged in universal immanence"

First Principles.

सम्पूर्ण देवताओं का ध्यानरूप एक ब्रह्म के ध्यानरूप में और वही ब्रह्मरूप विधाता-विश्वव्यापी. अन्तर्यामी. परमात्मा में विलीन होता है। वही भी गीता में लिखा है-

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः" ॥ अ० ४ श्लो० ११ ।

यह साकार उपासना ही ध्यान मार्ग की शेष सीमा नहीं है । साकार उपासना से द्वैतज्ञानी क्रमशः द्वैताद्वैत भाव को पहुंचने से अद्वैत ज्ञान के अधिकारी होते हैं । उस समय उन की अविच्छिन्न भावना या स्मृति परम्परा शेषरूपी ब्रह्म में लीन होने से, वे निर्विशेष ब्रह्मध्यान के अधिकार

* भागवत स्कन्ध ३ । २६ अध्याय देखो ।

में पहुंचते हैं। इस ब्रह्मध्यान में उन्हें "निर्विशेष" होना पड़ता है। रामानुज ने जहां साकार उपासना का शेष किया है, उस स्थान से सांख्य शास्त्र का अधिकार आरम्भ होता है। रामानुज ने भी जो, अधम, मध्यम अधिकारियों के लिये निदिध्यासन और ध्यानयोग बतलाये हैं। सांख्य ने उस का परिशेष कर समस्त समाधिपथ सम्पूर्ण कर दिया है। इस ध्यानपथ के द्वैताद्वैत सीमा के बाद ही अद्वैतसीमा का प्रारम्भ होता है। सांख्य का अधिकार इसी निर्गुण का ध्यान है। वही रामानुज ने जो ध्यान के लक्षण दिये हैं, सो अद्वैत ज्ञान मूलक निर्विषयक ध्यान—लक्षण से भिन्न हो गया है। सांख्य का ध्यान निर्विषयक है, मन को विषय से प्रत्याहृत करना ही उद्देश्य है। चित्त में संसार बीज मूल ही न रहे, इस उद्देश्य से निर्गुण की समाधि है। वही निर्विषयक, निर्विकल्प और निर्बीज समाधि के लक्षण कपिल देव ने इस प्रकार कहे हैं—"ध्यानंनिर्विषयंमनः"। अ० ६ सू० २५।

रामानुज और कपिलदेव के ध्यान लक्षण में आपततः वैषम्य दीख पड़ता है। किन्तु जिस समय हम लोग इस प्रकार अधिकार भेद देखते हैं, तब ही हम समझ सकते हैं कि, उस मतभेद का कारण क्या है?

ऐसे 'वैषम्य, को मतभेद कहना अन्याय है। उन लोगों ने एक ही मार्ग के विभिन्न देश के विभिन्न धर्म निर्णय किये हैं। ध्यान पथ की विभिन्न अवस्था में धर्म कभी एक हो नहीं सकता। सुतरां उनके ध्यान लक्षण अवश्य ही भिन्न होंगे। एक व्यक्ति तरुण वयस्क और एक वृद्ध व्यक्ति के चित्त कभी समान हो नहीं सकते।

रामानुज का ध्यान भगवान् के शेष (अनन्त) रूप में डूब कर विलीन हो गया है। यहां ध्यान तीव्र होने से सालोक्य को प्राप्त होता है। और अधिक तीव्र होने से 'सामीप्य' एवं अधिक तम तीव्र होने पर 'सारूप्य, सिद्ध होता है। किन्तु जब जीव 'सारूप्य' पाकर एकदम भगवत की सत्ता के शेषरूप में निमग्न हो कर विलीन होता, तब उसे 'सायुज्य' मुक्ति होती है। सगुण ब्रह्म के ध्यान मार्ग से इन शेष रूपी भगवान् में विलीन होना ही शेष सीमा है। तब तीव्र ध्यान में ब्रह्म का दर्शन घटता है। उस के बाद सांख्योक्त 'निर्वाण' मुक्ति होती है। जहां जीव अनन्त में विलीन होता, वहां भी सांख्य कहता है कि 'इस समय जीव प्रकृति के त्रिगुण से निर्मुक्त नहीं हो सकता। कारण यह है कि अनन्त में भी त्रिगुण रहते हैं। अनन्त मूल प्रकृति की प्रधान मूर्त्ति है' सांख्य में वह 'महत्तत्त्व' या 'महान्'

करके कहा गया है। इसी सूक्ष्म ज्ञानमय महत्तत्त्व से चिन्मय निर्गुण पुरुष में उपनीत होजाने से "निस्त्रैगुण्य" * साधन करना पड़ता है। इस 'निस्त्रैगुण्य' के सिद्ध होने पर त्रिगुणातीत पुरुष का साक्षात्कार होता है, इसी साक्षात्कार का नाम 'आत्मसाक्षात्कार' या 'परमपुरुष या 'परमात्मदर्शन' है।

इस आत्मसाक्षात्कार होने की दो अवस्थायें हैं, एक सगुण ईश्वर का 'ध्यानपथ' दूसरा सांख्योक्त 'तत्त्वज्ञान'। श्रीरामानुज, महर्षिपतञ्जलि, म० गौतम, म० कणाद, प्रभृति सगुण ब्रह्मवादिगण सगुण ईश्वर के ध्यान-पथ में गौनभाव से "अद्वैतब्रह्मसिद्धि" में पहुंचते हैं। कापिलसांख्य सगुण ऐश्वरिक ध्यान निरपेक्ष केवल प्रकृति-विवेक-सिद्ध तत्त्वज्ञान से, उस योग-सिद्धि को प्राप्त करना चाहते हैं। यहां सांख्ययोग से अन्य योग की अभिन्नता है। सगुण ईश्वर-ध्यान कहां आकर सांख्य योग के साथ मिल गया, सो हम लोगों ने समझा। सांख्य-योगियों के साथ अन्यान्य योगियों का प्रभेद यह है कि सांख्य-योगिगण प्रकृत-तत्त्व दर्शन में सगुण ईश्वर की मूर्त्ति देखते ही नहीं, अन्यान्य योगिगण, उस प्रकृतितत्त्व में ईश्वर की मूर्त्ति देखते हैं। सांख्य जिस प्रकृतत्त्वज्ञान में मूलवस्तु की उपलब्धि कहते हैं, जो प्रकृति की कर्त्तृत्वशक्ति और चिदाभास है वह अन्यान्य योगियों के निकट ऐश्वरिक तत्त्व है। किन्तु सांख्य के निकट उस का नाम प्रकृति का त्रिगुणात्मक मूलतत्त्व है। सांख्ययोगिगण केवल ऐश्वर्य के प्रतिषेधार्थ वस्तु तत्त्वज्ञान में निमग्न हो ध्यान में ईश्वर मूर्त्ति का अवलम्बन छोड़ देते हैं, । पहिले ही कहा गया है कि ऐश्वर्य वैराग्य साधन ही उन का प्रधान उद्देश्य है। वे इस मूलतत्त्व को प्रकृति इस कारण कहते हैं कि उस से नाम,रूप और आकार सम्भूत होते हैं, प्रकृति नाम, रूप आकार को रचने वाली हैं; जिस का प्रथम परिणाम अनन्त या शेषरूप महतत्त्व है। यह सगुण मूलतत्त्व ही ईश्वर है। जो प्रकृति का अशेष परिणाम में नित्य जिस का रूप ही प्रकृति, वही इश्वर-ईश्वर ही जगत् की सृष्टि, स्थिति, प्रलय कर्त्ता है। वे सर्वशक्तिमान् नित्य वस्तु, सर्व शक्ति की शक्ति कार्य कारण-अतीत अपरि-वर्त्तनीय कर्त्तृत्वाधार है। उस त्रिगुणधारिणी ऐश्वर्यशालिनी प्रकृति में चिदाभास; वह सगुण चित् शक्ति है। सांख्य के सगुण मूलतत्त्व के साथ अन्यान्य योगियों के सगुण ईश्वर की विभिन्नता यहीं मात्र है, महान् रूप से प्रकृति विभिन्न धर्म्म, करण, आकार की सृष्टि करती है, वही पुराणों

* "निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" ॥ गीता ॥

ईश्वर की उपासना सब ही द्वैतवादियों का लक्ष्य है। जब कि लक्ष्य ही स्थिर नहीं रहता, तो उपासना किस के लिये? इस कारण द्वैतवादि दार्शनिक लोगों ने उपासना के सुभीता के लिये नित्य ईश्वर को माना है। सांख्यईश्वरोपासक लोग यह स्थिर लक्ष्यस्वरूप नित्य ईश्वर माना नहीं चाहते। कारण यह है कि सगुणवस्तु मात्र ही ऐश्वर्य और धर्म अनित्य और परिवर्त्तनशील है। त्रिगुणमयी प्रकृति का साधर्म्य ही यह है। पीछे सांख्ययोगगण इसी जाल पर आकर इसे बांध देते हैं यही उन लोगों को सतर्क कर देने के लिये सांख्यकार ने दिखला दिया है कि इस सगुण ऐश्वर्य प्रकृति के भाव रहते उसे अनित्य जानना, तुम्हारा लक्ष्य इस अनित्य धाम में नहीं है। जो निर्गुण, चैतन्य, नित्य, स्थिर, और अचञ्चल है वही नित्य धाम तुम्हारा लक्ष्य है।

निर्गुणवादी जैमिनि भी इसी मुक्ति को लक्ष्य स्थानीय करते हैं। इसी कारण उन ने उस सगुण ईश्वर का लक्ष्य भेद कर निर्गुण परमात्मा में विराम लाभ किया है। जैमिनि और कपिल ने अपने २ जिस स्थान में विराम लाभ किया है, अपर को उसी गन्तव्य मार्ग में ले जाने की इच्छा से अपना २ दर्शन प्रकाश किया है। विज्ञानभिक्षु ने समझाया है कि कपिल ने अपने बतलाये हुए मार्ग के व्याघात रोकने के लिये सगुण ईश्वर का अवलम्ब केवल परिहार्य (छोड़ देने) कहा है कि ईश्वर असिद्ध है, किन्तु एकमात्र उनने ऐसा नहीं कहा है कि ईश्वर ही है नहीं। इस का मतलब यह है कि सांख्ययोगपथ में ईश्वर असिद्ध होने पर भी, जो जिस का अवलम्ब पकड़ कर समाधिपथ में अग्रसर हो सकते, उन के पक्ष में ईश्वर भक्ति असिद्ध नहीं हो सकता। पातञ्जलभाष्य में यह बात और भी साफ कर दिया गई है। भगवान् पतञ्जलि ने उसी भक्तिपथ को पकड़ कर ज्ञान मार्ग में पहुंचे थे और अपर को भी उसी प्रकार उपदेश कर गये हैं। सांही, भगवान् यास्क ने कहा है कि जिन ऋषियों ने जिस २ मार्ग को पकड़ कर सिद्धि को प्राप्त हुए। उन ने उसी २ साधनपथ में सम्पूर्ण पारदर्शी हो अपरों को उस निःसंशय प्रदर्शन कर गये हैं। पातञ्जलयोग सूत्र में योगमार्ग का पद २ में अनुपात हुआ है। किसी स्थल पर कोई विघ्न आ पड़ने से उन के निवारण का उपाय महर्षि ने उपदेश किया है। गौतम प्रभृति सगुण ईश्वर—वादिगण नाना युक्तियों से द्वैत—प्रस्थान को प्रतिपन्न किया है। सुतरां "आर्यदर्शन" में वैदिक मुक्तिपथ का सब दर्शनों में समान आलोकपात हो कर अतिपरिष्कृत हुआ है। सब ही ऋषियों ने एक ही निर्वाणमुक्ति का मार्ग दिखलाया है। जिन ने जैसे

अधिकारियों के लिये अपना २ दर्शन रचा है,वे उन अधिकारियों के लिये ध्रुव तारा की नाईं अचल हैं। अन्यान्य अधिकारियों के पक्ष में वह पथ उतना प्रशस्त नहीं हो सकता, कारण यह है कि अपर अधिकारी के लिये वह प्रशस्त होता नहीं, किन्तु जिस अधिकारी के लिये वह तैयार हुआ है, वह अधिकारी उस में सम्पूर्ण उपदेश लाभ कर अपने मार्ग में अग्रसर हो सकते हैं। प्राचीन काल में जब कर्म्म, भक्ति, और ज्ञानमार्ग के अनेक पथिक पाये जाते थे, तब उसी उसी पथ की पारदर्शिता प्रतिपन्न होती थी। इस समय जब कि वह मार्ग ही छोड़ दिया गया, तब उस मार्ग को नाना प्रकार मिथ्या दोष दिखलाना, केवल मिथ्या वाक्य व्यय करना मात्र है। इस समय जो मतभेद कहकर प्रतीत होता है, वह हमारी मिथ्या दृष्टिमात्र है। प्राचीन समय में उसी २ गन्तव्य पथ के पथिक गण के निकट प्रत्येक 'मार्ग' को ऋषियों ने खूब मजबूत, निष्कण्टक, साफ और समलङ्कृत करदिया था,। अब हम इस को विस्तार न कर यहीं समाप्त करते हैं दर्शनों के मतभेद तथा वैदिक सिद्धान्त के ऊपर मीमांसादर्शन के अनुवाद के साथ सविस्तर विचार किया जावेगा।

प्राचीन और नवीनन्याय के ग्रन्थकारों का वर्णन ॥

प्राचीन और नवीन न्याय के पुस्तकों के संग्रह और आलोचना से न्याय के पूर्वापर क्रम का ज्ञान होता है अर्थात् न्याय के ग्रन्थों के अवलोकन से इन में कौन २ ग्रन्थ प्राचीन और कौन २ प्रसिद्ध नवीन ग्रन्थ किस क्रम से आगे पीछे बने हैं, इस का ज्ञान होता है। इस समय हम उसी का वर्णन करेंगे।!

नीचे लिखे ३२ न्याय के आचार्य्य इस क्रम से हुए हैं-१ महर्षिगौतम, महर्षिकणाद, ३ महर्षिवात्स्यायन, ४ प्रशस्त पादाचार्य्य, ५ उद्योतकराचार्य्य, ६ पं० वाचस्पति मिश्र, ७ पं० शिवादित्य मिश्र, ८ पं० उदयनाचार्य्य, ९ पं० श्रीधराचार्य्य, १० पं० वल्लभाचार्य्य, ११ गङ्गेशोपाध्याय, १२ पं० वर्द्धमानोपाध्याय, १३ पं० वासुदेव भट्टाचार्य्य, १४ पं० जयदेव मिश्र, १५ पं० रघुनाथतार्किक शिरोमणि, १६ पं० मथुरानाथ तर्कवागीश, १७ पं० कणाद (रघुदेव) १८ पं० शङ्कर मिश्र, १९ पं० प्रगल्भ, २० पं० भवानन्द, २१ पं० जगदीश, २२ पं० गदाधर चक्रवर्त्ती, २३ पं० भगीरथ ठक्कुर, २४ पं० रुचिदत्त, २५ पं० केशवमिश्र, २६ पं० वरदराज, २७ पं० पद्मनाभ, २८ पं० जानकीनाथ, २९ पं० रामभद्र, ३० पं० विश्वनाथ न्यायपञ्चानन, ३१ पं० रुद्रभट्टाचार्य्य और ३२ पं० अन्नंभट्ट ॥

अथ न्यायग्रन्थकाराणां जन्मस्थितिकालविचारः ।

१-महर्षिगौतम आत्रेयः, स च न्यायदर्शनस्य कर्त्ता (१) न्यायदर्शनस्य त्वध्यायपञ्चकम्, प्रत्यध्यायमाह्निकद्वयम् पञ्चाध्याय्याःसूत्राणां संख्या च त्रिंशदधिकपञ्चशतानि (५३०), इति । एनं महर्षिं गौतमं गौतमनामानं केचनमन्यन्ते । अन्येतु-'नैयायिकः,' अक्षपादः, अक्षचरणः, प्रशस्तपादः, प्रशस्तचरणश्च, इति महर्षेर्गौतमस्यैव नामभिदाःसन्ति इति मन्यन्त इति ।

२-महर्षिकणादः (२) कश्यपगोत्रजः उलूकः इति (३) औलुक्य । इति चाख्यायते । मिथिलादेशे तस्य निवासस्थानं योगाचारविभूत्या महेश्वर

---

(१) अत्र प्रसङ्गतः षड्दर्शनानां सूत्राणां क्रमः सर्वग्रन्थाकलनात्कथ्यते, पूर्वं बादरायणीयं ब्रह्ममीमांसादर्शनं संबभूव, ततो जैमिनीयं धर्ममीमांसादर्शनम्-ततो गौतमं न्यायदर्शनम्, ततः काणादं वैशेषिकदर्शनम्, ततः कापिलं 'सांख्यदर्शनम्' ततः पातञ्जलं योगदर्शनम्, इति क्रमं वयं प्रतीमः ।

केचित्तु-षण्णां सूत्रकाराणां समानकालिकत्वमेव इत्याहुः। चन्द्रकान्ततर्कालङ्कारस्तु सांख्यदर्शनाविष्कर्त्तुः कपिलस्यैव (नास्तिककपिलस्य) दर्शनकारेषु प्राचीनतमत्वम् । आदिपतञ्जलेस्ततपरजत्वम्, आत्रेयस्य काशकृत्स्नेश्च ततोऽवरजत्वं, कणभक्षाक्षचरणपाराशर्यजैमिनीनां ततोऽप्यर्वाचीनत्वमित्याह । तदुभयकथनमतीवाविचारतरम् । ननु, 'वेदान्तसूत्रादौ' " एतेन योगः प्रत्युक्तः" इत्यादिना योगमतखण्डनदर्शनात् योगसूत्रान्तरमेव वेदान्तसूत्रम्, उपनिषदादौ सांख्यकपिलमतप्रतिपादनाच्च सांख्यसूत्रानन्तरमेवोपनिषदाद्युत्पत्तिश्च इतिचेन्न । नह्युपनिषदादौ प्रसिद्धाः कपिलबादरायणजैमिन्यादय आधुनिक षट्सूत्रकर्त्तारो भवितुमर्हन्ति " एतेन योगः प्रत्युक्तः " इत्यादि सूत्राणि तु अनादिसिद्धयोगसांख्यबौद्धचार्वाकादिमतखण्डनपराण्येव, नत्वर्वाचीनसांख्ययोगादि सूत्रबौद्धचार्वाकादिप्रणीतग्रन्थखण्डनपराणि, इति । एतच्च 'सांख्ययोगदर्शन इत्यादि तत्तच्छास्त्रानुवादेषु व्यासतः प्रदर्शितम्भविष्यत्यतोऽत्रविरम्यते ।

(२)-अयं च, कणभक्षणेन तपश्चरणादुञ्छेन वर्त्तनाच्च 'कणादः, इति प्रसिद्धयति ।

(३) अत्रेतिह्यम्-तपस्विने कणादमुनये स्वयमीश्वर उलूकरूपधारी प्रत्यक्षीभूय पदार्थषट्कमुपदिदेश । तदनुमहर्षिर्लोकानुकम्पया वैशेषिकसूत्राणि चकार । तेन तद्दर्शनस्य " औलुक्यदर्शनम् " इति नामान्तरम् ।

अत्र केचिद्वदन्ति-'सोऽयं मुनिर्महाभारते भीष्मस्तवराजे उलूकनाम्ना

नियोग प्रमादादवधिगम्य वैशेषिकदर्शनं प्रणिनाय। वैशेषिकदर्शनं (१) चाध्याय-दशकम् प्रत्यध्यायमाह्निकद्वयम्। वैशेषिकदर्शनस्य सूत्राणि तु सप्तत्यधिकानि त्रीणिशतानि (३७०) इति।

उक्तत्वान्महाभारतादपि पूर्वकालिकः। किंच—"न वयं षट्पदार्थवादिनो वैशेषिकादिवत्" इति सांख्यसूत्रादप्यतिप्राचीनः एवम्—"महद्दीर्घवद्वा ह्रस्वपरिमण्डलाभ्याम्" इति ब्रह्मसूत्रपर्यालोचनया वेदान्तदर्शनादप्येतद्दर्शनं, (वै०द०) प्राचीनम्। 'शब्दानामुत्पत्तिविनाशवत्त्वम्'—इति काणाद-न्यायदर्शनसिद्धान्तः स च "कर्मैके तत्र दर्शनात्" इत्यादि सूत्रैरुद्धृत्य महता यत्नेन, जैमिनिना खण्डितः, इति मीमांसातोऽपिप्राचीनत्वम्। रावणेनापि भाष्यमस्य दर्शनस्योपरि रचितमिति रत्नप्रभादौ दर्शितम्। इति लङ्कापुरीस्थरावणादपि प्राचीनत्वम्। किंच-वैशेषिकदर्शनेऽनुमानस्य संक्षेपतो वर्णनात्, हेत्वाभासस्य त्रैविध्यकथनाच्चेति पूर्वं कणादेन पूर्वोक्तविषयस्य रीतिः समुद्भाविता ततोऽनन्तरमक्षपादेन विस्तारिता सम्यङ् निबद्धा च, समानतन्त्रे वैशेषिके प्रतितन्त्रसिद्धान्तसिद्धं नैयायिकस्य मनसइन्द्रियत्वम्। इति वैशेषिकदर्शनस्य न्यायदर्शनादपि प्राचीनत्व मप्यवगम्यते इति।

तदेतत्केषांचित्प्रकल्पनं चातुरदर्शित्वेन "कहां रामराज' कहांपीततराज" इति प्राकृतन्यायं समाकलितम्। इत्यतो वयं सकलसूत्रशास्त्रतात्पर्याकलनादित्थं प्रतीमः-महाभारतप्रतिपादित उलूकर्षि रस्मादुलूकनाम्नः कणादादभिन्न एव। 'महद्दीर्घवद्वा' इत्यादिब्रह्मसूत्राणान्तु अनादिसिद्धवैशेषिकमतखण्डनपरत्वमेव नत्ववीचीनकणादर्षि प्रणीतसूत्रार्थखण्डनपरत्वम्। एवमेव जैमिनिमीमांसा दर्शनस्यापि तात्पर्यमुन्नेयम्। रावणस्तु कश्चनार्वाचीनब्राह्मण एव न तु श्रीरामद्वेष्टा रामायणप्रतिपाद्यःपौलस्त्य इति। न केवलं हेत्वाभासत्रैविध्यस्वरूप संक्षेपकथनेनैव न्यायदर्शनात् प्राचीनत्वं कणाददर्शनस्य सम्भवति। यतो विपरीतमपि वक्तुं शक्येत, तथाहि—'न्यायदर्शने हेत्वाभासानां पञ्चत्वं प्रथमतः प्रतिपादितम् तदनन्तरं कणादेन पञ्चत्वं परित्यज्य हेत्वाभासस्य युक्त्या संक्षेपतो वा त्रैविध्यं प्रतिपादितम्, इत्यपिवक्तुं शक्यते इति। तस्मात्, ब्रह्मसूत्रम्, जैमिनिमीमांसासूत्रम्, न्यायसूत्रम्, वैशेषिकसूत्रम्, सांख्यसूत्रम्, योगसूत्रम्, इत्येवं क्रमेण सूत्राणि रचितानि इति समाभिमतिः।

(१)—'दर्शनानन्तरकारैरनङ्गीकृतस्य विशेषपदार्थस्याङ्गीकरणादस्य वैशेषिकतया प्रसिद्धिः इति केचिद्वदन्ति। वस्तुतस्तु " द्वित्वे च पाकजोत्पत्तौ

(३)–वात्स्यायनः (१) परमर्षि न्यायसूत्राणां भाष्यमकरोत्, इति । अस्य पक्षिलस्वामी, मल्लनागः, कौटिल्यः, चणकात्मजः, द्रामिलः, विष्णुगुप्तः, अङ्गुलः. (२) इति नामान्तराणि स च चन्द्रगुप्तराज्ञः समसामयिकः ।

(४)–प्रशस्तपादाचार्य्यश्च वैशेषिकसूत्राणां भाष्यमकरोत । अस्य (प्रशस्तपादाचार्य्यस्य) प्रशस्तदेव.प्रशस्तचरणः इति नामान्तरे। गौतम वात्स्यायनयोरिव समानतन्त्रत्वेन कणादप्रशस्तपादयोरपि परमर्षित्वम् कपिलपञ्च शिखाचार्य्ययोरिवाचार्य्यत्वं च उदयनाचार्य्य–कन्दलीकार–शङ्कर मिश्रादयः स्वीचक्रुः, इति ।

(५)–उद्योतकराचार्य्यो न्यायसूत्राणां वार्त्तिकमकरोत्। अयं च. इतो वर्षाणां द्वादशशत्याः (१२००) पूर्वमासीत् । अयं च भारद्वाजगोत्रजः इति केचिदाहुः तत्र मयासन्दिह्यते, अय च इतो द्वादशशत्याः पूर्वं कदा आसीत् इति मया न ज्ञायते, च इति ।

(६)–वाचस्पतिमिश्रश्च (३) न्यायवार्त्तिकग्रन्थस्य व्याख्यानं न्यायवार्त्तिकतात्पर्य्यम् . न्यायकारिकाम्, परिशिष्ट (४) व्याख्यानं चाकरोत । इति ।

(७)–शिवादित्यमिश्रश्च ' न्यायाचार्य्यः ' इति स्तूयते । अयं च 'व्योम शिवाचार्य्यः (५) इतिकेचिद्वदन्ति इति । शिवादित्यमिश्रस्तु 'सप्तपदार्थी' नामानं ग्रन्थमकरोत्, इति ।

विभागे च विभागजे । यस्य न स्खलिता बुद्धिस्तं वै वैशेषिकः विदुः " इति। (१) लोकभाषायामस्य विचारो (अग्रे) द्रष्टव्यः । (२)–अत्र–वैशेषिकसूत्राणां भारद्वाजवृत्ति गङ्गाधरकविरत्नकविराजकृतास्ति' इति श्रूयते । अन्येतु–भारद्वाजनाम्नोद्योतकाराचार्य्येणेयं वृत्तिः कृता इत्याहुः । अन्येतु --उद्योतकाराचार्य्यस्यैव 'भारद्वाज, इति नाम. तेन कृतावृत्ति भारद्वाजवृत्तिः, इति मन्यन्ते ॥

(३)–अयं वाचस्पति मिश्रः तत्त्वचिन्तामणिप्रकाशकृतो वाचस्पतिमिश्रादन्य एव इति केचित् पण्डिता आहुः । अयं च वाचस्पतिमिश्रः 'शङ्करभारतीकृतशारीरकमीमांसाख्यभाष्यस्य भामत्याख्य व्याख्याकार एव' इति बहवो मन्यन्ते अन्ये तु–अय वाचस्पतिस्तु भामतीकारादन्य एव । भामतीकारश्चान्यः कश्चन वेदान्तशास्त्रज्ञ आसीत् इत्याहुः । (४)–'इदं परिशिष्टं तु उदयनाचार्यकृतम् इति केचिद्वदन्ति अन्येतु–इदं परिशिष्टं न्यायकलिकापरिशिष्टमेव इत्यमन्यन्त । (५) व्योमशिवाचार्यस्तु प्रशस्तकृतभाष्यस्य टीकारूपं व्योमवती नामानं ग्रन्थं कृतवान् ॥

(८) उदयनाचार्य्यश्च (१) विक्रमीय (८४५) वर्षादुत्तरं (१८४८) वर्षात्पूर्वं (२) मिथिलादेशेन्यवसत् । केचित्तु, अभिनवोदयनाचार्य्यो दक्षिणदेशे वङ्गदेशे वा जातः । इत्याहुः । उदयनाचार्यो न्यायाचार्यत्वेन प्रसिद्धः न्यायवार्त्तिकतात्पर्यस्य टीकारूपं न्यायवार्त्तिकतात्पर्यपरिशुद्धिनामानं ग्रन्थम्, 'न्यायपरिशिष्टम्, प्रशस्तपादकृतभाष्यस्य व्याख्यानरूपं किरणावलीनामानं ग्रन्थम्, आत्मतत्त्व विवेकम्, (बौद्धाधिकारम्) न्यायकुसुमाञ्जलिं च कृतम् इति ।

(९) श्रीधराचार्य्यश्च विक्रमाब्दे (१०४८) तथा (शके ९१३) वर्षे, प्रशस्तपादाचार्य्यकृतभाष्यस्य व्याख्यानरूपं न्यायकन्दलीनामानं ग्रन्थं कृतवान्, इति । श्रीधराचार्य्यस्य पिता बलदेवः, माता तु अव्वोका निवासस्तु, गौडदेशापरपर्य्याये बङ्गदेशान्तर्गते गङ्गायाः पश्चिमे तटे ' राढ ' देशे भूरिश्रेष्ठिक इति प्रसिद्धे भूरिसृष्टि ग्रामे ' राढापुरी ' इत्यस्मिन् ।

(१०) महामहोपाध्यायो वल्लभाचार्य्यश्च न्यायलीलावतीनामानं ग्रन्थं कृतवान्, इति ।

(११) गङ्गेशोपाध्यायश्च इतः सप्तशत्याः पूर्वं (शके ११००) एकादश शतके वङ्गदेशे आसीत् । केचित्तु—(शके १२३०) एतस्मा (३) द्वर्षात्पूर्वमासीत्' इत्यङ्गीचक्रुः । गङ्गेशोपाध्यायस्तु सकलन्यायतर्कग्रन्थेभ्यः सारमुद्धृत्य ' तत्त्वचिन्तामणिः ' नामानं नव्यपरिष्कारपरिष्कृतमुत्तमं कृतवान् इति ।

(१२) वर्धमानोपाध्यायश्च (४) गङ्गेशोपाध्यायपुत्रः मिथिलादेशे शुभङ्कः मण्डलान्तर्गते 'करिजन' ग्रामे जातः उदयनाचार्य्यकृतायाः किरणावल्या व्याख्यानरूपं किरणावलीप्रकाशनामानं ग्रन्थं न्यायलीलावत्या व्याख्यानरूपं न्यायलीलावतीप्रकाशनामानं ग्रन्थं, उदयनकृतन्यायपरिशिष्टस्य प्रकाशं, गौतमसूत्रस्य तत्त्वचिन्तामण्यादीनां च व्याख्यानं कृतवान्, इति ।

(१३) महामहोपाध्याय न्यायपञ्चानन–वासुदेवभट्टाचार्य्य सार्वभौमश्च तत्त्व चिन्तामणे व्याख्यानं कृतवान् । वासुदेवसार्वभौमस्यच त्वारः शिष्या

(१)—उदयनाचार्येण सह जैनानां विवादः, गमजनि अवशिष्टनास्तिकानां मूलोच्छेदश्चोदयनेन कृतः इति जैनग्रन्थात्कलनादवगम्यते । (२)— उदयनाचार्य श्रीहर्षपितृ श्रीहीरस्य समानकालिक । श्रीहर्षस्तु (शके ८८९) वर्षे आसीत् इति नैषधटीकया अवगम्यते । केचित्तु खण्डनखण्डखाद्ये च श्रीहर्षात् पूर्वमेवोदयनाचार्य इत्यवगम्यते इत्याहु. । यतः रत्नाकरस्यादौ श्रीहर्षो वनमरान उदयनस्य प्रतिपादित. । मा.न्याय इति । अन्येतु—श्रीहर्षात्पूर्व एव वाचस्पति मिश्र इति शंकरमिश्रग्रन्थादवगम्यते, ततो वाचस्पतिमिश्रात् पूर्वमेवोदयनाचार्य्य आसीत् इत्याहुः परं तु वाचस्पतिमिश्रादनन्तर कालिक एवोदयनाचार्य. इति तात्पर्यशुद्धिग्रन्थेनात्मतत्त्वविवेकेन चावगम्यते इति प्राहु. ।

(३)— अत्रेदमनुमानं यत् लक्ष्मणसेननामा नृपतिर्वङ्गदेशे बभव यस्य सभापण्डितो हलायुधभट्ट आसीत् , तस्य राज प्रवृत्तिः (शालि० शके १०३०) वर्षे प्रादुरासीत् । तथा च ततोऽपि पूर्वं गङ्गेशोपाध्याय आसीत् इति निश्चीयते । (४)—' गणरत्नमहोदधिकारो गोविन्दसूरिशिष्या वर्धमानस्तु जैन एव, इत्यस्माद्वर्धमानोपाध्यायोऽन्य ', इति ध्येयम् गणरत्न महोदधि विक्रमराकवर्षेषु (११९७) अतीतेषु विरचित , इति ।

आसन्–गौराङ्गदेवः, रघुनाथः, रघुनन्दनः, कृष्णानन्दश्चेति। तत्र (१) गौराङ्गस्तु, भगवतो विष्णोरवतारः (शचीनन्दनः) इति केचिदाहुः। अन्येतु 'विरक्तोभगवद्भक्तः' इत्याहुः। रघुनाथस्तार्किकशिरोमणिश्च दीधितिकारो नैयायिकः (२) रघुनन्दनभट्टाचार्य्यश्च धर्मशास्त्री। कृष्णानन्दवागीशश्च मन्त्रशास्त्री जातः इति एते च चत्वारस्तत्तच्छास्त्रेषु निबन्धाश्चक्रु इति किंवदन्ति।

(१४)–जयदेवमिश्रः (पक्षधरमिश्रः) हरिमिश्रशिष्यो वासुदेवसार्वभौमस्य सहाध्यायी, तत्त्वचिन्तामणेर्व्याख्यान मालोकनामानं ग्रन्थं चकार इति।

(१५)–रघुनाथ(३) भट्टाचार्य्यतार्किकशिरोमणिश्च वासुदेवसार्वभौमशिष्यो वङ्गदेशे नवद्वीपग्रामे (नद्याशान्तिपुरे भाषयां 'नडिया' इति प्रसिद्धे) जातः। स च (रघुनाथतार्किकशिरोमणिः) तत्त्वचिन्तामणेर्व्याख्यानं दीधितिनामानं बौद्धाधिकारापरपर्य्यायस्यात्मतत्त्वविवेकस्य व्याख्यानं दीधितिनामानं किरणावल्या न्यायलीलावत्याश्च प्रकाशस्य (वर्धमानकृतस्य) द्रव्यप्रकाशविवृति गुणप्रकाशविवृत्तिं, (विषमपदटिप्पणीं) दीधितिनामानं पदार्थतन्त्रनिरूपणं नाम (पदार्थखण्डनम्) आख्यातवादं (आख्यातविवेकम्) च ग्रन्थं चकार इति।

(१६)–मथुरानाथतर्कवागीश भट्टाचार्य्यश्च रामतर्कालङ्कारात्मजः, वङ्गदेशीयो, रघुनाथतार्किकशिरोमणेःशिष्यः आत्मतत्त्वविवेक–तत्त्वचिन्तामणि–प्रभृतिमूलग्रन्थानां रघुनाथाख्य स्वगुरुकृतानां च सर्वेषां ग्रन्थानां व्याख्यानम् (गुणप्रकाशविवृत्तिरहस्यादि) कृतवान्, इति।

(१७)–रघुदेव न्यायालङ्कारः (कणादापरनामा) मथुरानाथस्य शिष्यो वङ्गदेशीयः। स च दीधितेर वयवग्रन्थस्य च व्याख्यानं रघुनाथशिरोमणिकृत पदार्थतत्त्वनिरूपणस्य टीकां (पदार्थतत्त्वविवेचनटीकाम्), ईश्वरवादम्, आकाङ्क्षावादम्, भाषारत्नं च कृतवान्। इति।

(१८) म०म० शङ्करमिश्रश्च रघुदेवशिष्यो भवनाथात्मजः कणादरहस्यनामानं (४) वैशेषिकसूत्रोपस्कार न्यायलीलावतीं दीधितेर्व्याख्यानं लीलावतीकण्ठाभरणं, बौद्धाधिकारस्य (आत्मतत्त्वविवेकस्य) व्याख्यानं कल्पलतानामानं च ग्रन्थं रचयामास, इति।

---

(१)—गौराङ्गे नाम राजाऽस्ति स च शालिवाहन शक (१४०७) वर्षे आविरासीत्। (२)—मनुस्मृतिव्याख्यानकर्त्ता च राघवानन्द, अयन्तु रघुनन्दन, इतिनयोर्भेदः। (३)—अत्रेतिह्यम्—सार्वभौमेचाध्ययननिवृत्त्या स्वदेशगते तच्छिष्ये रघुनाथशिरोमणावपि पक्षधरमिश्राच्चाध्येतु समायाते कदाचित् सामान्यलक्षणायाः प्रत्यासत्त्या. खण्डने च कृते सति पक्षधरमिश्र शिष्यत्वमापन्न रघुनाथ प्रतिप्रोवाच –"वक्षोजपान कृत्कारण संशये जाग्रति स्फुटे। सामान्य लक्षणा कस्माद कस्मादपलप्यते" इति॥ (४)—स च ग्रन्थो, भाष्याभिप्रायबोधको वार्त्तिकलक्षणाक्रान्त इतिशेयम्।

(१९)–प्रगल्भश्च (१) खण्डनोद्धाराख्यग्रन्थ (२) मकरोत्. इति।

(२०) भवानन्दनामा म० महोपाध्याय न्यायपञ्चानन न्यायसिद्धान्ततर्कवागीशश्च तत्त्वचिन्तामणेर्व्याख्यानं, दीधितेर्व्याख्यानं, शब्दार्थमञ्जरीं, कारकवादं च कृतवान्, इति।

(२१) म०म० न्यायवाचस्पति—जगदीशतर्कालङ्कार भट्टाचार्यश्च भवानन्दशिष्यः प्रशस्तपादकृतभाष्यस्य व्याख्यानरूपं भाष्यसूक्तिनामानम्, शब्दशक्तिप्रकाशिकाम्, तर्कामृतम्, दीधितेष्टीकां रहस्यनाम्नीं चकार, इति।

(२२) गदाधरमिश्रो भट्टाचार्यचक्रवर्त्ती च जगदीशस्य, रत्नकोशकृतो हरिरामतार्कालङ्कारभट्टाचार्यस्य च शिष्यः तत्त्वचिन्तामणिव्याख्यानदीधितेष्टीकां संगतिनाम्नीं लक्षसंख्यकाम्, बौद्धाधिकारव्याख्याम्, बौद्धाधिकारदीधितेश्च-व्याख्यां गदाधरीम्, द्विपञ्चाशतसंख्यकान्, (५२) वादार्थांश्च चकार, इति।

(२३)—(१५)–भगीरथठक्कुरो मेघठक्कुरापरनामामैथिलः पक्षधरमिश्राणां शिष्यः जयदेवपण्डितकवेर्विशाब्दे जातः। भगीरथठक्कुरस्य महादेवाख्यः मेघः ठक्कुरापरनामा सोदर आसीत्। भगीरथठक्कुरो वर्धमानोपाध्यायकृतानां प्रकाशग्रन्थानां (किरणावलीप्रकाशादीनाम्) व्याख्यानरूपानुद्रव्यप्रकाशिका-गुणप्रकाशिकादीनाम्नोग्रन्थान् (कुसुमाञ्जलिप्रकाशप्रकाशिका–न्यायलीलावतीप्रकाशप्रकाशिकादीन्) चकार, इति।

(२४) रुचिदत्तः (३) (भाक्कुनामा) पक्षधरमिश्राणां शिष्यः तत्त्वचिन्तामणेर्व्याख्यानरूपं प्रकाशनामानं, कुसुमाञ्जलिप्रकाशस्य वर्धमानकृतस्य व्याख्यानरूपं मकरन्दनामानं च ग्रन्थं चकार, इति।

(२५) अथ–केशवमिश्रश्च न्यायसूत्रानुसारिणं तर्कभाषानामानं ग्रन्थं विरचितवान्, इति।

(२६) अथ–वरदराजश्च न्यायसूत्रानुसारिणं तार्किकरक्षानामानं श्लोक (१६१) निबद्धग्रन्थ विरचितवान्, इति।

(२७) अथ—पद्मनाभमिश्रस्तु बलभद्रमिश्रात्मजो विजयश्रीगर्भजो (विश्वनाथगोवर्द्धनमिश्रबन्धुः ?) तत्त्वचिन्तामणेर्व्याख्यानरूपं चिन्तामणिप्रदीपनामानं, राद्धान्तमुक्ताहारं, (अस्यव्याख्यानं कणादरहस्यम् ?) किरणावल्या द्वितीयं व्याख्यानकिरणावलीभास्करनामानं च ग्रन्थं चकार, इति।

(२८) अथ–म० म०–जानकीनाथो भट्टाचार्य चूडामणिर्न्यायसिद्धान्तमञ्जरीनामानं ग्रन्थं चकार इति।

---

(१) –रघुनाथतार्किकशिरोमणिना दीधितिग्रन्थे पूर्वपक्षीयव्याख्यानेषु प्रगल्भकृतग्रन्थ उद्धृत., इति कश्चन प्रगल्भो दीधितिकारात् पूर्वकालिक एव आसीत् इति विज्ञायते। (२) –पत्रिका पुस्तक (शाके १४३६) वर्षे लिखित वाराणस्यामुपलभ्यते। (३)– केचित्तु कोन्दत्त प्रभृत रघुनाथानां निदतरेण विभिन्नतया समन्यन्त।

(२९) रामभद्रो जानकीनाथभट्टाचार्यचूडामणेः पुत्रः न्यायसूत्रटीकां न्यायरहस्यनामानि ग्रन्थान् चकार, इति ।

(३०) अथ–विश्वनाथ न्यायपञ्चाननश्च विद्यानिवासभट्टाचार्यात्मजो वङ्गदेशीयः । अयं च न्यायसूत्रवृत्तिं चकार तट्टीका न्यायसिद्धान्तमुक्तावली नामानं ग्रन्थं न्यायसूत्रवृत्तिं चकार इति ।

(३१) रुद्र भट्टाचार्यो (१) विश्वनाथ न्यायपञ्चाननसहोदरः गुणप्रकाशविवृत्ते र्भावप्रकाशिकाम्, रौद्रीनाम्नीं दीधितेर्व्याख्यां च कृतवान् । अनेन मथुरानाथ तर्कवागीशवत् बहवो ग्रन्थाः व्याख्याताः इति ।

(३२) अथ–अन्नंभट्टश्च कर्णाटकदेशीयः (तैलङ्गदेशीयोवा ?) स च (२) काश्यामधीत्य प्रशस्तकृत–वैशेषिकसूत्रभाष्यस्यग्रन्थान् संक्षेपतो गृहीत्वा तर्कसंग्रहनामानं ग्रन्थं तर्कसंग्रहस्य टीकारूपं तत्त्वचिन्तामणेः, रघुनाथतार्किकशिरोमणिकृतदीधितिग्रन्थाच्च सारमुद्धृत्य तर्कदीपिकानामानं च ग्रन्थं रचयामास, इति संक्षेपः ।

महर्षिगौतम का समय ॥

—:*:—
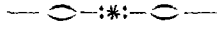
प्राचीन और नवीन ग्रन्थों के अवलोकन से छः दर्शनों का पूर्वापर रचना समय इस प्रकार प्रतीत होता है कि प्रथम ब्रह्ममीमांसा, (वेदान्त सूत्र तब धर्ममीमांसा, (पूर्वमीमांसा) फिर गौतमीय न्यायशास्त्र, पुनः वैशेषिक शास्त्र, तत् पश्चात् कापिल सांख्य और सब के पीछे योगशास्त्र (पतञ्जलिकृत) रचा गया । ये ग्रन्थ बने (इस के पहिले–इस विषयके अन्यान्य ग्रन्थ भी थे) क्योंकि योग विद्या तर्क विद्या, अध्यात्म विद्या, धर्म मीमांसा–आदि विद्या अनादि वेदोपदिष्ट होने से अनादि हैं ।

अब वेदान्तसूत्रकर्त्ता महर्षिव्यास का समय निश्चय करना चाहिये सो महाभारत का समय है और महाभारत ही के प्रमाण से कुरु पाण्डव का युद्ध द्वापर और कलि की सन्धि में हुआ (१)

यद्यपि कुरुपाण्डव युद्ध के समय निरूपण में अनेक लोगों के अनेक मत हैं परन्तु–सब को विचारने से इस में थोड़े वर्षों का अन्तर पड़ता है अर्थात् सब ही ग्रन्थकारों के मत से–महाभारत का युद्ध द्वापर के अन्त और कलि के आ-

(१)—रामेश्वरभट्टाचार्यात्मजो रुद्रभट्टाचार्यस्तद्वन्य एव । तेन च "रौद्री" इत्याख्या न्यायसिद्धान्तमुक्तावल्या व्याख्या कृता । (२)—अत्रान्नभट्ट प्रशंसा किंवदन्ती–"काशीगमनमात्रेण नान्नभट्टायते द्विज" इति ।

रम्भ में हुआ। जिस को अन्यून * ५००० वर्ष हुयीं। यही समय महर्षिव्यास का है इस को सब ही लोग निर्विवाद मानते हैं। और इन्हीं व्यास जी के शिष्य जैमिनि मुनि ने "पूर्वमीमांसा" नामक ग्रन्थ बनाकर बौद्ध आदि नास्तिक मतों के कुतर्कों का उत्तर देकर वेदोक्त कर्मकाण्ड की रक्षा कियी। इस पूर्वमीमांसा के बनने पीछे पुनः जो २ तर्क नास्तिकों ने वेदोक्त सनातनधर्म पर खड़े किये उन के उत्तर महर्षिगौतम ने दिये हैं, जो न्यायशास्त्र के अवलोकन से प्रतीत होता है। और इस बात को भी इतिहासवेत्ता लोग जानते हैं कि महाभारत युद्ध के पूर्व इस देश में केवल शुद्ध वेद मतों का प्रचार था। महाभारत युद्ध ने भारत को ऐसा धक्का दिया कि इस के वीर सन्तान, महर्षि सन्तान, जिन से वेदों की रक्षा होती सब को नाश कर दिये और ऐसा फूट का बीज बो आगया—जिस से इस समय तक भारत वर्ष में—वेदोक्त शुद्ध सनातन मत के अतिरिक्त हजारों इस के विरोधी सम्प्रदाय फैल गये। हमें जहां तक युक्ति और प्रमाण मिले हैं उन से यह बात प्रतीत होती है कि महाभारत युद्ध के पश्चात् जब देश में नास्तिक मतों के कुतर्क खड़े हुए तब ही महात्मा गौतम का आविर्भाव हुआ है और इन ने अपने न्याय में प्रबल युक्तियों से नास्तिक मतों के निराकरणपूर्वक वेदोक्त धर्म की रक्षा कियी है। इन का समय अब अनुमानतः ४९०० पूर्व है। इन के पश्चात् महर्षि कणाद का समय है—जिस को हम वैशेषिक की भूमिका में लिखेंगे। इस न्यायशास्त्र पर वात्स्यायनमुनिकृत भाष्य है जिन के समयनिरूपण पर आगे विचार किया जावेगा।

प्रशस्तपादाचार्य के पश्चात् उद्योतकराचार्य, से लेकर जितने नवीनन्याय के ग्रन्थकार, टीकाकार आदि हैं उन प्रत्येक के, और षड्दर्शनों के पूर्वापर बनने का क्रम सुगम संस्कृत लेख में लिखा गया है—इस का अनुवाद सुगम समझ कर नहीं किया गया।

---

(१)—अन्तरे चैव सम्प्राप्ते कलि द्वापरयोरभूत्। स्यमन्तपञ्चके युद्ध कुरुपाण्डवसेनयोः॥ आदिप० अ०२ श्लो०१३ एतत् कलियुग नाम अचिराद्यत् प्रवर्त्तते। वनप०अ०१४९श्लो०३८॥ अस्मिन् कलियुगे त्वस्ति पुनः कौतूहलं मम। यदा सूर्यश्च चन्द्रश्च तथा तिष्यबृहस्पतिः॥९०॥ एक राशौ समेष्यन्ति प्रपत्स्यति तदाकृतम्॥९१॥ वनपर्व अ०१९०श्लो० प्राप्त कलियुग विद्धि प्रतिज्ञा पाण्डवस्य च। आनृण्य यातु वैरस्य प्रतिज्ञायाश्च पाण्डवः॥२३॥ गदापर्व अ० ३१

* आसन् मघासु मुनयः शासति पृथ्वीं युधिष्ठिरे नृपतौ। षट्द्विपञ्चद्वि (२५२६) युतः शक कालस्य राज्ञश्च॥ बृहत्संहिता, सप्तर्षिचार॥——शतेषु षट्सु सार्द्धेषु त्र्यधिकेषु च भूतले। कलेर्गतेषु वर्षाणां मभवन् कुरुपाण्डवाः॥ राजतरङ्गिण्याम्। १। ५०॥
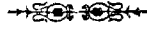
वात्स्यायनमुनि ॥

यद्यपि हमारे देश के इतिहासग्रन्थों के न मिलने से इसबात का ठीकर पता लगाना बहुत कठिन है कि कौन २ ऋषि किस २ समय हुए । परन्तु तथापि अनेक प्रामाणिक पुस्तकों के अवलोकन से जो कुछ पता लगा है उस को हम पाठकों के अवलोकनार्थ यहां लिखते हैं—इस में सन्देह नहीं कि न्यायभाष्यकर्त्ता महर्षिवात्स्यायन—व्याकरणाचार्य महर्षिपाणिनि के पीछे हुए—क्योंकि न्याय अ० २ आ० २ सू० ३९ के भाष्य में म० वात्स्यायन ने प्रचरित पाणिनीय व्याकरण के ' अस्तेर्भूः ' अ० २। ४ । सू० ५२, 'ब्रुवोवचिः' अ०२।४। सू० ५३ और न्या० अ० २ आ० २ । १ । सू० १६ के भाष्य में 'आधारोऽधिकरणम् ' अ० १ । ४ । सू० ४६ और ध्रुवमपायेऽपादानम् १ । ४ । सू० २४ इत्यादि सूत्रों का उल्लेख किया है । इस से यह बात सिद्ध है कि पाणिनीय व्याकरण बनने के पश्चात् महर्षिवात्स्यायन हुए । और पाणिनि मुनि विक्रमीय सम्बत् से पूर्व लगभग २४०० सौ वर्ष के हुए (इस का प्रमाण अष्टाध्यायी के अनुवाद में लिखें गे) अब यह बात विचारणीय है कि महर्षिवात्स्यायन पाणिनि मुनि के पश्चात् किस समय हुए । सो अभिधान चिन्तामणि—नामक ग्रन्थ में पं० हेमचन्द्र जैनी ने लिखा है किः—

" वात्स्यायने मल्लनागः कौटिल्यश्चणकात्मजः ।

द्रामिलः पक्षिलस्वामी विष्णुगुप्तोऽङ्गुलश्च सः" ॥

पूर्व समय में, गुण, कर्म, एवंवंशानुसार लोगों के नाम रक्खे जाते थे—तद्नुसार वात्स्यायन मुनि के इतने नाम थे 'वात्स्यायन,' 'मल्लनाग,' 'कौटिल्य,' 'चाणक्य,' 'द्रामिल,' 'पक्षिलस्वामी,' 'विष्णुगुप्त,' और 'अङ्गुल,' इस के अनुसार चाणक्य—मुनि मगधदेश के शेष राजा नन्द और चन्द्रगुप्त के सम कालिक थे । और यह चाणक्य मुनि नीति और शब्दशास्त्र में बड़े प्रसिद्ध थे । शब्दशास्त्र में इनका नाम "कौटिल्य" प्रसिद्ध है । मुद्रा—राक्षस नाटक के अनेक स्थानों में चाणक्य को "कौटिल्य" सम्बोधन किया गया है । अब यह बात शेष रही कि यही चाणक्य मुनि न्यायभाष्य कर्त्ता थे इसमें क्या प्रमाण है ? । इस का उत्तर यह है कि पं० उद्योतकरमिश्र कृत न्यायवार्त्तिक और वाचस्पतिमिश्र कृत न्यायवार्त्तिकतात्पर्य्य टीका में लिखा है कि न्यायभाष्य पक्षिलस्वामीकृत है और न्यायशास्त्र में जो पक्षिलस्वामी का मत भिन्न माना जाता इस को नवीन नैयायिक लोग भलीभांति जानते हैं ।

उपरोक्त प्रमाणों से चाणक्य मुनि का, वात्स्यायन का नामान्तर होना

एवं चाणक्य मुनि मल्लनाग, पक्षिलस्वामी, वात्स्यायन, कौटिल्य आदि एक ही व्यक्ति के नाम होना, सिद्ध होगया। जो कि वात्स्यायन मुनि मगधेश्वर (पटना) चन्द्रगुप्त वा शेष नन्द के सम कालिक थे अत एव अन्यून २३०० वर्ष पूर्व वर्त्ती थे। इन महात्मा ने जो न्यायभाष्य रचा है—इस को देखने से इनकी वैदिकधर्म सम्बन्धी विचार की विलक्षणता प्रतीत होतीहै। इनके भाष्य पश्चात् न्याय शास्त्र पर २०० सौ से अधिक ग्रन्थ, टीका, टिपणी, आदि बन गये हैं और इन्हीं नवीन न्याय के ग्रन्थों ने प्राचीन आर्ष ग्रन्थों के पठन पाठन प्रणाली को सत्यानाश किया—हा! इस समय जिधर देखो उधर नवीन ही न्याय की चर्चा हो रही है। पाठकों को नवीन और प्राचीन ग्रन्थकार, ग्रन्थ, टीका, टिप्पणी, आदि से भली भांति परिचय होजावे इसलिये हम ने बड़े परिश्रम से न्याय के प्राचीन एवं अर्वाचीन नैयायिकों की यहां तालिका दिया है।

अथ ग्रन्थोत्पत्तिनामोपोद्घातः।

(न्यायवैशेषिकग्रन्थानामुत्पत्तिसंख्यानम्)

	ग्रन्थ	ग्रन्थकर्त्ता
१	१ न्यायसूत्र	महर्षि—गौतम
२	२ न्यायसूत्र का भाष्य	महर्षि—वात्स्यायन
३	३ न्यायवार्त्तिक	पं० उद्योतकराचार्य
४	४ न्यायवार्त्तिकतात्पर्य्य	पं० वाचस्पतिमिश्र
५	५ न्यायवार्त्तिकतात्पर्य्यपरिशुद्धि	पं० उदयनाचार्य
६	६ न्यायसूत्रवृत्ति	पं० विश्वनाथ न्यायपञ्चानन
७	७ न्यायसूत्र—टीका (न्यायरहस्य)	पं० रामभद्र
८	१ षोडशपदार्थी	पं० गणेशदास
९	२ टिप्पन	पं० वासुदेवसार्वभौमभट्टाचार्य
१०	३ पदार्थतत्त्वनिरूपण (पदार्थ खण्डन)	पं० रघुनाथभट्टा० तार्किकशिरोमणि
११	४ पदार्थ तत्त्वनिरूपण टीका	पं० रघुदेव न्यायालङ्कार
१२	५ (१)—तार्किकरक्षा	पं० वरदराज
१३	६ (२)—तर्कभाषा	पं० केशव मिश्र।
१४	१ वैशेषिकसूत्र (२)	महर्षि कणाद।
१५	२ (१)—वैशेषिकसूत्र भाष्य	पं० प्रशस्त पादाचार्य्य।
१६	३ (२)—भाष्य	पं० चन्द्रकान्ततर्कालङ्कार(शाके१८००)
१७	४ भरद्वाज (वैशेषिक व्याख्या)	पं० गङ्गाधरकविरत्नकविराज।
१८	५ (१)—न्याय कन्दली (प्रशस्तभाष्यटीका)	पं० श्रीधराचार्य्य।

	ग्रन्थ	ग्रन्थकर्त्ता
१९	६ (२)—किरणावली (प्रशस्तभाष्यटीका)	पं० उदयनाचार्य्य ।
२०	७ (३)—व्योमवती (प्रशस्तभाष्यटीका)	पं० व्योमशिवाचार्य्य ।
२१	८ (४)—लीलावती (प्रशस्तभाष्यटीका)	पं० श्रीवत्साचार्य्य ।
२२	९ (५)-भाष्यसूक्ति(प्रशस्तभाष्यकाव्याख्यान)	पं० जगदीश भट्टाचार्य्य ।
२३	१० (६)—भिक्षुवार्त्तिक (?) " "	कर्त्ता का पता नहीं लगता, किसी के मत से पं० विज्ञानभिक्षु, और किन्हीं लोगों की रायसे पं० पञ्चशिखाचार्य्य हैं।
२४	६ (१)—किरणावलीप्रकाश (किरणावलीव्याख्या)	पं० वर्द्धमानोपाध्याय ।
२५	" २—किरणावली—टीप्पन	पं० रघुनाथतार्किकशिरोमणि
२६	" १—(१) द्रव्यप्रकाशिका (किरणावलीप्रकाशकाव्याख्यान)	पं० भगीरथ ठक्कुर
२७	" " (२) गुणदीधिति(गुणप्रकाशविवृत्ति)	पं० रघुनाथतार्किकशिरोमणि
२८	६ १ (३) गुणप्रकाशविवृतिरहस्य (गुणदीधिति माथुरी)	पं० मथुरानाथ तर्कवागीश
२९	" " गुणप्रकाश विवृत्तिभावप्रकाशिका, (गुणप्रकाशविवृत्ति का व्याख्यान)	पं० रुद्रभट्टाचार्य
३०	" २ (४)गुणप्रकाशविवृत्ति—व्याख्यान	पं० रामकृष्ण
३१	" ५ गुणप्रकाशविवृत्तिव्याख्यान	पं० जयराम भट्टाचार्य
३२	" किरणावलीभास्कर (किरणावली का दूसरा व्याख्यान)	पं पद्मनाभ मिश्र
३३—	पञ्जिका (न्यायकन्दली की टीका)	पं० राजशेखर सूरि
३४	सिद्धान्तमुक्ताहार	पं० पद्मनाभ मिश्र
३५	कणाद—रहस्य	
३६	लक्षणमाला सप्तपदार्थी—	पं० शिवादित्य मिश्र
	सप्तपदार्थी पर नीचे लिखी टीकायें हैं।	
३७	पदार्थचन्द्रिका	पं० शेषानन्त
३८	पदार्थचन्द्रिका की टीका	पं० नरसिंह
३९	२ मितभाषिणी	पं० मध्वसरस्वती(कृष्णातीरनिवासी)
४०	३ मितभाषिणी की टीका	पं० जिनवर्द्धनसूरि(सम्वत्१४७१)
४१	४ मितभाषिणी की लघुटीका	पं० सिद्धचन्द्रगणि

		ग्रन्थ	ग्रन्थकर्त्ता
४२	२	निष्कण्टका	पं० मल्लिनाथ
४३	अ०	बौद्धाधिकार (आत्मतत्त्वविवेक)	पं० उदयनाचार्य
		आत्मतत्त्व पर—नीचे लिखी टीकायें हैं।	
४४	१	दीधिति	पं० रघुनाथतार्किकशिरोमणि
४५	२	कल्पलता	पं० शङ्करमिश्र (भवनाथकेपुत्र)
४६	३	गदाधरी (गादाधरी)	पं० गदाधरभट्टाचार्यचक्रवर्त्ती
४७	४	व्याख्या "	पं० नारायण
४८	५	बौद्धाधिकार—दीधिति की व्याख्या—	पं० गदाधरभट्टाचार्यचक्रवर्त्ती
४९	छ०	न्यायकुसुमाञ्जलि	पं० उदयनाचार्य
		न्यायकुसुमाञ्जलि पर नीचे लिखी टीकायें हैं।	
५०	१	न्यायकुसुमाञ्जलिप्रकाश	पं० वर्द्धमानोपाध्याय
५१	२	न्यायकुसुमाञ्जलिव्याख्या	परमहंसपरिव्राजकाचार्यनारायणतीर्थ
५२	३	न्यायकुसुमाञ्जलिव्याख्या	महामहोपाध्यायपं०त्रिलोचन
५३	४	न्यायकुसुमाञ्जलिव्याख्या	म०म० पं० गुणानन्द
५४	५	न्यायकुसुमाञ्जलिव्याख्या	पं० हरिदास भट्टाचार्य
५५	१	मकरन्द (प्रकाश की व्याख्या)	पं० रुचिदत्त
		१०	
५६		न्यायलीलावती	म० म० पं० वल्लभाचार्य्य
५७	१	न्यायलीलावतीप्रकाश	पं० वर्द्धमानोपाध्याय
५८	२	न्यायलीलावतीदीधिति	पं० रघुनाथ तार्किकशिरोमणि
५९	३	न्यायलीलावतीकण्ठाभरण	म० म० पं० शङ्करमिश्र
६०		न्यायलीलावतीप्रकाशविवेक	म०म० पं० मथुरानाथ तर्कवा०
६१		तत्त्वचिन्तामणि	पं० गङ्गेशोपाध्याय
		तत्त्व चिन्तामणि पर नीचे लिखी टीकायें हैं—	
६२	१	तत्त्वचिन्तामणि की व्याख्या	पं० वासुदेवसार्वभौमभट्टाचार्य्य
६३	२	तत्त्वचिन्तामणि आलोक	पं० पक्षधर मिश्र
६४	३	तत्त्वचिन्तामणि दीधिति	पं० रघुनाथभट्टाचार्यता०शि०
६५	४	तत्त्वचिन्तामणि प्रकाश	पं० रुचिदत्त (पं०पक्षधरमिश्र के शिष्य)
६६	५	तत्त्वचिन्तामणि रहस्य	पं० मथुरानाथत०वा०(राम-तर्कालङ्कारात्मज)

	ग्रन्थ	ग्रन्थकार
६७	६ तत्त्वचिन्तामणि—आलोक	पं० जयराम भट्टाचार्य्य
६८	७ तत्त्वचिन्तामणिहनुमदीय	पं० हनुमान
६९	८ तत्त्वचिन्तामणिजागदीशी	पं० जगदीश भट्टाचार्य्य
७०	९ तत्त्वचिन्तामणिव्याख्या	पं० महेश्वर
७१	१० तत्त्वचिन्तामणिव्याख्या	पं० रघुदेव भट्टाचार्य्य
७२	११ तत्त्वचिन्तामणिराशिचक्र	म० म० गोकुलनाथ मैथिल
७३	१२ तत्त्वचिन्तामणिसार	पं० गोपीनाथ
७४	१३ तत्त्वचिन्तामणिचिन्तामणि परीक्षा	पं० पद्मनाभ (बलभद्रात्मज)
७५	१४ तत्त्वचिन्तामणिव्याख्या	पं० भवानन्द
७६	१५ तत्त्वचिन्तामणिदर्पण	पं० रामानुज दीक्षित
७७	१६ तत्त्वचिन्तामणि तर्क चूड़ामणि	पं० धर्मराजाध्वरी

११

(३) २ आलोक पर इतनी टीकायें हैं—

७८	१ मथुरानाथी	पं०मथुरानाथतर्कवागीशभट्टाचार्य
७९	२ गादाधरी	पं० गदाधर भट्टाचार्य्य चक्रवर्त्ती
८०	३ आलोकरहस्य	पं० न्यायकुमुदिनीपति गोपीनाथ
८१	४ आलोकविवेक	पं०गुणानन्दविद्यावागीशभट्टाचार्य
८२	५ आलोकरहस्य	महोपाध्याय पं० रघुपति

तत्त्वचिन्तामणि की व्याख्या दीधिति पर—नीचे लिखी टीकायें हैं

८३	१	मथुरानाथी	पं० मथुरानाथ तर्कवागीश
८४	२	भवानन्दी	म० म० पं० भवानन्द न्यायपञ्चानन त० वा० भट्टाचार्य
८५	३	जागदीशी	न्यायवाचस्पति पं० जगदीशत० अ० भट्टाचार्य
८६	४	गादाधरी	पं० गदाधर भट्टाचार्य चक्रवर्त्ती
८७	५	दीधितिव्याख्या	पं० न्याय वाचस्पति भट्टाचार्य
८८	६	व्याख्या	पं० जयराम न्यायपञ्चानन तर्कालङ्कार भ० चा०
८९	७	व्याख्या	पं० काशीनाथ
९०	८	रौद्री	पं० रुद्रभट्टाचार्य
९१	९	व्याख्या	पं० महेश
९२	१०	विद्योत	म० म० पं० गोकुलनाथ
९३	११	प्रवेश	पं० विश्वेश्वर पर्वतीय
९४	८४ २	सर्वोपकारिणी या प्रवेश	पं० महादेव (मुकुन्द के पुत्र)

१५

९५	४ (१) संगतिविवृत्ति	म०म०पं० कृष्णंभट्टआर्डे (काशीस्थ)

		ग्रन्थ	ग्रन्थकर्त्ता
९६		" (२) न्यायरत्न	पं० रघुनाथ शास्त्री पर्वतीय

२१ तर्कामृत की टीकायें:—

९७	१	चषक	पं० गंगारामजड़ी (नारायणके पुत्र)
९८	२	तर्कामृततरङ्गिणी	पं० मुकुन्द
९९	३	तर्कामृतदर्पण	? ?

२५ तर्कभाषा पर नीचे लिखी टीकायें हैं

१००	१	तर्कभाषाटीका	पं० गोवर्द्धन मिश्र (पं० केशवमिश्र का शिष्य)
१०१	२	टीका	पं० माधव भट्ट
१०२	३	प्रकाशिका	पं० चिन्नुभट्ट, सहजसर्वज्ञके पुत्र
१०३	४	प्रकाशिका (भावार्थदीपिका)	म०म०पं० गौरीकान्त भट्टाचार्य
१०४	५	प्रकाशिका	म० म० पं० कौण्डिन्य दीक्षित
१०५	६	प्रकाशिका	म० म० पं० बलभद्र त्रिपाठी विष्णुदास के पुत्र
१०६	७	तर्कभाषाभाव	पं० रोंवलवें कटवुद्ध
१०७	८	तर्कभाषाव्याख्या	पं० मुरारि (गंगाधर के पुत्र
१०८	९	तर्कभाषावृत्ति	पं० सिद्धचन्द्रगणि (जैन)
१०९	१०	युक्तिमुक्तावली	पं० नागेश भट्ट (?)
११०	११	तर्कभाषाव्याख्या	पं० माधवाचार्य

२६ तार्किक रक्षा पर इतनी टीकायें हैं—

१११	१	सारसंग्रह	? ?
११२	२	निष्कण्टका	पं० मल्लिनाथ
११३	३	न्यायकौमुदी	पं० विनयक भट्ट
११४	४	तार्किकरक्षा व्याख्या—व्याख्यान	पं० हरिहर

२८ न्यायसिद्धान्तमञ्जरी पर इतनी टीकायें हैं—

११५	१	तर्क प्रकाश	पं० श्री कण्ठ दीक्षित
११६	२	व्याख्या	पं०कृष्णन्यायवागीशभट्टाचार्य्य
११७	३	न्याय रत्नावली	? ?
११८	४	न्यायमञ्जरीप्रकाश	पं०भास्कर(लौगाक्षि.मुद्गलात्मज)
११९	५	न्यायसिद्धान्तमञ्जरीसार	पं० यादव (नृसिंहात्मज)

३० न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पर नीचे लिखी टीकायें हैं।

१२०	१	रौद्री	पं०रुद्रभट्टाचार्य्य(रामेश्वरपुत्र)
१२१	२	प्रकाश	पं०महादेवभट्टएवंपं०दिनकरभट्ट
१२२		प्रकाश की व्याख्या (रामरुद्री)	पं० रामरुद्र भट्टाचार्य्य

	ग्रन्थ	ग्रन्थकर्त्ता ।
	३२ तर्कसंग्रह पर नीचे लिखी टीकायें हैं ।	
१२३	१ न्यायबोधिनी	पं० शुक्ल रत्ननाथ
१२४	२ दीपिका	पं० अन्नभट्ट
१२५	३ व्याख्या	पं० मुरारि
१२६	४ सिद्धान्तचन्द्रोदय	पं० श्रीकृष्णधूर्जटि दीक्षित
१२७	५ न्यायबोधिनी	पं० गोवर्द्धन
१२८	६ टीका	पं० क्षमा कल्याण
१२९	७ न्यायार्थ लघुबोधिनी	पं० गोवर्द्धन रंगाचार्य
१३०	८ टीका	पं० गौरीकान्त
१३१	९ पदकृत्य	पं० चन्द्रसिंह
१३२	१० निरुक्ति	पं० जगन्नाथ शास्त्री
१३३	११ निरुक्ति (वाक्यार्थ)	प० पद्माभिराम
१३४	१२ चन्द्रिका	पं० मुकुन्द
१३५	१३ वाक्यवृत्ति	पं० मेरुशास्त्री गोडबोले
१३६	१४ तरङ्गिणी	प० विन्ध्येश्वरी प्रसाद
१३७	१५ तर्कचन्द्रिका	पं० वैद्यनाथ माडगील

न्याय के प्रकीर्णग्रन्थों की सूची ।

	ग्रन्थ	ग्रन्थकर्त्ता
१३८	१ अनुमानलक्षण	पं० लक्ष्मीदास
१३९	२ अनुमितिमानस	पं० हरिराम तर्कालङ्कार
१४०	३ आकाङ्क्षावाद	पं० रघुदेव भट्टाचार्य्य
१४१	४ आख्यातवाद	पं० रघुनाथ तार्किकशिरोमणि
१४२	५ ईश्वरवाद	पं० रघुदेव भट्टाचार्य्य
१४३	६ एवकारवादार्थ	पं० हरिराम भट्टाचार्य्य
१४४	७ कारकवाद	पं० जयराम भट्टाचार्य्य
१४५	८ कारकवाद	पं० भवानन्द
१४६	९ क्रोडपत्राणि	पं० शङ्कर मिश्र
१४७	१० गुणरहस्य	??
१४८	११ गुणरहस्यप्रकाश	??
१४९	१२ चित्ररूपवादार्थ	पं० न्याय वाचस्पतिभट्टाचार्य्य
१५०	१३ पं० जगन्नाथ दीक्षितीय	पं० जगन्नाथ दीक्षित

		ग्रन्थ	ग्रन्थकर्त्ता
१५१	१४	जातिमाला	??
१५२	१५	तर्ककुतूहल	पं० विश्वेश्वर पर्वतीय
१५३	१६	तर्कचन्द्रिका	पं० विश्वेश्वराश्रय
१५४	१७	तर्कपरिभाषा	??
१५५	१८	तर्कप्रदीप	पं० कौण्ड भट्ट
१५६	१९	नञर्थवादटीका	पं० जयराम
१५७	२०	न्यायकलिका	पं० जयराम
१५८	२१	न्यायकौस्तुभ	पं० महादेव पुणयताम्बेर
१५९	२२	न्यायपरिजात	पं० मल्लभट्ट
१६०	२३	न्यायमञ्जरी	पं० जयन्त भट्ट
१६१	२४	न्यायसार	??
१६२	२५	न्यायसारविचार	म० म० पं० राघव भट्ट
१६३	२६	न्यायसिद्धान्ततत्त्व	पं० गोकुल नाथ
१६४	२७	न्यायसिद्धान्तमाला	पं० जयराम भट्टाचार्य
१६५	२८	पदार्थदीपिका	पं० कोण्डभट्ट (रंगोजीभट्टकेपुत्र)
१६६	२९	पदार्थमालाप्रकाश	पं० लौगाक्षि भास्कर।
१६७	३०	पदार्थविवेक	? ?
१६८	३१	पदार्थविवेकटीका	पं० गोपीनाथ मौनी।
१६९	३२	परामर्शविचार	म०म०पं०हरिरामतर्कालङ्कारभ०चा०
१७०	३३	प्रकाशतावादार्थ	" " " " " "
१७१	३४	प्रतियोगिताज्ञानकारणताविचार	म०म० पं० गोविन्द।
१७३	३६	बाधबुद्धिवादार्थ	? ?
१७४	३७	भावदीपिका	पं० श्रीकृष्ण न्यायवागीशभ०चा०
१७५	३८	भावारत्न	पं० कणादा पर नामा रघुदेव
१७६	३९	मितभाषिणी	? ?
१७७	४०	मुक्तिवाद	पं० गदाधर।
१७८	४१	रत्नकोशवाद (रत्नकोशविचार)भ० म०पं० न्या० पं० हरिराम त०अ०	
१७९	४२	लाघवगौरवरहस्य	पं० गोकुलनाथ।
१८०	४३	वाक्यार्थभेदवाद	पं० आवदेवसूनु।
१८१	४४	विधिनिरूपण	पं० रुद्र भट्टाचार्य।
१८२	४५	विधिवाद	पं० गदाधर भट्टाचार्य।

१८३	४६	विशिष्टवैशिष्ट्यवादार्थ	पं० हरिराम भट्टाचार्य ।
१८४	४७	विषयतावादार्थ	? ?
१८५	४८	व्युत्पत्तिवाद	पं० गदाधर भट्टाचार्य ।
१८६	४९	शक्तिवाद	पं० गदाधर भट्टाचार्य ।
१८७	५०	शब्दार्थतर्कामृत	पं० श्रीकृष्णभट्ट ।
१८८	५१	शब्दार्थमञ्जरी	पं० भवानन्द ।
१८९	५२	समासवाद	म०म०न्या०पं०वासुदेवभट्टाचार्य
१९०	५३	सिद्धान्तदीपप्रभा(शशधरीयव्याख्या) *	

न्याय के सूत्र, भाष्य और वार्त्तिक का विचार ।

न्याय सूत्र और भाष्य के बनने के बीच के समय में किन्हीं ने वार्त्तिक रचे हैं, जिन का नाम नहीं पाया जाता, जैसे पाणिनीय व्याकरण के सूत्र-भाष्य के मध्य में कात्यायन रचित वार्त्तिक हैं इसी प्रकार गौतमीय न्याय पर किसी के वार्त्तिक हैं । भाष्य और वार्त्तिक का लक्षण यह है " सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुरिति " और "उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्त्तते तं ग्रन्थं वार्त्तिकं प्राहुर्वार्त्तिकज्ञा मनीषिणः "

अर्थात् जो सूत्र के अनुसार पदों द्वारा सूत्र के अर्थ का वर्णन करे और अपने पदों को भी कहै उस " भाष्य " कहते हैं । और वार्त्तिक वह है जिस में सूत्र में कहा हुआ या जो न कहा गया हो या ठीक नहीं कहा गया हो इन तीन प्रकार का वर्णन जिस में वह ग्रन्थ वार्त्तिक है । इन दो लक्षणों से न्याय-भाष्य में लिपि आदि दोषों से जो भाष्य में सूत्र मिल गये या सूत्र भाष्य में मिला दिये गये एवं वार्त्तिक को सूत्र किये । इन को न्याय के अनेक ग्रन्थों के छानबीन से विशेषतः—उद्योतकर कृत न्यायवार्त्तिक पं० वाचस्पति मिश्र कृत न्यायवार्त्तिकतात्पर्यटीका, उदयनाचार्य कृत तात्पर्य परिशुद्धि और विश्वनाथ पञ्चानन कृत गौतमसूत्रवृत्ति के अवलम्ब से गौतमीय न्यायभाष्य में सूत्र, वार्त्तिकभाष्य इन को अलग २ यथा स्थान में मोटे अक्षरों में संख्या डाल कर सूत्र और ऐसे * चिन्ह के साथ मोटे अक्षरों में वार्त्तिक और छोटे अक्षरों में भाष्य तथा भाषानुवाद छापे गये हैं ।

इस न्याय शास्त्र में ५ अध्याय हैं और प्रत्येक अध्यायों में दो २ आन्हिक हैं । प्रत्येक अध्याय और आन्हिक में सूत्र,वार्त्तिक कितने हैं—इन को नीचे लिखे चक्र द्वारा दिखलाते हैं ।

(*)—एवमन्येऽपि न्यायवैशेषिकशास्त्रीयाः कचन नाममात्र प्रसिद्धाः केचन समग्राश्च वर्त्तमाना बहवो ग्रन्थाः सन्ति । तथाऽपि विस्तरभयात् तेषां नामानि न सर्वाणि लिखितानि । इत्यलं वार्त्तामिति शम ॥

गौतमीय न्यायशास्त्र के सूत्र एवं वार्त्तिकों की सूची ॥

	अध्याय	आन्हिक	सूत्र	वार्त्तिक	वार्त्तिक–विवरण ।
	१	१	४१	२२	भाष्य की अवतरणिका ——में——३ वार्त्तिक है २२ वें सूत्र पर————— ——१९ ,,
	,,	२	१९	००	
	२	१	६८	२५	६-- ११-- १८--३१—३२—३६ सूत्रों पर १ —३ —७ —१ —१ —१२ वार्त्तिक हैं।
	,,	२	६९	१४	१३--३८—४०--४६ सूत्रों पर ४-- ६-- १—- ३ वार्त्तिक हैं।
	३	१	७३	४	१ --५२ सूत्रों पर १—- ३ वार्त्तिक हैं।
	,,	२	७७	१२	३–१७–३२--३४--३६--४७–५०–४४ सूत्रों पर ३ - २ – १ -२ --१ –१—१—१ वार्त्तिक हैं।
	४	१	६८	११	३२ - ३६–३७- ४०- ६०–६२–६४ सूत्रों पर २— १ -१- - १ --४— १—१ वार्त्तिक हैं।
	,,	२	५१	६	१२ - १४ २२ ३३—३४ सूत्र पर १ १— १ २ — १ वार्त्तिक हैं।
	५	१	४३	१	२६ वें सूत्र पर १ वार्त्तिक है।
	०	२	२४	००	
योग	५	१०	५३०	९५	

उपसंहार ॥

—⁐—:*:—⁐—
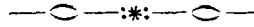
यद्यपि–दर्शन के विषय ऐसे कठिन हैं जो इन का लोक भाषा में अनुवाद करना बहुत कठिन है। परन्तु तथापि यथा शक्ति हमने इस का अनुवाद सुगम करने में त्रुटि नहीं कियी है। गौतमीय सूत्र पर महर्षि वात्स्यायन ने वि-विस्तार पूर्वक भाष्य किया है, यदि भाष्य का अक्षरशः अनुवाद किया जाता तो ग्रन्थ बहुत बढ़कर पाठकों को पढ़ने में घबड़ाने का कारण होता इसलिये हमने कहीं तो भाष्य का पूरा २ अनुवाद किया है और कहीं भाष्य के अपेक्षित अंशों का अनुवाद किया है। और कहीं २ भाष्य से भी अधिक अनुवाद किया है। यह अनुवाद केवल दर्शन रसिक संस्कृतानभिज्ञ पाठकों के लिये विशेष उपयोगी होगा और भूमिका में षड्दर्शन समन्वयादि विषय पण्डितों को भी उपयोगी है।

आशा है कि पाठकगण इस सभाष्य सानुवाद न्याय को पढ़ कर लाभ उठावेंगे जिस्से हमारा परिश्रम सफल होगा॥ इति॥

क्षत्रिय कुमार–उदयनारायण सिंह

शास्त्रप्रकाश कार्य्यालय

न्यायभाष्यस्य विषयानुक्रमणिका ॥

विषय	पृ० सं०
घ्राणआदि का स्वगत गुण ग्राहकत्व	१६८
चक्षु इन्द्रिय का एक होना	१६८
छलके द्वित्वमें आक्षेप, और परिहार	४८
छल का लक्षण	४४
छल का विभाग	४४
जल्प के लक्षण	३९
जल्प, वितण्डा के प्रयोग निरूपण	२६३
जातियों के पद्वाच्यत्व का पूर्वपक्ष	१३०
जाति का लक्षण	४९
जाति का लक्षण	१३१
जाति का उत्तरविभाग	२६५
ज्ञातव्य पदार्थ का निरूपण	२
ज्ञानगतव्यक्तत्वाव्यक्तत्वनिरूपण	१९५
ज्ञान का एक साथ होने का खण्डन	१८०
ज्ञान का मन के गुण होने का खंडन	१८०
ज्ञान का आत्म गुणत्व का उपसंहार	१८९
ज्ञान, इच्छा आदि का एक गुणत्व	१८६
तत्त्वज्ञान का फल	२४५
तत्त्वज्ञान विषय का विचार	२४४
तत्त्वज्ञानका क्रमशःअपवर्गमेंउपयोग	६
तत्त्वज्ञान का उपाय कथन	२६०
तर्कनिरूपण का उयोग	४
तर्क का लक्षण	३६
तर्क के उपयोग का निरूपण	३६
दुःख—परीक्षा	२३३
दुःख का लक्षण	२०
दुःख के सुखाभावत्व का निरास	२३४
दृष्टान्त का लक्षण	२८

विषय	पृ० सं०
दोष के ३ प्रकार होने की व्यवस्था	२११
दोष का लक्षण	१९
निगमन का लक्षण	३४
निग्रहस्थान का अनेक होना	५०
निग्रहस्थान का लक्षण	५०
निग्रहस्थान का विभाग	२८७
निर्णय का लक्षण	३७
निर्णय में विमर्श की अनावश्यकता	३७
नित्यसम का खण्डन	२८१
नित्यसम का लक्षण	२८१
नित्यसुख की अभिव्यक्ति खण्डन	२१
नित्यसुख में मोक्ष की असिद्धि	२३
निरनुयोज्यानुयोग का लक्षण	२९४
निरर्थक का लक्षण	२९१
न्यून का लक्षण	२९२
पांच अवयवों के निरूपणोपयोग	४३
पांच अवयवों का प्रयोजन	३५
पद का लक्षण	१२६
पदार्थोंके प्रातीतिकत्व का खण्डन	२५५
पदार्थोंके प्रातीतिकत्वखण्डनयुक्ति	२५८
पर्यनुयोज्योपेक्षण का लक्षण	२९४
परमाणु के निरवयव होने में आक्षेप	२५१
परमाणु के सावयव मानने में युक्ति	२५३
परमाणुओं का स्वरूप निरूपण	२५१
परमाणु के सावयव होनेका खण्डन	२५४
परिणामवाद का खण्डन	१७७
पुनरुक्त का लक्षण	२९२

ओं परमात्मने नमः ।

—:*:—

गौतमीयन्यायभाष्यस्यावतरणिका ।

——○:*:○——

*** प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम् ।**

प्रमाणमन्तरेण नार्थप्रतिपत्तिः नार्थप्रतिपत्तिमन्तरेण प्रवृत्तिसामर्थ्यम् । प्रमाणेन खल्वयं ज्ञाताऽर्थमुपलभ्य तमर्थमभीप्सति जिहासति वा । तस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य समीहा प्रवृत्तिरित्युच्यते । सामर्थ्यं पुनरस्याः फलेनाभिसंबन्धः समीहमानस्तमर्थमभीप्सन् जिहासन्वा तमर्थमाप्नोति जहाति वा । अर्थस्तु सुखं सुखहेतुश्च दुःखंदुःखहेतुश्च । सोऽयं प्रमाणार्थोऽपरिसंख्येयः प्राणभृद्भेदस्यापरिसंख्येयत्वात् । अर्थवति च प्रमाणे प्रमाता प्रमेयं प्रमितिरित्यर्थवन्ति भवन्ति । कस्मात् अन्यतमापायेऽर्थस्यानुपपत्तेः । तत्र यस्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता स येनार्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणं योऽर्थः प्रमीयते तत्प्रमेयं यदर्थविज्ञानं सा प्रमितिः चतसृषु चैवंविधास्वर्थतत्त्वं परिसमाप्यते । किं पुनस्तत्त्वम् ?

*** सतश्च सद्भावोऽसतश्चासद्भावः ।**

सत्सदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति । असच्चासदिति गृह्यमाणं यथाभूतमविपरीतं तत्त्वं भवति । कथमुत्तरस्य प्रमाणेनोपलब्धिरिति ।

*** सत्युपलभ्यमाने तदनुपलब्धेः प्रदीपवत् ।**

यथा दर्शकेन दीपेन दृश्ये गृह्यमाणे तदिव यन्न गृह्यते तन्नास्ति यद्यभविष्यदिदमिव व्यज्ञास्यत विज्ञानाभावान्नास्तीति (एवं प्रमाणेन सति गृह्यमाणे तदिव यन्न गृह्यते तन्नास्ति यद्यभविष्यदिदमिव व्यज्ञास्यत विज्ञानाभावान्नास्तीति) तदेवं सतः प्रकाशकं प्रमाणमसदपि प्रकाशयतीति । सच्च खलु षोडशधा व्यूढमुपदेक्ष्यते । तासां खल्वासां सद्विधानाम् ।

भा०:—बिना प्रमाण के किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता और वस्तु ज्ञान के बिना उस में प्रवृत्ति नहीं होती इस लिये प्रमाण प्रयोजनवाला होता है । प्रमाण ही से ज्ञाता किसी वस्तु को जानकर उसके पाने या छोड़ने की इच्छा करता । ज्ञाता (जानने वाला) की पाने या छोड़ने की इच्छा सहित चेष्टा का नाम प्रवृत्ति है । फिर इसके फलके साथ सम्बन्ध रखता हुआ सम्यक् चेष्टा-

वान् पुरुष उस वस्तु के पाने या छोड़ने की इच्छा करता हुआ उसे पाता या छोड़ता है। सुख और सुख के कारण एवं दुःख और दुःख के कारण– ये ही अर्थ (वस्तु) हैं। सो ये प्रमाण से जानने योग्य पदार्थ प्राणियों के असंख्य होने से असंख्य हैं और प्रयोजनवाला प्रमाण होने से प्रमाता, प्रमेय, प्रमिति ये सफल होते हैं। क्यों कि यदि इन में से एक न हो तो पदार्थ की सिद्धि नहीं होती। उनमें से 'प्रमाता, उसे कहते जो वस्तु के पाने या छोड़ने की इच्छा करता और जिसके द्वारा प्रमाता–पदार्थ की जांच (निश्चय) करता उसे 'प्रमाण, और जो वस्तु जांची जावे उसे 'प्रमेय, (प्रमाण का विषय) कहते हैं। और जांचने पर जो ज्ञान हो उसे 'प्रमिति, कहते हैं। इन चार ही प्रकार की क्रियाओं से अर्थ तत्त्व की समाप्ति हो जाती है तो फिर " तत्त्व " क्या है?

'सत्' को ठीक सत् ही जानना, और 'असत्, को 'असत्, ही जानने का नाम 'तत्त्व, है। जैसे किसी दृश्य पदार्थ के देखने के लिये दर्शक दीपक लेकर अन्धकार में रक्खे पदार्थ को देखता है–तो उस प्रकाश के द्वारा जो पदार्थ रहता है, वह दीख पड़ता, और जो नहीं रहता वह नहीं दीखता। (जैसे) नहीं देखने से पदार्थ का न रहना निश्चित होता, उसी प्रकार प्रमाण ही से जो पदार्थ रहता उसका भी निश्चय हो जाता है एवं जो नहीं रहता उस के न रहने का भी निश्चय हो जाता है। वह प्रमाण यहां संक्षेप में (इस शास्त्र में) १६ प्रकार से कहा गया है जैसेः—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥

निर्देशे यथावचनं विग्रहः। चार्थे द्वन्द्वसमासः। प्रमाणादीनां तत्त्वमिति शैषिकी षष्ठी। तत्त्वस्य ज्ञानं निःश्रेयसस्याधिगम इति कर्मणि षष्ठ्यौ। तएतावन्तो विद्यमानार्थाः! एषामविपरीतज्ञानार्थमिहोपदेशः। सोऽयमनवयवेन तन्त्रार्थ उद्दिष्टो वेदितव्यः। आत्मादेः खलु प्रमेयस्य तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः। तच्चैतदुत्तरसूत्रेणानूद्यतइति। हेयं तस्य निर्वर्त्तकं हानमात्यन्तिकं तस्योपायो ऽधिगन्तव्य इत्येतानि चत्वार्य्यर्थपदानि सम्यग्बुद्ध्वा निःश्रेयसमधिगच्छति।

तत्र संशयादीनां पृथग्वचनमनर्थकम्। संशयादयो यथासम्भवं प्रमाणेषु प्रमेयेषु चान्तर्भवन्तो न व्यतिरिच्यन्तइति। सत्यमेतत्। इमास्तु चतस्रो विद्याः

पृथक्प्रस्थानाः प्राणभृतामनुग्रहायोपदिश्यन्ते यासां चतुर्थीयमान्वीक्षिकी न्यायविद्या । तस्याः पृथक्प्रस्थानाः संशयादयः पदार्थाः तेषां पृथग्वचनमन्तरेणाध्यात्मविद्यामात्रमियं स्यात् यथोपनिषदः । तस्मात्संशयादिभिः पदार्थैः पृथक् प्रस्थाप्यते । तत्र नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किं तर्हि संशयितेऽर्थे। यथोक्तं "विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णय" इति । विमर्शः संशयः पक्षप्रतिपक्षौ न्यायप्रवृत्तिः अर्थावधारणं निर्णयस्तत्त्वज्ञानमिति । स चायं किंस्विदिति वस्तुविमर्शमात्रमनवधारणं ज्ञानं संशयः प्रमेयेऽन्तर्भवन्नेवमर्थं पृथगुच्यते । अथ प्रयोजनम् । "येन प्रयुक्तः प्रवर्त्तते तत्प्रयोजनम्" । यमर्थमभीप्सन् जिहासन्वा कर्मारभते तेनानेन सर्वे प्राणिनः सर्वाणि कर्माणि सर्वाश्च विद्या व्याप्ताः तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्त्तते। कः पुनरयं न्यायः । प्रमाणैरर्थपरीक्षणं न्यायः । प्रत्यक्षागमाश्रितमनुमानं साऽन्वीक्षा प्रत्यक्षागमाभ्यामीक्षितस्यान्वीक्षणमन्वीक्षा तया प्रवर्त्तत इत्यान्वीक्षिकी न्यायविद्या न्यायशास्त्रम् । यत्पुनरनुमानं प्रत्यक्षागमविरुद्धं न्यायाभासः स इति । तत्र वादजल्पौ सप्रयोजनौ वितण्डा तु परीक्ष्यते । वितण्डया प्रवर्तमानो वैतण्डिकः । स प्रयोजनमनुयुक्तो यदि प्रतिपद्यते सोऽस्य पक्षः सोऽस्य सिद्धान्त इति वैतण्डिकत्वं जहाति । अथ न प्रतिपद्यते नायं लौकिको न परीक्षक इत्यापद्यते। अथापि परपक्षप्रतिषेधज्ञापनं प्रयोजनं ब्रवीति एतदपि तादृगेव । यो ज्ञापयति यो जानाति येन ज्ञाप्यते यच्च प्रतिपद्यते यदि तदा वैतण्डिकत्वं जहाति अथ न प्रतिपद्यते परपक्षप्रतिषेधज्ञापनं प्रयोजनमित्येतदस्य वाक्यमनर्थकं भवति। वाक्यसमूहश्च स्थापनाहीनो वितण्डा तस्य यद्यभिधेयं प्रतिपद्यते सोऽस्य पक्षः स्थापनीयो भवति अथ न प्रतिपद्यते प्रलापमात्रमनर्थकं भवति वितण्डात्वं निवर्तत इति। अथ दृष्टान्तः प्रत्यक्षविषयोऽर्थः यत्र लौकिकपरीक्षकाणां दर्शनं न व्याहन्यते स च प्रमेयम् । तस्य पृथग्वचनं च तदाश्रयावनुमानागमौ तस्मिन्सति स्यातामनुमानागमावसति च न स्याताम् । तदाश्रया च न्यायप्रवृत्तिः । दृष्टान्तविरोधेन च परपक्षप्रतिषेधो वचनीयो भवति दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षः साधनीयो भवति । नास्तिकश्च दृष्टान्तमभ्युपगच्छन्नास्तिकत्वं जहाति । अनभ्युपगच्छन् किंसाधनः परमुपालभेतेति । निरुक्तेन च दृष्टान्तेन शक्यमभिधातुं "साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्" । "तद्विपर्ययाद्विपरीतमिति" । अस्त्ययमित्यनुज्ञायमानोऽर्थः सिद्धान्तः । स च प्रमेयं तस्य पृथग्वचनं सत्सु सिद्धान्तभेदेषु वादजल्पवितण्डाः प्रवर्त्तन्ते नातोऽन्यथेति । साधनीयार्थस्य यावति शब्दसमूहे सिद्धिः परिसमाप्यते तस्य पञ्चावयवाः प्रतिज्ञादयः समूहमपे-

श्चावयवा उच्यन्ते। तेषु प्रमाणसमवाय आगमः प्रतिज्ञा हेतुरनुमानम्। उदाहरणं प्रत्यक्षम्। उपनयनमुपमानं सर्वेषामेकार्थसमवाये सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति। सोऽयं परमो न्याय इति। एतेन वादजल्पवितण्डाः वर्त्तन्ते नातोऽन्यथेति। तदाश्रया च तत्त्वव्यवस्था। ते चैतेऽवयवाः शब्दविशेषाः सन्तः प्रमेयेऽन्तर्भूता एवमर्थं पृथगुच्यन्त इति। तर्को न प्रमाणसंगृहीतो न प्रमाणान्तरं प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्वज्ञानाय कल्पते। तस्योदाहरणं किमिदं जन्म कृतकेन हेतुना निर्वर्त्यते आहोस्विदकृतकेन। एवमविज्ञातेऽर्थे कारणोपपत्त्या ऊहः प्रवर्त्तते यदि कृतकेन हेतुना निर्वर्त्यते हेतूच्छेदादुपपन्नोऽयं जन्मोच्छेदः अथाकृतकेन हेतुना ततो हेतूच्छेदस्याशक्यत्वादनुपपन्नो जन्मोच्छेदः। अथाकस्मिकमतोऽकस्मान्निर्वर्त्यमानं न पुनर्निवर्त्स्यतीति निवृत्तिकारणं नोपपद्यते तेन जन्मानुच्छेद इति। एतस्मिंस्तर्कविषये कर्मनिमित्तं जन्मेति प्रमाणानि प्रवर्त्तमानानि तर्केणानुगृह्यन्ते तत्त्वज्ञानविषयस्य विभागात्तत्त्वज्ञानाय कल्पते तर्क इति। सोऽयमित्थम्भूतस्तर्कः प्रमाणसहितो वादे साधनायोपालम्भाय चार्थस्य भवतीत्येवमर्थं पृथगुच्यते प्रमेयान्तर्भूतोऽपीति। निर्णयस्तत्त्वज्ञानं प्रमाणानां फलं तदवसानो वादः। तस्य पालनार्थं जल्पवितण्डे। तावेतौ तर्कनिर्णयौ लोकयात्रां वहत इति। सोऽयं निर्णयः प्रमेयान्तर्भूत एवमर्थं पृथगुद्दिष्ट इति। वादः खलु नानाप्रवक्तृकः प्रत्यधिकरणसाधनोऽन्यतराधिकरणनिर्णयावसानो वाक्यसमूहः पृथगुद्दिष्ट उपलक्षणार्थम्। उपलक्षितेन व्यवहारस्तत्त्वज्ञानाय भवतीति। तद्विशेषौ जल्पवितण्डे तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थमित्युक्तम्। निग्रहस्थानेभ्यः पृथगुद्दिष्टा हेत्वाभासा वादे चोदनीया भविष्यन्तीति जल्पवितण्डयोस्तु (निग्रहस्थानानीति। छलजातिनिग्रहस्थानानां पृथगुपदेश उपलक्षणार्थ इति उपलक्षितानां स्ववाक्यपरिवर्जनं छलजाति) निग्रहस्थानानां परवाक्ये पर्यनुयोगः। जातेश्च परेण प्रयुज्यमानायाः सुलभः समाधिः स्वयं च सुकरः प्रयोग इति। सेयमान्वीक्षिकी प्रमाणादिभिः पदार्थैर्विभज्यमाना।

प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्वकर्मणाम्।
आश्रयः सर्वधर्माणां विद्योद्देशे प्रकीर्त्तिता॥

तदिदं तत्त्वज्ञानं निःश्रेयसाधिगमार्थं यथाविद्यं वेदितव्यम्। इह त्वध्यात्मविद्यायामात्मादितत्त्वज्ञानं निःश्रेयसाधिगमोऽपवर्गप्राप्तिः।

तत्खलु निःश्रेयसं किं तत्त्वज्ञानानन्तरमेव भवति। नेत्युच्यते। किं तर्हि तत्त्वज्ञानात्--

भा०:—१ प्रमाण २ प्रमेय ३ संशय ४ प्रयोजन ५ दृष्टान्त ६ सिद्धान्त ७ अवयव ८ तर्क ९ निर्णय १० वाद ११ जल्प १२ वितण्डा १३ हेत्वाभास १४ छल १५ जाति और १६ निग्रह स्थान, इन पदार्थों के तत्वज्ञान से मोक्ष होता है।

जिसके द्वारा यथार्थ ज्ञान हो उसे "प्रमाण" कहते और जो प्रमाण से जाना जाता उसे "प्रमेय" कहते हैं। जो वस्तु वास्तव में जैसी है उसे वैसा ही जानने का नाम तत्त्वज्ञान है। इस शास्त्र के ४ प्रतिपाद्य विषय हैं–१ हेय, (दुःख) २ हेयहेतु, (दुःख का कारण) ३ हान (नाश) और ४ हान का उपाय, इनको भली भांति समझने से मुक्ति होती है। सूत्र–में प्रमाण आदि १६ पदार्थों का वर्णन हुआ है। इन में से प्रमाण और तत्त्वज्ञान को छोड़ शेष संशय आदि इन्हीं में आजाते हैं। फिर सूत्रकार ने इनका वर्णन अलग२ क्यों किया? उत्तर–प्राणियों के हित के लिये ४ प्रकार की विद्याओं का उपदेश किया गया है, जिनमें से चौथी यह न्यायविद्या है। यदि इस न्यायविद्या में संशय आदि पृथक् प्रतिपाद्य विषय में परिगणित न हों तो, उपनिषद् की नाईं यह भी अध्यात्म विद्यामात्र हो जावेगी। इस कारण–संशय आदि पदार्थों का भिन्न २ वर्णन किया गया है। क्योंकि सन्दिग्ध पदार्थों में न्याय की प्रवृत्ति होती है। असंदिग्ध या अज्ञात में नहीं। इसी प्रकार प्रयोजन–के विना संसार में कोई प्राणी किसी कार्य्य में प्रवृत्त नहीं होता अतएव–यह भी न्यायविद्या का मुख्य विषय है। यदि यह कहो कि–प्रयोजन ही के आश्रय से न्याय की प्रवृत्ति है तो–फिर न्याय किसे कहते हैं? प्रमाणों से वस्तु की परीक्षा करने का नाम न्याय है। प्रत्यक्ष और वेद के आश्रित अनुमान को अन्वीक्षा कहते और इसी का नाम आन्वीक्षिकी या न्यायविद्या है। जो अनुमान प्रत्यक्ष और आगम के विरुद्ध हो, उसे न्यायाभास कहते हैं। जिस प्रकार संशय और प्रयोजन के भिन्न पढ़ने का कारण दिखलाया गया है उसी प्रकार बाकी दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान–इन प्रत्येक को विशेष प्रयोजन से (जो आगे सूत्रों के अनुवाद से मालूम होगा) सूत्र में भिन्न २ कहा है॥ यह न्यायविद्या प्रमाणादि पदार्थों सहित कही गयी है,। यह न्याय शास्त्र दीपक की नाईं सब विद्याओं के प्रकाशित करने का उपाय है और सब धर्म सत्कर्म का अवलम्ब, और मोक्ष कराने वाला है–इससे इसको अवश्य पढ़ना चाहिये। संशय आदि पदार्थों के लक्षण आगे सूत्रकार ने स्वयं करदिये हैं, भाष्यकार ने यहां भी लिखे हैं पुनरुक्त होने के कारण

हमने भाष्योक्त लक्षणों का अनुवाद यहां नहीं किया, इसी अध्याय के सूत्र २३, २४, २५, २६, ३२, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ४५, ५१, ५९, ६० में क्रम से लिखे हैं वहां २ देख लेना चाहिये।

प्रश्न—तो क्या ज्यों हीं उक्त १६ पदार्थों का तत्त्वज्ञान हुआ और मोक्ष होता है? नहीं, फिर तत्त्वज्ञान से क्या होता है:— ॥ १ ॥

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्गः ॥ २ ॥

तत्रात्माद्यपवर्गपर्यन्तं प्रमेये मिथ्याज्ञानमनेकप्रकारकं वर्त्तते आत्मनि तावन्नास्तीति अनात्मन्यात्मेति दुःखे सुखमिति अनित्ये नित्यमिति अत्राणे त्राणमिति सभये निर्भयमिति जुगुप्सितेऽभिमतमिति हातव्येऽप्रतिहातव्यमिति प्रवृत्तौ नास्ति कर्म नास्ति कर्म्मफलमिति दोषेषु नायं दोषनिमित्तः संसार इति प्रेत्यभावे नास्ति जन्तुर्जीवो वा सत्त्व आत्मा वा यः प्रेयात्प्रेत्य च भवेदिति अनिमित्तं जन्मानिमित्तो जन्मोपरम इत्यादिमान् प्रेत्यभावोऽनन्तश्चेति नैमित्तिकः सन्न कर्मनिमित्तः प्रेत्यभाव इति देहेन्द्रियबुद्धिवेदनासन्तानोच्छेदप्रतिसन्धानाभ्यां निरात्मकः प्रेत्यभाव इति अपवर्गे भीष्मः खल्वयं सर्वकार्य्योपरमः सर्वविप्रयोगेऽपवर्गे बहु भद्रकं लुप्यतइति कथं बुद्धिमान्सर्वसुखोच्छेदमचैतन्यममुमपवर्गं रोचयेदिति। एतस्मान्मिथ्याज्ञानादनुकूलेषु रागः प्रतिकूलेषु द्वेषः रागद्वेषाधिकाराच्चासूयेर्ष्यामायालोभादयो दोषा भवन्ति। दोषैः प्रयुक्तः शरीरेण प्रवर्त्तमानो हिंसास्तेयप्रतिषिद्धमैथुनान्याचरति। वाचाऽनृतपरुषसूचनाऽसम्बद्धानि। मनसा परद्रोहं परद्रव्याभीप्सां नास्तिक्यं चेति। सेयं पापात्मिका प्रवृत्तिरधर्म्माय। अथ शुभा शरीरेण दानं परित्राणं परिचरणं च। वाचा सत्यं हितं प्रियं स्वाध्यायं चेति। मनसा दयामस्पृहां श्रद्धाञ्चेति। सेयं धर्म्माय। अत्र प्रवृत्तिसाधनौ धर्माधर्मौ प्रवृत्तिशब्देनोक्तौ। यथाऽन्नसाधनाः प्राणाः अन्नं वै प्राणिनः प्राणा इति। सेयं प्रवृत्तिः कुत्सितस्याभिपूजितस्य च जन्मनः कारणम्। जन्म पुनः शरीरेन्द्रियबुद्धीनां निकायविशिष्टः प्रादुर्भावः तस्मिन्सति दुःखं तत्पुनः प्रतिकूलवेदनीयं बाधना पीडा ताप इति। तइमे मिथ्याज्ञानादयो दुःखान्ता धर्म्मा अविच्छेदेनैव प्रवर्त्तमानाः संसार इति। यदा तु तत्त्वज्ञानान्मिथ्याज्ञानमपैति तदा मिथ्याज्ञानापाये दोषा अपयन्ति दोषापाये प्रवृत्तिरपैति प्रवृत्त्यपाये जन्मापैति जन्मापाये दुःखमपैति दुःखापाये च आत्यन्तिकोऽपवर्गो निःश्रेयसमिति। तत्त्वज्ञानं तु खलु मिथ्याज्ञानविपर्ययेण व्याख्यातम्। आत्मनि तावदस्तीति प्र-

नात्मन्यनात्मेति एवं दुःखे नित्ये त्राणे सभये जुगुप्सिते हातव्ये च यथाविषयं वेदितव्यम् । प्रवृत्तौ अस्ति कर्मास्ति कर्मफलमिति । दोषेषु दोषनिमित्तोऽयं संसार इति प्रेत्यभावे खल्वस्ति जन्तुर्जीवः सत्त्वः आत्मा वा यः प्रेत्य भवेदिति निमित्तवज्जन्म निमित्तवान् जन्मोपरम इत्यनादिः प्रेत्यभावो ऽपवर्गान्त इति नैमित्तिकः सन्प्रेत्यभावः प्रवृत्तिनिमित्त इति सात्मकः सन् देहेन्द्रियबुद्धिवेदनासन्तानोच्छेदप्रतिसन्धानाभ्यां प्रवर्त्तत इति अपवर्गे शान्तः खल्वयं सर्वविप्रयोगः सर्वोपरमोऽपवर्गः बहु च कृच्छ्रं घोरं पापकं लुप्यत इति कथं बुद्धिमान् सर्वदुःखोच्छेदं सर्वदुःखासंविदमपवर्गं न रोचयेदिति । तद्यथा मधुविषसंपृक्तान्नमनादेयमिति एवं सुखं दुःखानुषक्तमनादेयमिति ।

त्रिविधा चास्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिरुद्देशो लक्षणं परीक्षा चेति । तत्र नामधेयेन पदार्थमात्रस्याभिधानमुद्देशः तत्रोद्दिष्टस्य तत्त्वव्यवच्छेदको धर्मो लक्षणम् । लक्षितस्य यथालक्षणमुपपद्यते न वेति प्रमाणैरवधारणं परीक्षा । तत्रोद्दिष्टस्य प्रविभक्तस्य लक्षणमुच्यते यथा प्रमाणानां प्रमेयस्य च । उद्दिष्टस्य लक्षितस्य च विभागवचनं यथा छलस्य वचनविघातोऽर्थोपपत्त्या छलं तत्त्रिविधमिति । अथोद्दिष्टस्य विभागवचनम् ॥

भा०:—तत्त्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान का नाश होता है, उससे दोषों (सू० १८) का अभाव, दोष न रहने पर प्रवृत्ति (सू० १७) की निवृत्ति होती है, फिर उससे जन्म (सू०१९) का दूर होता, जन्म के अभाव से सब दुःखों (सू० २१) का नाश और दुःख के अत्यन्त नाश ही का नाम "मोक्ष" है। तत्त्वज्ञान के विरोधी ज्ञान को मिथ्याज्ञान कहते हैं; उदाहरण जैसेः—आत्मा कोई पदार्थ नहीं है जो आत्मा नहीं है उसे आत्मा जानना, दुःख को सुख समझना, अनित्य पदार्थ को नित्य जानना, अरक्षक को रक्षक समझना, सभय को निर्भय जानना, विना कारण जन्म होना मानना, और विना ही कारण जन्म का छूट जाना मानना, मुक्ति बड़ी कठिन है क्योंकि सब कामों का उपराम होना मोक्ष है, सब पदार्थों के वियोग होने से बहुत मङ्गलों का लोप होगा। तो बुद्धिमान् सब सुख के अभावरूप मोक्ष की क्यों इच्छा करेंगे, ये सब मिथ्या ज्ञान हैं। इस मिथ्या ज्ञान से इष्ट वस्तु में प्रीति और अनिष्ट वस्तु में द्वेष होता है; राग, द्वेष से ईर्ष्या, माया, लोभ,आदि दोष उत्पन्न होते हैं; फिर दोषों के कारण शरीर से चोरी, परस्त्रीगमन; वचन से झूठ बोलना, पराई निन्दा; मन से परद्रोह, पराये द्रव्य की इच्छा करता है। इस पापरूप प्रवृत्ति से अधर्म होता है।

अच्छी प्रवृत्ति जैसेः-शरीर से दान, दीनों की रक्षा; वाणी से सच बोलना, वेद आदि सच्चे शास्त्रों का पढ़ना; मन से जीवों पर दया, श्रद्धा, आदि है, ऐसी प्रवृत्ति से धर्म्म होता है—यहां सूत्रकार ने प्रवृत्ति के साधन धर्म और अधर्म प्रवृत्ति पद से लिये हैं; जैसे (अन्नं वै प्राणिनः प्राणाः) इस वाक्य में प्राण के साधक अन्न को प्राण पद से लिया है। यह प्रवृत्ति निन्दित और श्रेष्ठ जन्म का कारण है। शरीर, इन्द्रिय और बुद्धि के समूह रूप से प्रकट होने को जन्म कहते हैं। जन्म के होने से दुःख होता; इन मिथ्या ज्ञान आदि दुःख पर्य्यन्त धर्मों के लगातार होने का नाम संसार है। और जब तत्त्वज्ञान से मिथ्या ज्ञान दूर हुआ, तब दोष नष्ट होते हैं, दोषों के नाश से प्रवृत्ति नहीं होती और प्रवृत्ति के अवरोध से जन्म नहीं होता। इस दुःख के अत्यन्त अभाव को ही मोक्ष, 'निःश्रेयस' और ' अपवर्ग ' कहते हैं। मिथ्या ज्ञान का स्वरूप पहिले दिखला दिया गया इस के उलटे ज्ञान को तत्त्वज्ञान कहते हैं।

इस शास्त्र की प्रवृत्ति तीन प्रकार की है-जैसे १ उद्देश्य, २ लक्षण, और ३ परीक्षा, इनमें से पदार्थों के नाममात्र कथन को 'उद्देश्य' कहते हैं, उद्दिष्ट (नाममात्र से कहे हुए) पदार्थ के अयथार्थ (विपरीत या असत्य) बोध के निवारण करने वाले धर्म को " लक्षण " कहते हैं॥ उद्दिष्ट पदार्थ के जो लक्षण कहे गये वे ठीक हैं या नहीं इस को प्रमाण द्वारा निश्चय कर धारण करने को " परीक्षा " कहते हैं। अब प्रमाण आदि से जो पदार्थ कहे गये हैं उन का विभाग पूर्वक वर्णन किया जाता है॥ २॥

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ ३ ॥

अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षं वृत्तिस्तु सन्निकर्षो ज्ञानं वा। यदा सन्निकर्षस्तदा ज्ञानं प्रमितिः यदा ज्ञानं तदा हानोपादानोपेक्षाबुद्धयः फलम्। अनुमानं मितेन लिङ्गेनार्थस्य पश्चान्मानमनुमानम्। उपमानं सामीप्यज्ञानं यथा गौरेवं गवय इति। सामीप्यं तु सामान्ययोगः। शब्दः शब्द्यतेऽनेनार्थ इत्यभिधीयते ज्ञाप्यते। उपलब्धिसाधनानि प्रमाणानीति समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद्बोद्धव्यम्। प्रमीयतेऽनेनेति करणार्थाभिधानो हि प्रमाणशब्दस्तद्विशेषसमाख्याया अपि तथैव व्याख्यानम्। किं पुनः प्रमाणानि प्रमेयमभिसंप्लवन्ते अथ प्रमेयं व्यवतिष्ठन्त इति। उभयथा दर्शनम्। अस्त्यात्मेत्याप्तोपदेशात्प्रतीयते। तत्रानुमानमिच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति। प्रत्यक्षं युञ्जानस्य योगसमाधिजमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मा प्रत्यक्ष इति। अग्नि-

राप्तोपदेशात्प्रतीयतेऽत्राग्निरिति प्रत्यासीदता धूमदर्शनेनानुमीयते प्रत्यासन्नेन च प्रत्यक्षत उपलभ्यते। व्यवस्था पुनरग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति। लौकिकस्य स्वर्गे न लिङ्गदर्शनं न प्रत्यक्षम्। स्तनयित्नुशब्दे श्रूयमाणे शब्दहेतोरनुमानम्। तत्र न प्रत्यक्षं नागमः। पाणौ प्रत्यक्षत उपलभ्यमाने नानुमानं नागम इति। सा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपराजिज्ञासितमर्थमाप्तोपदेशात्प्रतिपद्यमानो लिङ्गदर्शनेनापि बुभुत्सते लिङ्गदर्शनानुमितं च प्रत्यक्षतो दिदृक्षते प्रत्यक्षतउपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्त्तते। पूर्वोक्तमुदाहरणम्। अग्निरिति प्रमातुः प्रमातव्येऽर्थे प्रमाणानां सम्भवोऽभिसंप्लवः असम्भवो व्यवस्थेति।

इति त्रिसूत्रीभाष्यम् ॥   अथ विभक्तानां लक्षणमिति।

भा०:—अक्ष नाम इन्द्रिय का है। इन्द्रियों के संयोग (सन्निकर्ष) विशेष से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान होने से उस के त्यागने, या पाने, या छोड़ने या उस्से उदासीनता की बुद्धि होती है। प्रत्यक्ष द्वारा जिस अर्थ का ज्ञान होचुका है, पीछे उस के चिन्ह प्रत्यक्ष होने पर अप्रत्यक्ष विषय का जिस में कि प्रत्यक्ष हुए चिन्ह या अवयव का सम्बन्ध है इसके जानने का नाम "अनुमान" है। प्रसिद्ध जो-एक तरह का गुण या धर्म दो या अनेक पदार्थों में है-उस से जिस को साधन करना है, उस को अन्य के दृष्टान्त से सिद्ध करने का नाम "उपमान" है। उदाहरण जैसे किसी ने कहाकि "जैसी-गौ होती उसी प्रकार नीलगाय होती है।" शब्द से जिस का ज्ञान होता उसे शब्द प्रमाण कहते हैं। इन प्रत्येक प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द प्रमाण का लक्षण आगे सूत्रों (सू० ४-८) में किया गया है—उनका अनुवाद वहीं २ देखना ॥ ३ ॥

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥ ४ ॥

इन्द्रियस्यार्थेन सन्निकर्षादुत्पद्यते यज्ज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्। न तर्हीदानीमिदं भवति आत्मा मनसा संयुज्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेनेति। नेदं कारणावधारणमेतावत्प्रत्यक्षे कारणमिति किं तु विशिष्टकारणवचनमिति। यत्प्रत्यक्षज्ञानस्य विशिष्टकारणं तदुच्यते यत्तु समानमनुमानादिज्ञानस्य न तन्निवर्त्ततइति। *मनसस्तर्हीन्द्रियेण संयोगो वक्तव्यः। भिद्यमानस्य प्रत्यक्षज्ञानस्य नायं भिद्यतइति समानत्वान्नोक्त इति। यावदर्थं वै नामधेयशब्दा* स्तैरर्थसम्प्रत्ययः अर्थसम्प्रत्ययाच्च व्यवहारः। तत्रेदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षा-

दुत्पन्नमर्थज्ञानं रूपमिति वा रस इत्येवं वा भवति रूपरसशब्दाश्च विषयनामधेयम् । तेन व्यपदिश्यते ज्ञानं रूपमिति जानीते रस इति जानीते नामधेयशब्देन व्यपदिश्यमानं सच् शाब्दं प्रसज्यते अत आह । अव्यपदेश्यमिति । यदिदमनुपयुक्ते शब्दार्थसम्बन्धेऽर्थज्ञानं तन्नामधेयशब्देन व्यपदिश्यते । गृहीतेऽपि च शब्दार्थसम्बन्धेऽस्यार्थस्यायं शब्दो नामधेयमिति । यदा तु सोऽर्थो गृह्यते तदा तत्पूर्वस्मादर्थज्ञानं विशिष्यते तदर्थविज्ञानं तादृगेव भवति । न चाऽप्रतीयमानेन व्यवहारः तस्याज्ञेयस्यार्थस्य संज्ञाशब्देनेतिकरणयुक्तेन निर्दिश्यते रूपमिति ज्ञानं रस इति ज्ञानमिति । तदेवमर्थज्ञानकाले स न समाख्याशब्दो व्याप्रियते व्यवहारकाले तु व्याप्रियते । तस्मादशाब्दमर्थज्ञानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमिति। ग्रीष्मे मरीचयो भौमेनोष्मणा संसृष्टाः स्पन्दमाना दूरस्थस्य चक्षुषा सन्निकृष्यन्ते तत्रेन्द्रियार्थसन्निकर्षादुदकमिति ज्ञानमुत्पद्यते । तच्च प्रत्यक्षं प्रसज्यतइत्यत आह । अव्यभिचारीति यदतस्मिँस्तदिति तद्व्यभिचारि यत्तुतस्मिँस्तदिति । तदव्यभिचारि प्रत्यक्षमिति । दूराच्चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन्नावधारयति धूम इति वा रेणुरिति वा तदेतदिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमनवधारणज्ञानं प्रत्यक्षं प्रसज्यतइत्यत आह । व्यवसायात्मकमिति । न चैतन्मन्तव्यम् । आत्ममनः सन्निकर्षजमेवाऽनवधारणज्ञानमिति । चक्षुषा ह्ययमर्थं पश्यन्नावधारयति । यथा चेन्द्रियेणोपलब्धमर्थं मनसोपलभते एवमिन्द्रियेणानवधारयन्मनसा नावधारयति । यच्चैतदिन्द्रियानवधारणपूर्वकं मनसाऽनवधारणं तद्विशेषापेक्षं विमर्शमात्रं संशयो न पूर्वमिति । सर्वत्र प्रत्यक्षविषये ज्ञातुरिन्द्रियेण व्यवसायः उपहतेन्द्रियाणामनुव्यवसायाभावादिति । आत्मादिषु सुखादिषु च प्रत्यक्षलक्षणं वक्तव्यमनिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं हि तदिति । इन्द्रियस्य वै सतो मनस इन्द्रियेभ्यः पृथगुपदेशो धर्मभेदात् । भौतिकानीन्द्रियाणि नियतविषयाणि सगुणानां चैषामिन्द्रियभाव इति । मनस्त्वभौतिकं सर्वविषयं च नास्य सगुणस्येन्द्रियभाव इति । सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे सन्निधिमसन्निधिं चास्य युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिकारणं वक्ष्याम इति । मनसश्चेन्द्रियभावात्तन्न वाच्यं लक्षणान्तरमिति। तन्त्रान्तरसमाचाराच्चैतत्प्रत्येतव्यमिति । परमतमप्रतिषिद्धमनुमतमिति हि तन्त्रयुक्तिः । व्याख्यातं प्रत्यक्षम् ।

भा०:—इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं; यद्यपि आत्मा और मन का संयोग भी इस में कारण है, क्योंकि उसके विना ज्ञान नहीं होता तथापि उस के कारणत्व कहने की आवश्यकता नहीं है।

आत्मा और मन का संयोग ज्ञान मात्र का हेतु है। यह लक्षण प्रत्यक्ष का है। वह प्रत्यक्ष "अव्यपदेश्य" हो अर्थात् जिस का नाम न रक्ख सकें (कि यह अमुक वस्तु है) और यथार्थ और निश्चय रूप हो, यह प्रत्यक्ष का ठीक लक्षण है। पुनः वह प्रत्यक्ष "अव्य भिचारि" हो जैसे ग्रीष्म ऋतु में जब सूर्य की किरण पृथिवी की उष्णता से मिलकर किञ्चित् चलती हुई दूरस्थ पुरुष के नेत्र से संयुक्त होती हैं, वहां इन्द्रिय और वस्तु के संयोग होने से जलसा प्रतीत होती है, इस भ्रम सहित ज्ञान को प्रत्यक्ष मानने का प्रसंग हो जाता है इस लिये—सूत्र में प्रत्यक्ष का विशेषण—अव्यभिचारि पढ़ा है अर्थात् इसे प्रत्यक्ष नहीं कहते। जो पदार्थ वास्तव में जैसा है उस को उसी रूप से जानना यथार्थ ज्ञान कहाता है। दूर से कोई वस्तु देखकर "यह धुआं है" या "धूल है" यह निश्चय नहीं कर सकता इस अनिश्चय रूप ज्ञान को भी "व्यवसायात्मक" प्रत्यक्ष नहीं कहते। यह बात सूत्र में "अव्यभिचारि" और "व्यवसायात्मक" पदों से कही गयी है ॥ ४ ॥

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टं च ॥ ५ ॥

तत्पूर्वकमित्यनेन लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं चाभिसम्बध्यते। लिङ्गलिङ्गिनोः संबद्धयोर्दर्शनेन लिङ्गस्मृतिरभिसम्बध्यते। स्मृत्या लिङ्गदर्शनेन चाऽप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते। पूर्ववदिति यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति। शेषवत्तद् यत्र कार्येण कारणमनुमीयते। पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वञ्च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते भूता वृष्टिरिति। सामान्यतोदृष्टं व्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्याऽन्यत्र दर्शनमिति। तथा चादित्यस्य तस्मादस्त्यप्रत्यक्षाऽप्यादित्यस्य व्रज्येति अथ वा पूर्ववदिति यत्र यथापूर्वं प्रत्यक्षभूतयोरन्यतरदर्शनेनान्यतरस्याप्रत्यक्षस्यानुमानं यथा धूमेनाग्निरिति। शेषवन्नाम परिशेषः स च प्रसक्तप्रतिषेधेऽन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे सम्प्रत्ययः यथा सदनित्यमेवमादिना द्रव्यगुणकर्मणामविशेषेण सामान्यविशेषसमवायेभ्यो निर्भक्तस्य शब्दस्य तस्मिन्द्रव्यकर्मगुणसंशये न द्रव्यमेकद्रव्यत्वात्। न कर्म शब्दान्तरहेतुत्वात्। यस्तु शिष्यते सोऽयमिति शब्दस्य गुणत्वप्रतिपत्तिः। सामान्यतोदृष्टं नाम यत्राप्रत्यक्षे लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धे केनचिदर्थेन लिङ्गस्य सामान्यादप्रत्यक्षो लिङ्गी गम्यते यथेच्छादिभिरात्मा। इच्छादयो गुणाः गुणाश्च द्रव्यसंस्थानाः तद्यदेषां स्थानं स आत्मेति। विभागवचनादेव त्रिविधमिति सिद्धे

त्रिविधवचनं महतो महाविषयस्य न्यायस्य लघीयसा सूत्रेणोपदेशात्परं वाक्यलाघवं मन्यमानस्यान्यस्मिन् वाक्यलाघवेऽनादरः। तथा चायमित्थंभूतेन वाक्यविकल्पेन प्रवृत्तः सिद्धान्ते छले शब्दादिषु च बहुलं समाचारः शास्त्रे इति। सद्विषयं च प्रत्यक्षं सदसद्विषयं चानुमानम्। कस्मात्। त्रैकाल्यग्रहणात् त्रिकालयुक्ता अर्था अनुमानेन गृह्यन्ते भविष्यतीत्यनुमीयते भवतीति चाभूदिति च असच्च खल्वतीतमनागतं चेति। —अथोपमानम्।

भा०:—प्रत्यक्ष पूर्वक अनुमान तीन प्रकार का है:—१ पूर्ववत् २ शेषवत् और ३ सामान्यतोदृष्ट। जहां २ कारण से कार्य्य का अनुमान होता है उसे पूर्ववत् अनुमान कहते हैं; उदाहरण जैसे—बादलों के उठने से होने वाली वृष्टि का अनुमान करना, क्योंकि बादल का होना वर्षा का कारण है, और वर्षा कार्य्य है। इससे उलटा यानी कार्य्य से कारण का अनुमान करना "शेषवत् अनुमान" कहाता है, उदाहरण जैसे—नदी के बाढ़ को देखकर उस से पहिले हुई बारिश का अनुमान होता है, नदी का चढ़ना वर्षा का कार्य्य है,। अप्रत्यक्ष दूसरे का जो अनुमान है उसे "सामान्यतोदृष्ट" कहते हैं; जैसे कोई पदार्थ विना क्रिया के एक स्थान से दूसरे स्थान पर नहीं जा सकता, यह कई वार देखने से सिद्ध होगया। पुनः सूर्य को एक स्थान छोड़कर दूसरे स्थान में देखने से उस की गति का अनुमान करना, इस को "सामान्यतोदृष्ट" कहते हैं। प्रत्यक्ष तो विद्यमान पदार्थ का ही होता है; पर अनुमान विद्यमान और अविद्यमान दोनों ही का होता है; क्योंकि पूर्व हुई और आगे होने वाली वस्तु का भी अनुमान होता है। साध्य साधन के सम्बन्ध देखने से जो ज्ञान होता है उस को "अनुमान" कहते हैं। अनुमान से जो सिद्ध होता उसे "साध्य" और जिस के द्वारा साध्य जाना जावे उसे "साधन" कहते हैं। इन्हीं को लिङ्गी और लिङ्ग भी कहते हैं।: जैसे धूम को जहां २ देखा वहां २ अग्नि को भी देखने से ज्ञात हुआ कि धूम, विना अग्नि के नहीं रहता; इस ज्ञान को "व्याप्तिज्ञान" कहते हैं। व्यापक के अधिकरण में व्याप्य का नियम से रहने का नाम "व्याप्ति" है। अधिक देश में जो रहता उसे व्यापक कहते हैं, जैसे—अग्नि, जहां धूम रहता है वहां अवश्य रहता और जहां धूम नहीं रहता वहां भी रहता है; जैसे तपाये हुए लोहे के गोल में अग्नि रहता है परन्तु धूम उसमें नहीं होता इस लिये अग्नि व्यापक और धूम व्याप्य है। क्योंकि अग्नि के न रहने में नहीं रहता

है। अल्प देश में रहने से "व्याप्य" कहाता है, पुनः कहीं केवल धूम के देखने से अग्नि का ज्ञान होता है इस को " अनुमान " कहते हैं। यहां अग्नि साध्य और धूम को साधन समझना चाहिये। इसी प्रकार और भी जानना। प्रत्यक्ष तो सत्य होता है परन्तु अनुमान कहीं मिथ्या भी होजाता है क्योंकि अनुमान तीनों काल से सम्बन्ध रखता है–जो अनुमान भूतकाल और भविष्यत् काल सम्बन्धी सम्भव होने पर किया जाता है वह असत् भी होजाता है। नवीन न्याय के ग्रन्थों में 'पूर्ववत्' को केवलान्वयी, 'शेषवत्' को व्यतिरेकी, और 'सामान्यतोदृष्ट' को अन्वयव्यतिरेकी कहते हैं ॥ ५ ॥

प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ६ ॥

प्रज्ञातेन सामान्यात्प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति। यथा गौरेवं गवय इति। किं पुनरत्रोपमानेन क्रियते। यदा खल्वयं गवा समानधर्मं प्रतिपद्यते तदा प्रत्यक्षतस्तमर्थं प्रतिपद्यतइति। समाख्यासम्बन्धप्रतिपत्तिरुपमानार्थ इत्याह। यथा गौरेवं गवय इत्युपमाने प्रयुक्ते गवा समानधर्ममर्थमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुपलभमानोऽस्य गवयशब्दः संज्ञेति संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यतइति। यथा मुद्गस्तथा मुद्गपर्णी यथा माषस्तथा माषपर्णीत्युपमाने प्रयुक्ते उपमानात्संज्ञासंज्ञिसम्बन्धं प्रतिपद्यमानस्तामोषधीं भैषज्यायाहरति। एवमन्योऽप्युपमानस्य लोके विषयो बुभुत्सितव्य इति। अथ शब्दः।

भा०:–प्रसिद्ध पदार्थ के तुल्यता से साध्य के साधन को 'उपमान' कहते हैं। जैसे किसी मनुष्य को गवय शब्द का अर्थ ज्ञात न था उस ने जङ्गली मनुष्य से सुन लिया कि "जैसी गाय होती वैसा ही गवय होती है। पुनः किसी समय बन में उस को गवय देख पड़ी उस को देखते ही उस ने यह जो सुन रक्खा था कि गाय के तुल्य गवय होती है इस वाक्य का उसे स्मरण हुआ; स्मरण होते ही उसको गवय नाम और गौ के तुल्य पिण्ड इस का अर्थ यह है, ऐसा ज्ञान उत्पन्न हुआ। इसी प्रकार किसी वैद्य से यह सुनकर कि मूंगी के लता की नाईं पत्ते जिस पौंधे के हों, वह औषधि विष को हर लेती है, इस पर मूंगी के समान पत्ता किसी दूसरी औषध में देखकर यह समझना कि यह दवा विष हरती है। पुनः माष (उर्द) के तुल्य माषपर्णी का होना सुनकर माष के समान पत्तेवाली लता (पौंधा) को देखकर यह समझा कि यह माषपर्णी है इसी प्रकार अन्यान्य उदाहरण जान लेना। संज्ञा और उसके अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होना उपमान प्रमाण का फल है ॥ ६ ॥

आप्तोपदेशः शब्दः ॥ ७ ॥

आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा। साक्षात्करणमर्थस्याप्तिस्तया प्रवर्त्ततइत्याप्तः। ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्। तथा च सर्वेषां व्यवहाराः प्रवर्त्तन्तइति। एवमेभिः प्रमाणैर्देवमनुष्यतिरश्चां व्यवहाराः प्रकल्पन्ते नातोऽन्यथेति।

भा०:—आप्त के उपदेश को 'शब्द' प्रमाण कहते हैं। अर्थ के साक्षात् कार का नाम 'आप्ति, है; उससे जो प्रवृत्त होता है उसे आप्त कहते हैं। अर्थात् जो पदार्थ यथा दृष्ट यानी जैसा देखा,सुना,टटोला,सूंघा,स्वाद लिया हो उसको ठीक२ वैसा ही उपदेश करने वाले का नाम आप्त है;चाहे वह आर्य्य, ब्राह्मण, क्षत्रिय, या म्लेच्छ आदि वंशोत्पन्न क्यों न हो। ऐसे यथार्थ वक्ता को प्रामाणिक कहते हैं। इन्हीं प्रमाणों से देव, मनुष्य, आदिकों के सब व्यवहार ठीक २ होते हैं. अन्यथा नहीं ॥ ७ ॥

स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात् ॥ ८ ॥

यस्येह दृश्यतेऽर्थः स दृष्टार्थो यस्यामुत्र प्रतीयते सोऽदृष्टार्थः एवमृषिलौकिकवाक्यानां विभाग इति। किमर्थं पुनरिदमुच्यते। स न मन्येत दृष्टार्थ एवाप्तोपदेशः प्रमाणमर्थस्यावधारणादिति। अदृष्टार्थोऽपि प्रमाणमर्थस्यानुमानादिति। इति प्रमाणभाष्यम्। किं पुनरनेन प्रमाणेनार्थजातं प्रमातव्यमिति तदुच्यते।

भा०:—(उक्त) शब्द प्रमाण दो प्रकार का है—एक वह जिस का अर्थ इस लोक में न दीख पड़े और दूसरा वह है जिस का अर्थ—परलोक में प्रतीत हो। इसी प्रकार प्रत्येक वैदिक और लौकिक वाक्यों का विभाग जानना। आप्त प्रमाण होने से—प्रत्यक्षी कृत और अनुमित दोनों ही अर्थ (दृष्ट और अदृष्ट) मानने योग्य हैं ॥ ८ ॥

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनः प्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ ९ ॥

तत्रात्मा* सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञः सर्वानुभावी। तस्य भोगायत-

---

* सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्तेत्यत्रोभयत्रापि सुखस्य दुःखस्यचेत्यादिः। अप्राप्तस्य ज्ञानाभावेन सर्वत्वा(?)नुपपत्तिः।

भा०:—सब का द्रष्टा सब का भोक्ता—इस कथन का तात्पर्य यह है कि सुख और दुःख का और सर्वज्ञ और सर्वानुभावी पद से दुःख सुख आदि का जानने और भोगने वाला है। क्योंकि अप्राप्त वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता जीवात्मा की अल्पज्ञता होने से।

नं शरीरम्। भोगसाधनानीन्द्रियाणि। भोक्तव्या इन्द्रियार्थाः। भोगो बुद्धिः। सर्वार्थोपलब्धौ नेन्द्रियाणि प्रभवन्तीति सर्वविषयमन्तःकरणं मनः। शरीरेन्द्रियार्थबुद्धिसुखवेदनानां निर्वृत्तिकारणं प्रवृत्तिः दोषाश्च। नास्येदं शरीरमपूर्वमनुत्तरं च। पूर्वशरीराणामादिर्नास्ति उत्तरेषामपवर्गान्त इति प्रेत्यभावः ससाधनसुखदुःखोपभोगःफलम्। दुःखमितिनेदमनुकूलवेदनीयस्य सुखस्य प्रतीतेः प्रात्याख्यनं किं तर्हिजन्मन एवेदं ससुखसाधनस्य दुःखानुषङ्गाद् दुःखेनाविप्रयोगाद्विविधबाधनायोगाद्दुःखमिति समाधिभावनमुपदिश्यते समाहितो भावयति भावयन्निर्विद्यते निर्विण्णस्य वैराग्यं विरक्तस्यापवर्ग इति जन्ममरणप्रबन्धोच्छेदः सर्वदुःखप्रहाणमपवर्ग इति। अस्त्यन्यदपि द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः प्रमेयम्। तद्भेदेन चापरिसंख्येयम्। अस्य तु तत्त्वज्ञानादपवर्गो मिथ्याज्ञानात्संसार इत्यत एतदुपदिष्टं विशेषेणेति।

तत्रात्मा तावत्प्रत्यक्षतो न गृह्यते स किमाप्तोपदेशमात्रादेव प्रतिपद्यते इति। नेत्युच्यते। अनुमानाच्च प्रतिपत्तव्य इति। कथम्?

भा०:—आत्मा आदि १२ प्रमेय हैं। इन में से आत्मा सब (सुख, दुःख) का साक्षी और भोक्ता है; उसके भोग का स्थान शरीर है, भोग के साधन इन्द्रिय हैं, भोगने योग्य अर्थ हैं, भोगरूपी बुद्धि है। सब पदार्थों का ज्ञान इन्द्रियों से नहीं हो सकता इसलिये सर्वविषय अन्तःकरण को मन कहते हैं। 'प्रवृत्ति' और 'दोष' (देखो सू० २) का अर्थ पूर्व ही किया गया है, पुनर्जन्म को "प्रेत्यभाव" कहते हैं। साधन सहित सुख दुःख के भोग का नाम 'फल' है। 'दुःख' प्रसिद्ध ही है। सब प्रकार के दुःखों के अत्यन्त नाश को 'मोक्ष' कहते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय ये भी प्रमेय कहलाते हैं। और फिर इन के भेद से प्रमेय असंख्य होते हैं। प्रमेयों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष और मिथ्या ज्ञान से संसार (बन्धन) होता है।

आत्मा का प्रत्यक्ष ग्रहण से नहीं होता, तो क्या वह केवल प्रामाणिक लोगों के कहने से ही जान जाता है? नहीं, अनुमान से भी उस का ज्ञान होता है। किस प्रकार?

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमिति ॥१०॥

यज्जातीयस्यार्थस्य सन्निकर्षात्सुखमात्मोपलब्धवान् तज्जातीयमेवार्थं पश्यन्नुपादातुमिच्छति सेयमादातुमिच्छा एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानाद्भवन्ती लिङ्गमात्मनः। नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रे न सम्भवति देहान्तर-

वदिति एवमेकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानात् दुःखहेतौ द्वेषः। यज्जातीयोऽस्यार्थः सुखहेतुः प्रसिद्धस्तज्जातीयमर्थं पश्यन्नादातुं प्रयतते सोऽयं प्रयत्न एकमनेकार्थदर्शिनं दर्शनप्रतिसन्धातारमन्तरेण न स्यात्। नियतविषये बुद्धिमात्रे न सम्भवति देहान्तरवदिति। एतेन दुःखहेतौ प्रयत्नो व्याख्यातः। सुखदुःखस्मृत्या चायं तत्साधनमाददानः सुखमुपलभते दुःखमुपलभते सुख दुःखे वेदयते पूर्वोक्त एव हेतुः। बुभुत्समानः खल्वयं विमृशति किंस्विदिति विमृशंश्च जानीते इदमिति। तदिदं ज्ञानं बुभुत्साविमर्शाभ्यामभिन्नकर्तृकं गृह्यमाणमात्मलिङ्गं पूर्वोक्त एव हेतुरिति। तत्र देहान्तरवदिति विभज्यते। यथाऽनात्मवादिनो देहान्तरेषु नियतविषया बुद्धिभेदा न प्रतिसन्धीयन्ते तथैकदेहविषया अपि न प्रतिसन्धीयेरन् अविशेषात्। सोऽयमेकसत्त्वस्य समाचारः स्वयं दृष्टस्य स्मरणं नान्यदृष्टस्य नादृष्टस्येति एवं खलु नानासत्त्वानां समाचारोऽन्यदृष्टमन्यो न स्मरतीति। तदेतदुभयमशक्यमनात्मवादिना व्यवस्थापयितुमिति एवमुपपन्नमस्त्यात्मेति। तस्य भोगाधिष्ठानम्।

भा०:—इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान का होना आत्मा के लिङ्ग या चिन्ह हैं। जिस वस्तु के सम्बन्ध से आत्मा सुख पाता है उस वस्तु को देख कर उसे लेने की इच्छा होती है। यह इच्छा अनेक पदार्थों के देखने वाले किसी एक के दर्शन से होती है इसलिये आत्मा की साधक है। अनेक पदार्थों का अनुभव करने वाला कोई एक है, जिस अर्थ के संयोग से दुःख पाता है, उससे द्वेष करता और जो वस्तु सुख का साधन है उसे देखने का प्रयत्न करता है, यह अनेक अर्थ के एक द्रष्टा के विना नहीं हो सकता, सुख और दुःख के स्मरण से यह उस के साधन को ग्रहण कर, सुख और दुःख को पाता है। जानने की इच्छा करता हुआ विचारता है कि यह क्या वस्तु है? फिर विचार से जान लेता है कि यह अमुक वस्तु है। यह ज्ञान आत्मा का लिङ्ग है। जो लोग आत्मा नहीं मानते केवल इसे बुद्धि का भेद कहते हैं। उन के मत में इस नियम का विरोध आता है कि जो अनुभव करता उसी को स्मरण होता है; यह नहीं होता कि अन्य के अनुभूत विषय को अन्य स्मरण करे, जो स्थिर एक आत्मा न हो, तो जिस ज्ञान का विषय, वस्तु हुआ, वह नष्ट होगया; अब स्मरण करने वाला दूसरा ही होगा तो उक्त दोष आजावेगा, इस प्रकार सिद्ध हुआ कि शरीर आदिकों से पृथक् आत्मा है॥ १० ॥

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्॥ ११ ॥

कथं चेष्टाश्रयः ? ईप्सितं जिहासितं वाऽर्थमधिकृत्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य तदुपायानुष्ठानलक्षणा समीहा चेष्टा सा यत्र वर्तते तच्छरीरम् । कथमिन्द्रियाश्रयः ? यस्यानुग्रहेणानुगृहीतानि उपघाते चोपहतानि स्वविषयेषु साध्वसाधुषु वर्तन्ते स एषामाश्रयः तच्छरीरम् । कथमर्थाश्रयः ? यस्मिन्नायतने इन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पन्नयोः सुखदुःखयोः प्रवर्तते स एषामाश्रयः प्रतिसंवेदनंतच्छरीरमिति ।

भोगसाधनानि पुनः ।

भा:०—क्रिया, (चेष्टा) इन्द्रिय और अर्थ के आश्रय (आधार) को 'शरीर' कहते हैं । किसी वस्तु के लेने वा छोड़ने की इच्छा से उस वस्तु में ग्रहण करने या छोड़ने के लिये जो उपाय किया जाता उस को ' चेष्टा ' कहते हैं । और जिस में उक्त चेष्टा रहती है उसे शरीर कहते हैं अतएव सू० में 'चेष्टाश्रय शरीर' कहा है । इन्द्रियां अपने २ उत्तम और निकृष्ट विषयों में शरीर के स्वास्थ्य और सुख संयुक्त होने से स्वस्थ होती, एवं शरीर के दुःख युक्त और क्लेशित होने पर क्लेशित होती हैं । इस को सू० में 'इन्द्रियाश्रय शरीर' कहा है । इसीप्रकार इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से सुख दुःख का ज्ञान शरीर में होता है । अत एव सू० में ' अर्थाश्रय शरीर ' कहा है ॥ ११ ॥

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥ १२ ॥

जिघ्रत्यनेनेति घ्राणं गन्धं गृह्णातीति । रसयत्यनेनेति रसनं रसं गृह्णातीति । चष्टेऽनेनेति चक्षुः रूपं पश्यतीति । त्वक्स्थानमिन्द्रियं त्वक् तदुपचारः स्थानादिति । शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दं गृह्णातीति । एवं समाख्यानिर्वचनसामर्थ्याद्बोध्यं स्वविषयग्रहणलक्षणानीन्द्रियाणीति । भूतेभ्य इति प्रकृतीनामेषां सतां विषयनियमो नेकप्रकृतीनां सति च विषयनियमे स्वविषयग्रहणलक्षणत्वं भवतीति । कानि पुनरिन्द्रियकारणानि ?

भा:०—' घ्राण ' (नाक) ' रसन ' (जीभ) ' चक्षु ' (आंख) ' त्वचा ' (चमड़ा) और ' कर्ण ' ये पांच ज्ञानेन्द्रिय पञ्चभूत से उत्पन्न हुई हैं । इन के नाम अपने २ कार्य्य के अनुसार ही रक्खे गये हैं । जैसे ' घ्राण ' यह शब्द ' घ्रा धातु से निष्पन्न हुआ है जिस का अर्थ सूंघना है । गन्ध का ज्ञान जिस उसे ' घ्राण, ' रस (स्वाद) के ग्राहक को ' रसन, ' रूप का ज्ञान जिस से हो उसे ' चक्षु, ' जो स्पर्श (टटोलना) का साधन है उसे 'त्वचा' और जिस के द्वारा शब्द का ग्रहण (सुनपड़े) हो उस को श्रोत्र कहते हैं ॥ १२ ॥

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि ॥ १३ ॥

संज्ञाशब्दैः पृथगुपदेशो भूतानां विभक्तानां सुवचं कार्यं भविष्यतीति ।

इमे तु खलु ।

भा:०—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पांच को भूत कहते हैं । इन्हीं पांचों से इन्द्रियां बनी हैं । अर्थात् पृथिवी से घ्राण, जल से रसन, तेज वा अग्नि से चक्षु , वायु से त्वचा और आकाश से श्रोत्र बने हैं ॥१३॥

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ॥ १४ ॥

पृथिव्यादीनां यथाविनियोगं गुणा इन्द्रियाणां यथाक्रममर्था विषया इति । अचेतनस्य करणस्य बुद्धेर्ज्ञानं वृत्तिः चेतनस्याकर्त्तुरुपलब्धिरिति युक्तिविरुद्धमर्थं प्रत्याचक्षाणक इवेदमाह ।

भा:०—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पांच पृथिवी आदि पांच भूतों के गुण हैं और घ्राण आदि इन्द्रियों के विषय हैं । अर्थात् पृथिवी का गुण ' गन्ध ' है, जल का रस, अग्नि का रूप, वायु का स्पर्श, और आकाश का शब्द है । इसी प्रकार घ्राण इन्द्रिय का विषय गन्ध है, रसन इन्द्रिय का रस, चक्षु इन्द्रिय का रूप, त्वचा इन्द्रिय का स्पर्श और कर्ण इन्द्रिय का विषय शब्द है ॥ १४ ॥

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ॥ १५ ॥

नाचेतनस्य करणस्य बुद्धेर्ज्ञानं भवितुमर्हति । तद्धि चेतनं स्यात् एकश्चायं चेतनो देहेन्द्रियसंघातव्यतिरिक्त इति । प्रमेयलक्षणार्थस्य वाक्यस्यान्यार्थप्रकाशनमुपपत्तिसामर्थ्यादिति । स्मृत्यनुमानागमसंशयप्रतिभास्वप्नज्ञानोहाः सुखादिप्रत्यक्षमिच्छादयश्च मनसो लिङ्गानि । तेषु सत्स्वियमपि ।

भा:०—बुद्धि, उपलब्धि, और ज्ञान इन का एक ही अर्थ है केवल नाम का भेद है । अचेतन करण की बुद्धि या ज्ञान नहीं हो सकता अतएव देह इन्द्रिय के संघात से अलग चेतन है । (आत्मा) यह भाष्यकार ने उस नास्तिक (चार्वाक आदि)का उत्तर दिया है कि जिस का मत यह है कि देह से अलग कोई चेतन आत्मा नहीं है । स्मृति, अनुमान, आगम, संशय प्रतिभा, स्वप्न, ज्ञान, ऊहा सुखादि प्रत्यक्ष और इच्छा आदि मन के लिङ्ग हैं । इन के होने पर यह भी है ॥ १५ ॥

युगपज् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम् ॥ १६ ॥

अनिन्द्रियनिमित्ताः स्मृत्यादयः करणान्तरनिमित्ता भवितुमर्हन्तीति । युगपच्च खलु घ्राणादीनां गन्धादीनां च सन्निकर्षेषु सत्सु युगपज्ज्ञानानि नोत्प-

द्यन्ते (तेनानुमीयते अस्ति तत्तदिन्द्रियसंयोगि सहकारि निमित्तान्तरमव्यापि यस्यासन्निधेर्नोत्पद्यते ज्ञानं सन्निधेश्चोत्पद्यतइति)। मनः संयोगानपेक्षस्य हीन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानहेतुत्वे युगपदुत्पद्येरन् ज्ञानानीति। क्रमप्राप्ता तु।

भा०:-घ्राण, आदि पांचों इन्द्रियों का गन्ध आदि अपने २ विषयों के साथ सम्बन्ध रहते भी एक समय अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते, इससे अनुमान होता है कि उस इन्द्रिय का सम्बन्धी अव्यापक कोई दूसरा सहकारी कारण है जिस के संयोग से ज्ञान होता है और जिसके संयोग न रहनेसे ज्ञान नहीं, होता इसी का नाम मन है। मन के संयोग की अपेक्षा न करके केवल इन्द्रिय और विषय के संयोग ही को ज्ञान का कारण मानें तो एक संग अनेक ज्ञान होना चाहिये और यह अनुभव के विरुद्ध है। दूसरे इन्द्रिय जिन के कारण नहीं ऐसे स्मृति आदिकों का कोई कारण अवश्य मानना चाहिये। इस से भी 'मन' सिद्ध होता है। मन को अव्यापक इस कारण मानते हैं कि एक काल में अनेक ज्ञान नहीं होते, जो व्यापक होता, तो इन्द्रियों के साथ संयोग होने से एक समय अनेक ज्ञान हो जाते और ऐसा होता नहीं इस कारण मन सूक्ष्म है ॥ १६ ॥

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ इति ॥ १७ ॥

मनोऽत्र बुद्धिरित्यभिप्रेतं बुध्यते ऽनेनेति बुद्धिः सोऽयमारम्भः शरीरेण वाचा मनसा च पुण्यः पापश्च दशविधः। तदेतत्कृतभाष्यं द्वितीयसूत्रइति।

भा०:-वाणी, बुद्धि और शरीर से कार्य्य के आरम्भ को प्रवृत्ति कहते हैं। वह पुण्य और पाप दो प्रकार की होती है। अर्थात् मन, वचन, और शरीर से जो कुछ भले या बुरे काम का आरम्भ किया जाता उस आरम्भ को प्रवृत्ति कहते हैं। अच्छी प्रवृत्ति से पुण्य और बुरी प्रवृत्ति से पाप होता है (सू० २) ॥१७॥

प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः ॥ १८ ॥

प्रवर्त्तना प्रवृत्तिहेतुत्वं ज्ञातारं हि रागादयः प्रवर्त्तयन्ति पुण्ये पापे वा यत्र मिथ्याज्ञानं तत्र रागद्वेषाविति। प्रत्यात्मवेदनीया हीमे दोषाः कस्माल्लक्षणतो निर्दिश्यन्तइति। कर्मलक्षणाः खलु रक्तद्विष्टमूढा रक्तो हि तत्कर्म कुरुते येन कर्मणा सुखं दुःखं वा लभते तथा द्विष्टस्तथा मूढ इति रागद्वेषमोहा इत्युच्यमाने बहुनोक्तं भवतीति।

भा०:--राग आदि, जीवात्मा को भले बुरे कामों में प्रवृत्त कराते हैं। जिस में मिथ्याज्ञान होता उस में राग, द्वेष होते हैं। इन दोषों को

प्रत्येक प्राणी जानते हैं क्योंकि ये अपने लक्षण से जाने जाते हैं। राग और द्वेष को प्राप्त या मोह को प्राप्त हुआ जीव कर्म को करता है, जिससे सुख या दुःख भोग करता है। इसी प्रकार द्वेष और मोह को भी जानना। ये राग, द्वेष, और मोह दोष हैं॥ १८॥

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः॥ १९॥

उत्पन्नस्य क्वचित्सत्त्वनिकाये मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः स प्रेत्यभावः उत्पन्नस्य संबद्धस्य। सम्बन्धस्तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनाभिः। पुनरुत्पत्तिः पुनर्देहादिभिः संबन्धः। पुनरित्यभ्यासाभिधानं यत्र क्वचित्प्राणभृन्निकाये वर्त्तमानः पूर्वोपात्तान्देहादीन् जहाति तत्प्रैति। यत्तत्रान्यत्र वा देहादीनन्यानुपादत्ते तद्भवति। प्रेत्यभावो मृत्वा पुनर्जन्म। सोऽयं जन्ममरणप्रबन्धाभ्यासो ऽनादिरपवर्गान्तः प्रेत्यभावो वेदितव्य इति।

भा०:-मर कर फिर किसी शरीर में जन्म लेने को 'प्रेत्यभाव' कहते हैं। पुनरुत्पत्ति शब्द में पुनः इस पद से संसार का अनादि होना सूचित किया गया है। यानी वार वार पहिले शरीरों का छोड़ना और दूसरों का ग्रहण करना। यह जन्म, मरण का अभ्यास (फिर होना) अनादि है, और मोक्ष इस का ठिकान (अवधि) है अर्थात् जब तक मोक्ष न हो, तब तक प्रेत्यभाव होता है। मुक्तजीव को फिर जन्म मरण का बन्धन नहीं होता॥१९॥

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम्॥ २०॥

सुखदुःखसंवेदनं फलम्। सुखविपाकं कर्म दुःखविपाकं च। तत्पुनर्देहेन्द्रियविषयबुद्धिषु सतीषु भवतीति सह देहादिभिः फलमभिप्रेतम्। तथा हि प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलमेतत्सर्वंभवतितदेतत्फलमुपात्तमुपात्तं हेयं त्यक्तं त्यक्तमुपादेयमिति (नास्य हानोपादानयोर्निष्ठा पर्यवसानं वास्ति सखल्वयं फलस्य हानोपादादानस्रोतसोह्यते लोक इति। अथैतदेव)।

भा०:-प्रवृत्ति (सू० १७) और दोष (सू० १८) से उत्पन्न अर्थ को 'फल' कहते हैं। कर्म दो प्रकार का होता है, एक वह है जिस का फल सुख होता और दूसरा वह है जिसका फल दुःख होता है। और यह फल देह, इन्द्रिय, विषय, और बुद्धि के युक्त होने ही पर होता है अन्यथा नहीं॥ २०॥

बाधनालक्षणं दुःखम्॥ २१॥

बाधना पीडा ताप इति तयाऽनुविद्धमनुषक्तमविनिर्भागेन वर्तमानं दुःखयोगाद् दुःखमिति। सो ऽयं सर्वं दुःखेनानुविद्धमिति पश्यन् दुःखं जिहासु-

जन्मनि दुःखदर्शी निर्विद्यते निर्विण्णो विरज्यते विरक्तो विमुच्यते । यत्र तु निष्ठा यत्र तु पर्यवसानं सो ऽयम् ।

भा०:—बाधना, पीड़ा, और ताप का एक ही अर्थ है। दुःख से मिले हुए होने से संसार में सब विषयों में दुःख ही है । इस विचार से दुःख को त्यागने वाला वार २ जन्म लेने में दुःख जानकर उदासीन होता है, फिर विराम करता, विराम कर विरक्त होजाता है और विरक्त होने से जन्मरूपी दुःख से छुटकारा पाकर मोक्ष पाता है ॥ अब वह मोक्ष क्या है? सो कहते हैं ॥ २१ ॥

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ २२ ॥

तेन दुःखेन जन्मना ऽत्यन्त विमुक्तिरपवर्गः कथमुपात्तस्य जन्मनो हानम् अन्यस्य चानुपादानम् । एतामवस्थामपर्यन्तामपवर्गं वेदयन्तेऽपवर्गविदः । तदभयमजरममृत्युपदं *ब्रह्मक्षेमप्राप्तिरिति । नित्यं सुख मात्मनो महत्त्ववन्मोक्षे व्यज्यते तेनाभिव्यक्तेनात्यन्तं विमुक्तः सुखी भवतीति केचिन्मन्यन्ते । तेषां प्रमाणाभावादनुपपत्तिः । न प्रत्यक्षं नानुमानं नागमो वा विद्यते नित्यं सुख-मात्मनो महत्त्ववन्मोक्षेऽभिव्यज्यतइति ।

* नित्यस्याभिव्यक्तिः संवेदनं तस्य हेतुवचनम् ।

---

* अभयमिति पुनः संसारभयाभावमाह। अभयं वै ब्रह्मेत्यसकृदभयश्रुतेः। ये तु ब्रह्मैव नामरूपप्रपञ्चात्मना परिणमतइत्याहुस्तान प्रत्याह । अजरमिति। सर्वात्मना परिणामे सर्वात्मना ब्रह्मणोऽन्यथात्वाद्विनाशप्रसङ्गः । एकदेशपरि-णामे तु सावयवत्वेन घटादिवदनित्यत्वप्रसङ्गः। वैनाशिकाः प्राहुः प्रदीपस्येव निर्वाणं मोक्षस्तस्य चेतस इति । तान्प्रत्याह । अमृत्युपदमिति । ता० टी० ।

भा०:-पुनः संसार भया वह है। और ब्रह्म को वेद की अनेक श्रुतियों में 'अभय' कहा है। अद्वैतवादी कहता है कि ब्रह्म ही नाम, रूप, प्रपञ्च से सृष्टि में परिणत होता है अर्थात् सृष्टिमात्र ब्रह्म ही है। उनके प्रति कहते हैं कि ब्रह्म तो "अजर" है क्योंकि यदि ब्रह्म ही का परिणाम जगत् होता तो सावयव घट के एक देश परिणामी होने से घट का अनित्य होना सिद्ध है, इसी प्रकार ब्रह्म की भी अनित्यता प्रसंग होजावे। वैनाशिक का मत है कि जैसे दीपक बुझ जाता इसीप्रकार आत्मा की चेतनता का नष्ट होना ही मोक्ष है इसलिये "अमृत्यु" पद पढ़ा है अर्थात् वह मृत्यु रहित है ।

नित्यस्याभिव्यक्तिः संवेदनम् ज्ञानमिति तस्य हेतुर्वाच्यो यतस्तदुत्पद्यतइति

* सुखवन्नित्यमिति चेत् संसारस्थस्य मुक्तेनाविशेषः ।

यथा मुक्तः सुखेन तत्संवेदनेन च सन्नित्येनोपपन्नस्तथा संसारस्थोऽपि प्रसज्यतइति उभयस्य नित्यत्वात् ।

* अभ्यनुज्ञाने च धर्माधर्मफलेन साहचर्यं यौगपद्यं गृह्येत ।

यदिदमुत्पत्तिस्थानेषु धर्माधर्मफलं सुखं दुःखं वा संवेद्यते पर्यायेण तस्य च नित्यं स्वसंवेदनस्य च सहभावो यौगपद्यं गृह्येत न सुखाभावो नानभिव्यक्तिरस्ति उभयस्य नित्यत्वात् ।

* अनित्यत्वे हेतुवचनम् ।

अथ मोक्षे नित्यस्य सुखस्य संवेदनमनित्यं यत उत्पद्यते स हेतुर्वाच्यः ।

* आत्ममनःसंयोगस्य निमित्तान्तरसहितस्य हेतुत्वम् ।

आत्ममनःसंयोगो हेतुरिति चेद् एवमपि तस्य सहकारि निमित्तान्तर वचनीयमिति ।

* धर्मस्य कारणवचनम् ।

यदि धर्मो निमित्तान्तरं तस्य हेतुर्वाच्यो यत उत्पद्यतइति ।

*योगसमाधिजस्य कार्यावसायविरोधात्प्रलये संवेदननिवृत्तिः।

यदि योगसमाधिजो धर्मो हेतुस्तस्य कार्यावसायविरोधात्प्रलये संवेदनमत्यन्तं निवर्त्तयति ।

* असंवेदने चाविद्यमानेनाविशेषः ।

यदि धर्मक्षयात्संवेदनोपरमो नित्यं सुखं न संवेद्यतइति । किं विद्यमानं न संवेद्यतेऽथाविद्यमानमिति ? नानुमानं विशिष्टेऽस्तीति ।

* अप्रक्षयश्च धर्मस्य निरनुमानमुत्पत्तिधर्मकत्वात् ।

योगसमाधिजो धर्मो न क्षीयतइति नास्त्यनुमानमुत्पत्तिधर्मकमनित्यमिति । विपर्ययस्य त्वनुमानं यस्य तु संवेदनोपरमो नास्ति तेन संवेदनहेतुर्नित्य इत्यनुमेयम् । नित्ये च मुक्तसंसारस्थयोरविशेष इत्युक्तम् । यथा मुक्तस्य नित्यं सुखं तत्संवेदनहेतुश्च संवेदनस्य तूपरमो नास्ति कारणस्य नित्यत्वात् तथा संसारस्थस्यापीति । एवं च सति धर्माधर्मफलेन सुखदुःखसंवेदनेन साहचर्यं गृह्येतेति ।

*शरीरादिसम्बन्धः प्रतिबन्धहेतुरिति चेद् नशरीरादीनामुपभोगार्थत्वाद् विपर्ययस्य चाननुमानात् ।

स्यान्मतं संसारावस्थस्य शरीरादिसंबन्धो नित्यसुखसंवेदनहेतोः प्रतिबन्धकस्तेनाविशेषो नास्तीति। एतच्चायुक्तम् । शरीरादय उपभोगार्थास्ते भोगप्रतिबन्धं करिष्यन्तीत्यनुपपन्नम् । न चास्त्यनुमानमशरीरस्यात्मनो भोगः कश्चिदस्तीति ।

*इष्टाधिगमार्था प्रवृत्तिरिति चेद् न अनिष्टोपरमार्थत्वात् ।

इदमनुमानम् इष्टाधिगमार्थो मोक्षोपदेशः प्रवृत्तिश्च मुमुक्षूणां नोभयमनर्थकमिति । एतच्चायुक्तम् अनिष्टोपरमार्थो मोक्षोपदेशः प्रवृत्तिश्च मुमुक्षूणामिति । नेष्टमनिष्टेनाननुविद्धं संभवतीति इष्टमप्यनिष्टं संपद्यते अनिष्टहानाय घटमान इष्टमपि जहाति । विवेकहानस्याशक्यत्वादिति ।

*दृष्टातिक्रमश्च देहादिषु तुल्यः ।

यथा दृष्टमनित्यं सुखं परित्यज्य नित्यसुखं कामयते एवं देहेन्द्रियबुद्धीरनित्या दृष्टा अतिक्रम्य मुक्तस्य नित्या देहेन्द्रियबुद्धयः कल्पयितव्याः साधीयश्चैवं मुक्तस्य चैकात्म्यं कल्पितं भवतीति ।

*उपपत्तिविरुद्धमिति चेत् समानम् ।

देहादीनां नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं कल्पयितुमशक्यमिति समानं सुखस्यापि नित्यत्वं प्रमाणविरुद्धं कल्पयितुमशक्यमिति ।

*आत्यन्तिके च संसारदुःखाभावे सुखवचनादागमेऽपि सत्यविरोधः ।

यद्यपि कश्चिदागमः स्यात् मुक्तस्यात्यन्तिकं सुखमिति । सुखशब्द आत्यन्तिके दुःखाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते दृष्टो हि दुःखादेरभावे सुखप्रयोगो बहुलं लोकइति ।

*नित्यसुखरागस्य प्रहाणे मोक्षाधिगमाभावो रागस्य बन्धनसमाम्नानात् ।

यद्ययं मोक्षे नित्यं सुखमभिव्यज्यतइति नित्यसुखरागेण मोक्षाय घटमानो न मोक्षमधिगच्छेन्नाधिगन्तुमर्हतीति बन्धनसमाम्नातो हि रागः न बन्धने सत्यपि कश्चिन्मुक्त इति उपपद्यतइति ।

*प्रहीण नित्यसुखरागस्याप्रतिकूलत्वम् ।

अथास्य नित्यसुखरागः प्रहीयते तस्मिन्प्रहीणे नास्य नित्यसुखरागः प्रतिकूलो भवति यद्येवं मुक्तस्य नित्यं सुखं भवति अथापि न भवति नास्योभयोः पक्षयोर्मोक्षाधिगमोऽवकल्पतइति। स्थानवत एव तर्हि संशयस्य लक्षणं वाच्यमिति तदुच्यते ।

भा०:---उस दुःखदाई जन्म से अत्यन्त विमुक्ति का नाम अपवर्ग है अर्थात् ग्रहण किये जन्म की हानि और दूसरे जन्म का फिर न होना इसी अवस्था को जिसकी अवधि नहीं है "मोक्ष" कहते हैं। किसी का मत है कि आत्मा का सुख नित्य है परन्तु जिसप्रकार अणु प्रत्यक्ष नहीं होता, स्थूल होने में प्रत्यक्ष होता है-इसी प्रकार अपवर्ग होने पर प्रकट होता है। परन्तु यह प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता। नित्य सुख के ज्ञान का हेतु कहना चाहिये कि जिससे वह उत्पन्न होता है। यदि ऐसा कहो कि सुख के समान वह भी नित्य है, तो बद्ध और मुक्त जीवों में कुछ भेद नहीं होगा। यानी जैसे मुक्त (जीव) सुख के ज्ञान के साथ नित्य सिद्ध होता है, उसीप्रकार बद्ध जीव का भी होना सिद्ध हो जावेगा। यदि यह कहा जावे कि उत्पत्ति स्थान में धर्म और अधर्म के फल सुख दुःख का क्रम से ज्ञान होता है, तो नित्य सुखका ज्ञान भी सुख के साथ रहना चाहिये। दोनों के नित्य होने से न तो सुख का अभाव हो सकता और न वह अविदित ही हो सकता। क्यों कि अभाव होना अनित्य होने का हेतु होगा। जो हेतु को अनित्य मानकर यह कहा जावे कि सुख तो नित्य है, परन्तु उसका ज्ञान नित्य नहीं रहता। नित्य सुख का ज्ञान मोक्ष में होता है। जिस कारण से वह सुख उत्पन्न होता है वह हेतु अनित्य है। वह हेतु निमित्तान्तर सहित आत्मा और मन का संयोग है। और आत्मा मन के संयोग का सहकारी निमित्तान्तर धर्म्म है। जो धर्म्म निमित्तान्तर है जिससे कि ज्ञान उत्पन्न होता है, वह ज्ञान का हेतु है, तो योग समाधि से उत्पन्न धर्म्म के कार्य होने और कार्य के अन्त या नाश होने में नित्य होने का विरोध होता है, इससे कार्य रूप धर्म के नाश होने में ज्ञान की निवृत्ति हो जावेगी। ऐसा मानने में ज्ञान न होने और विद्यमान् न होने में कुछ भेद नहीं है। जो ऐसा कहो कि धर्म के नाश होने से ज्ञान का होना रुक जाता है, तो इससे नित्य सुख प्रकट नहीं होता। तो यह प्रश्न होता है कि विद्यमान् या अविद्यमान् का ज्ञान नहीं होता। तो विद्यमान् का ज्ञान होना प्रत्यक्ष प्रमाण से विरुद्ध है।

जो योग समाधिज धर्मका नाश न माना जावे तो उत्पत्ति धर्म वाला होने से अनुमान के विरुद्ध है। क्योंकि उत्पत्ति धर्मवाले का अनित्य होना ज्ञात होता है। और जो इस के विपरीत हेतु का नित्य होता, यों माना जावे कि सुख के ज्ञान का उपराम नहीं होता, (नित्य बना रहता) ज्ञान के हेतु नित्य होने से। तो यह अनुमान करने योग्य है। और नित्य मानने से (जैसा कहा गया है) मुक्त और बद्ध में कोई भेद नहीं रहता। जैसे मुक्त पुरुष को नित्य सुख होता, उस का ज्ञान और हेतु भी नित्य होता और नित्य ज्ञान का उपराम नहीं होता, कारण के नित्य होने से। उसीप्रकार बद्ध जीव का भी होगा। और ऐसा होने पर धर्म, अधर्म के फल (सुख दुःख) का ज्ञान एक साथ न होगा और यदि यह कहो कि शरीर आदि का सम्बन्ध नित्य सुख के प्रतिबन्धक का हेतु है, तो शरीर आदि का उपभोग के लिये होने से ऐसा समझना अनुमान के विपरीत है। मान भी लिया जावे कि संसार अवस्था में शरीर आदि का सम्बन्ध नित्य सुख के ज्ञान के कारण प्रतिबन्धक है, तो इस से मुक्त और बद्ध जीव में कोई विशेषता नहीं हुई जाती, और यह ठीक भी नहीं है। शरीर आदि तो आत्मा के उपभोग के लिये हैं ही, तो फिर वे ही भोग के प्रतिबिन्धक हों, यह नहीं सिद्ध होता। और ऐसा अनुमान भी नहीं हो सकता कि विना शरीर के किसी आत्मा का कोई भोग हो। यदि ऐसा कहो कि आत्मा को नित्य सुख है परन्तु जब इष्ट सुख पाने के लिये प्रवृत्ति होती है तो उस का संवेदन होता है, तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि अनिष्ट दुःख के निवृत्ति के लिये इष्ट मोक्ष का उपदेश है और मोक्ष ही के लिये मुमुक्षुओं की प्रवृत्ति होती है। विना अनिष्ट के इष्ट का मिलना भी असम्भव है। कहीं इष्ट भी अनिष्ट हो जाता है—(क्योंकि) अनिष्ट के नाश की चेष्टा करता हुआ इष्ट को भी खो बैठता। जो विना शरीर सम्वेदन नहीं होता, तो जैसे प्रत्यक्ष नित्य सुख को छोड़ कर नित्य सुख की कामना कियी जाती। इसी प्रकार संसारी के देह, इन्द्रिय, बुद्धि, अनित्य हैं। ऐसा समझ इन का उल्लङ्घन कर, मुक्त जीव के देह, इन्द्रिय, बुद्धिको नित्य कल्पना करनी चाहिये। तो ऐसी कल्पना को सिद्ध करनी चाहिये। यदि यह कहो कि यह युक्ति विरुद्ध है, तो दोनों ही समान हैं। यानी जैसा देह आदिकों के नित्य होने की कल्पना प्रमाण विरुद्ध नहीं कर सकते। यद्यपि ऐसा भी शास्त्र का वचन है कि मुक्त पुरुष को आत्यन्तिक सुख होता

है, परन्तु यहां दुःख के अत्यन्त अभाव में सुख शब्द का प्रयोग किया गया है। क्योंकि ऐसा लोक में देखा जाता है कि दुःख आदि के अभाव में प्रायः सुख का प्रयोग करते हैं, इस से कोई विरोध नहीं आता। (फिर) राग के बन्धन के हेतु होने से विना राग के नाश हुए मोक्ष नहीं हो सकता। यह जो कहा गया है कि मोक्ष में नित्य सुख राग प्रकट होता वह नित्य सुख राग द्वारा मोक्ष की चेष्टा करता हुआ मोक्ष को नहीं पा सकता। क्योंकि राग से तो बन्धन ही होता है। तो यह कैसे हो सकता कि बन्धन रहते हुए कोई मुक्त हो जावे ? यदि ऐसा कहो कि मुक्त पुरुष के नित्य सुख राग नष्ट हो जाने पर उन्हें यह प्रतिकूल नहीं होता। तो मुक्त को नित्य सुख होता है और नहीं भी होता है। दोनों ही तरह से मोक्ष की प्राप्ति में संशय होता है इस लिये अब पहिले संशय का लक्षण करते हैं ॥२२॥

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्य-
वस्थातश्च विशेषापेक्षोविमर्शः संशयः ॥ २३ ॥

समानधर्मोपपत्तेर्विशेषापेक्षो विमर्शः संशय इति। स्थाणुपुरुषयोः समानं धर्ममारोहपरिणाहौ पश्यन्पूर्वदृष्टं च तयोर्विशेषं बुभुत्समानः किंस्विदित्यन्यतरं नावधारयति तदनवधारणं ज्ञानं संशयः समानमनयोर्धर्ममुपलभे विशेषमन्यतरस्य नोपलभइत्येषा बुद्धिरपेक्षा संशयस्य प्रवर्त्तिका वर्त्तते तेन विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः। अनेकधर्मोपपत्तेरिति समानजातीयमसमानजातीयं चानेकं तस्यानेकस्य धर्मोपपत्तेर्विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात् समानजातीयेभ्योऽसमानजातीयेभ्यश्चार्था विशिष्यन्ते गन्धवत्त्वात्पृथिव्यवादिभ्यो विशिष्यते गुणकर्मभ्यश्च। अस्ति च शब्दे विभागजत्वं विशेषः। तस्मिन्द्रव्यं गुणः कर्म वेति सन्देहः। विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात्। किं द्रव्यस्य सतो गुणकर्मभ्यो विशेष आहोस्विद् गुणस्य सत अथ कर्मणः सत इति। विशेषापेक्षा अन्यतमस्य व्यवस्थापकं धर्मं नोपलभइति बुद्धिरिति। विप्रतिपत्तेरिति व्याहतमेकार्थदर्शनं विप्रतिपत्तिः व्याघातो विरोधोऽसहभाव इति। अस्त्यात्मेत्येकं दर्शनं नास्त्यात्मेत्यपरम्। न च सद्भावासद्भावौ सहैकत्र संभवतः। चान्यतरसाधको हेतुरुपलभ्यते। तत्र तत्त्वानवधारणं संशय इति। उपलब्ध्यव्यवस्थातः खल्वपि सच्चोदकमुपलभ्यते तडागादिषु मरीचिषु चाविद्यमानमुदकमिति अतः क्वचिदुपलभ्यमाने तत्त्वव्यवस्थापकस्य प्रमाणस्यानुपलब्धेः किं सदुपलभ्य-

तेऽयासदिति संशयो भवति। अनुपलब्ध्यव्यवस्थातः सच्च नोपलभ्यते मूलकीलकोदकादि असच्चानुत्पन्नं निरुद्धं वा ततः (क्वचिदनुपलभ्यमाने संशयः किं सन्नोपलभ्यते उतासन्निति संशयो भवति। विशेषापेक्षा पूर्ववत् पूर्वः समानोऽनेकश्च धर्मो ज्ञेयस्थ) उपलब्ध्यनुपलब्धी पुनर्ज्ञातृगते एतावता विशेषेण पुनर्वचनम् । समानधर्माधिगमात्समानधर्मोपपत्तेर्विशेषस्मृत्यपेक्षो विमर्श इति । स्थानवतां लक्षणमिति समानम् ।

भा०:–समान धर्म के ज्ञान से विशेष की अपेक्षा सहित अवमर्श को संशय कहते हैं, जैसे किसी ने किसी दूर स्थान से सूखा वृक्ष देख कर उस में स्थाणु और पुरुष की ऊंचाई और मोटापन के समान धर्म को देखता हुआ पहिले जो विशेष धर्म उस ने देखा था अर्थात् पुरुष में हाथ, पांव, और ठूंठे और वृक्ष में घोंसला आदि, उन को जानने की इच्छा करता हुआ, यह कहता है कि यह क्या वस्तु है? स्थाणु है या पुरुष? इन में से एक का भी निश्चय नहीं कर सकता, ऐसे अनिश्चय रूप ज्ञान को 'संशय' कहते हैं। विप्रतिपत्ति, अर्थात् परस्पर विरोधी पदार्थों को साथ देखने से भी सन्देह होता है, उदाहरण जैसे, एक शास्त्र कहता है कि आत्मा है, दूसरा कहता है कि नहीं, सत्ता और असत्ता इकट्ठा नहीं रह सकती और दो में से एक का निश्चय कराने वाला कोई हेतु मिलता नहीं, उस में तत्त्व का निश्चय न होना संशय है। उपलब्धि की अव्यवस्था (अनियम) से भी सन्देह होता जैसे सत्य जल, तालाब आदि में और असत्य, किरणों में। फिर कहीं प्राप्ति होने से यथार्थ के निश्चय कराने वाले प्रमाण के अभाव से क्या सत् का ज्ञान होता या असत् का? यह सन्देह वा संशय होता है। इसी प्रकार अनुपलब्धि की अव्यवस्था से भी संशय होता है। पहिले लक्षण में तुल्य अनेक धर्म जानने योग्य वस्तु में है और उपलब्धि यह ज्ञाता में है। इतनी विशेषता है ॥२३॥

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम् ॥ २४ ॥

यमर्थमाप्तव्यं हातव्यं वाऽध्यवसाय तदाप्तिहानोपायमनुतिष्ठति प्रयोजनं तद्वेदितव्यम् । प्रवृत्तिहेतुत्वादिममर्थमाप्स्यामि हास्यामि वेति व्यवसायोऽर्थस्याधिकारः एवं व्यवसीयमानोऽर्थोऽधिक्रियत इति ॥

भा०:–जिस अर्थ को पाने योग्य या छोड़ने योग्य निश्चय करके उस के पाने या छोड़ने का उपाय करता है उसे 'प्रयोजन' कहते हैं। अर्थात् जिस

पदार्थ को यह समझ करके कि यह पाने योग्य है या छोड़ने योग्य है, इच्छानुसार उस के पाने या छोड़ने के उपाय में प्रवृत्त होता है, उसे प्रयोजन कहते हैं। प्रवृत्ति का कारण इच्छा है, उस से इस अर्थ को पाऊंगा या छोडूंगा ऐसे निश्चय को अर्थ का 'अधिकार' कहते हैं। इस प्रकार निश्चय किये हुए विषय को अधिकृत कहते हैं ॥ २४ ॥

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ॥२५॥

लोकसाम्यमनतीताः लौकिकाः नैसर्गिकं वैनयिकं बुद्ध्यतिशयमप्राप्ताः तद्विपरीताः परीक्षकास्तर्केण प्रमाणैरर्थं परीक्षितुमर्हन्तीति। यथा यमर्थं लौकिका बुध्यन्ते तथा परीक्षका अपि सोऽर्थो दृष्टान्तः। दृष्टान्तविरोधेन हि प्रतिपक्षाः प्रतिषेद्धव्या भवन्तीति दृष्टान्तसमाधिना च स्वपक्षाः स्थापनीया भवन्तीति। अवयवेषु चोदाहरणाय कल्पतइति।

अथ सिद्धान्तः इदमित्थंभूतं चेत्यभ्यनुज्ञायमानमर्थजातं सिद्धं सिद्धस्य संस्थितिः सिद्धान्तः संस्थितिरित्थम्भावव्यवस्था धर्मनियमः। स खल्वयम्।

भा०:-लौकिक (शास्त्र से अनभिज्ञ) और परीक्षक (जो प्रमाण द्वारा पदार्थ की परीक्षा कर सकते) इन दोनों के ज्ञान की समता जिसमें हो उसे दृष्टान्त कहते हैं। तात्पर्य्य यह है कि जिस पदार्थ को लौकिक जैसा समझे उसी प्रकार उसे परीक्षक भी जाने उसका नाम 'दृष्टान्त' है। दृष्टान्त के विरोध से प्रतिवादी निषेध योग्य होते हैं,और उसके समाधान से अपने पक्ष के समर्थन योग्य होते हैं। अवयवों में उदाहरण के लिये इस की कल्पना होती है ॥२५॥

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः ॥ २६ ॥

तन्त्रार्थसंस्थितिः तन्त्रसंस्थितिः तन्त्रमितरेतराभिसंबद्धस्यार्थसमूहस्योपदेशः शास्त्रम्। अधिकरणानुषक्तार्था संस्थितिरधिकरणसंस्थितिः अभ्युपगमसंस्थितिरनवधारितार्थपरिग्रहः तद्विशेषपरीक्षणायाभ्युपगमसिद्धान्तः। तन्त्रभेदात्तु खलु स चतुर्विधः।

भा०:—परस्पर सम्बन्ध सहित अर्थों के समूह के उपदेश को 'तन्त्र' या 'शास्त्र' कहते हैं, उस के अर्थ की संस्थिति (निर्णय) किये गये अर्थ को 'सिद्धान्त' कहते हैं। 'यह ऐसा हुआ और माना गया' इसको सिद्ध कहते हैं, और सिद्धि के संस्थिति का नाम सिद्धान्त है। "अधिकरणसिद्धान्त" और अभ्युपगमसिद्धान्त का लक्षण क्रम से सू० ३०, ३१ में कहा जावेगा ॥२६॥

सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात्॥२७॥

तत्रैताश्चतस्रः संस्थितयोऽर्थान्तरभूताः । तासाम् ।

भा०:-उक्त सिद्धान्त ४ प्रकार का है । १ सर्व तन्त्र सिद्धान्त, २ प्रतितन्त्र, सिद्धान्त ३, अधिकरणसिद्धान्त और ४ अभ्युपगमसिद्धान्त हैं ॥ २७ ॥ उन में से

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ॥ २८ ॥

यथा घ्राणादीनीन्द्रियाणि गन्धादय इन्द्रियार्थाः पृथिव्यादीनि भूतानि प्रमाणैरर्थस्य ग्रहणमिति ।

भा०:—जो अर्थ सब शास्त्रों में अविरुद्धता (समान) से माना गया उसे " सर्वतन्त्रसिद्धान्त " कहते हैं । अर्थात् जिस बात को सब शास्त्रकार मानते हैं जैसे घ्राण आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय, गन्ध आदि उन के विषय, पृथिवी, जल, आदि पांच भूत और प्रमाण द्वारा पदार्थों का ग्रहण करना इत्यादि को सब ही शास्त्रकार मानते हैं ॥ २८ ॥

समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ॥ २९ ॥

यथा नासत आत्मलाभः न सत आत्महानं निरतिशयाश्चेतनाः देहेन्द्रियमनःसु विषयेषु तत्तत्कारणे च विशेष इति सांख्यानां पुरुषकर्मादिनिमित्तो भूतसर्गः कर्महेतवो दोषाः प्रवृत्तिश्च स्वगुणविशिष्टाश्चेतनाः असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुध्यतइति योगानाम् ।

भा०—जो बात एक शास्त्र में तो सिद्ध हो और दूसरे में असिद्ध हो उसे " प्रतितन्त्रसिद्धान्त " कहते हैं । अर्थात् अपने २ शास्त्र का सिद्धान्त, जैसे सांख्यशास्त्र का मत है कि ' जो असत् है वह कभी नहीं होता और सत् का अभाव भी कभी नहीं होता' । योग शास्त्र कहता है कि ' भूतों की रचना में कर्म निमित्त है ' दोष और प्रवृत्ति कर्मों के कारण हैं, चेतन अपने गुणों से विशिष्ट हैं, असत् उत्पन्न होता और जो उत्पन्न होता है उसी का अभाव भी होता है । इसी प्रकार मीमांसाशास्त्र शब्द को नित्य मानता है एवं न्यायशास्त्र शब्द को अनित्य मानता है, यहां मीमांसाशास्त्र का शब्द को अनित्य मानना, और न्याय का, शब्द को अनित्य मानने को " प्रतितन्त्र सिद्धान्त " कहते हैं ॥ २९ ॥

यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ॥ ३० ॥

यस्यार्थस्य सिद्धावन्येऽर्था अनुषज्यन्ते न तैर्विना सोऽर्थः सिध्यति तेऽर्था यदधिष्ठानाः सोऽधिकरणसिद्धान्तः । यथा देहेन्द्रियव्यतिरिक्तो ज्ञाता दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादिभिः । अत्रानुषङ्गिणोऽर्था इन्द्रियनानात्वं नियतविषयाणीन्द्रियाणि स्वविषयग्रहणलिङ्गानि ज्ञातुर्ज्ञानसाधनानि गन्धादिगुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं गुणाधिकरणमनियतविषयाश्चेतना इति पूर्वार्थसिद्धावेतेऽर्थाः सिध्यन्ति न तैर्विना सोऽर्थः संभवतीति ।

भा०ः—जिस अर्थ के सिद्ध होने से अन्य अर्थ भी नियम से सिद्ध हों उसे " अधिकरणसिद्धान्त " कहते हैं; उदाहरण जैसे,–देह और इन्द्रियों से भिन्न कोई जानने वाला है जिसे आत्मा कहते हैं, देखने और छूने पर एक अर्थ के ज्ञान होने से । यहां इन्द्रियों का अनेक होना, उनके विषयों का नियत होना, इन्द्रियां ज्ञाता के ज्ञान की साधक, इन विषयों की सिद्धि स्वयं हो जाती है; क्योंकि उन के माने विना उक्त अर्थ का सम्भव नहीं होता । यही " अधिकरणसिद्धान्त " है ॥ ३० ॥

अपरीक्षिताभ्युपगमात्तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ॥३१॥

यत्र किंचिदर्थजातमपरीक्षितमभ्युपगम्यते अस्तु द्रव्यं शब्दः स तु नित्योऽथानित्य इति द्रव्यस्य सतो नित्यता अनित्यता वा तद्विशेषः परीक्ष्यते सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः स्वबुद्ध्यतिशयचिख्यापयिषया परबुद्ध्यवज्ञानाच्च प्रवर्ततइति । अथावयवाः ।

भा०ः–विना परीक्षा किये किसी पदार्थ को मानकर उस पदार्थ की विशेष परीक्षा करने को " अभ्युपगमसिद्धान्त " कहते हैं; जैसे स्वीकार किया कि शब्द द्रव्य है, परन्तु वह नित्य है या अनित्य? यह उसकी विशेष परीक्षा हुई। यह सिद्धान्त, अपनी बुद्धि की अधिकता जतलाने की इच्छा से और दूसरे की बुद्धि को अनादर करने के लिये काम में लाया जाता है । जिस प्रकार लोक में प्रायः कहते हैं कि मान लो कि यह वस्तु ऐसी ही है (जैसा तुम कहते हो) पर इस का भी मैं खण्डन करता हूं, इस से भी तुम्हारे पक्ष की सिद्धि नहीं होती ॥ ३१ ॥

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥ ३२ ॥

दशावयवानेके नैयायिका वाक्ये संचक्षते जिज्ञासा संशयः शक्यप्राप्तिः प्रयोजनं संशयव्युदास इति । ते कस्मान्नोच्यन्तइति । तत्राप्रतीयमानेऽर्थे प्रत्ययार्थस्य प्रवर्तिका जिज्ञासा अप्रतीयमानमर्थं कस्माज्जिज्ञासते तं तत्त्वतो ज्ञातं

हास्यामि वोपादास्ये उपेक्षिष्ये वेति ता एता हानोपादानोपेक्षाबुद्धयस्तत्त्वज्ञानस्यार्थस्तदर्थमयं जिज्ञासते सा खल्वियमसाधनमर्थस्येति जिज्ञासाधिष्ठानं संशयश्च व्याहतधर्मोपसंघातात् क्व ज्ञाने प्रत्यासन्नः व्याहतयोर्हि धर्मयोरन्यतरत्तत्त्वं भवितुमर्हतीति। स पृथगुपदिष्टो ऽप्यसाधनमर्थस्येति। प्रमातुः प्रमाणानि प्रमेयाधिगमार्थानि सा शक्यप्राप्तिर्न साधकस्य वाक्यस्य भागेन युज्यते प्रतिज्ञादिवदिति। प्रयोजनं तत्त्वावधारणमर्थसाधकस्य वाक्यस्य फलं नैकदेश इति। संशयव्युदासः प्रतिपक्षोपवर्णनं तत्प्रतिषेधे तत्त्वाभ्यनुज्ञानार्थं न त्वयं (साधकवाक्यैकदेश इति प्रकरणे तु जिज्ञासादयः समर्था अवधारणीयार्थोपकारात् तत्त्वसाधकभावात्तु प्रतिज्ञादयः) साधकवाक्यस्य भागा एकदेशा अवयवा इति। तेषां तु यथाविभक्तानाम्।

भा०:—प्रतिज्ञा १, हेतु २, उदाहरण ३, उपनयन ४, और निगमन ५, ये पांच, वाक्य के अवयव या भाग (जुज़) हैं। कोई २ नैयायिक वाक्य के १० अवयव मानते हैं; जैसे १ प्रतिज्ञा, २ हेतु, ३ उदाहरण, ४ उपनय, ५ निगमन, ६ जिज्ञासा, ७ संशय, ८ शक्यप्राप्ति, ९ प्रयोजन और १० संशयव्युदास। परन्तु सूत्र में क्यों पांच अवयव कहे गये? इस का उत्तर यह है कि–अज्ञात पदार्थ के जानने की इच्छा का नाम जिज्ञासा है। और जिज्ञासा करने वाला जिज्ञासा इस लिये करता है कि पदार्थ को ठीक २ जानकर इसे ग्रहण करूंगा या छोड़ूंगा या इससे उदासीन रहूंगा। त्याग, ग्रहण, या उदासीनता की बुद्धि को छोड़ कर निष्प्रयोजन समझूंगा। जिज्ञासा का आश्रय (घर) संशय है। और यह अर्थ का साधक नहीं है। प्रमेयों के जानने के लिये जो प्रमाता के प्रमाण हैं उसी को "शक्यप्राप्ति" कहते हैं। वह प्रतिज्ञा आदि की नाईं साधक के वाक्य भाग में संयुक्त नहीं होती। तत्त्व का निश्चय करना प्रयोजन' है, तो अर्थ के साधन करने वाले के वाक्य का फल है। 'संशयव्युदास' तर्क है—जिस का वर्णन आगे होगा। जिज्ञासा आदि पांच, वाक्य का एक देश न होने से अवयव नहीं हैं, अवयव केवल पूर्वोक्त–५ ही हैं॥ ३२॥

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा॥ ३३॥

प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः अनित्यः शब्द इति।

भा०:–जतलाने योग्य धर्म्म के द्वारा धर्मी के स्वीकृतवचन को प्रतिज्ञा कहते हैं। अर्थात् साध्य के कथन को प्रतिज्ञा (दावा) कहते हैं; जैसे—शब्द अनित्य है॥ ३३॥

उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुः ॥ ३४ ॥

उदाहरणेन सामान्यात्साध्यस्य धर्मस्य साधनं प्रज्ञापनं हेतुः साध्ये प्रतिसंधाय धर्ममुदाहरणे च प्रतिसंधाय तस्य साधनतावचनं हेतुः उत्पत्तिधर्मकत्वादिति । उत्पत्तिधर्मकमनित्यं दृष्टमिति । किमेतावद्धेतुलक्षणमिति । नेत्युच्यते किं तर्हि ?

भा०:—उदाहरण की समानता से साध्य के धर्म के साधन को हेतु कहते हैं; जैसे (शब्द अनित्य है) उत्पत्तिधर्म वाला होने से (यह हेतु है) क्योंकि जो पदार्थ उत्पन्न होता, वह अनित्य देखा गया है। तो क्या इतना ही हेतु का लक्षण है ? नहीं, तो फिर ? ॥ ३४ ॥

तथा वैधर्म्यात् ॥३५॥

उदाहरणवैधर्म्याच्च साध्यसाधनं हेतुः । कथम् अनित्यः शब्दः उत्पत्तिधर्मकं नित्यं यथा आत्मादिद्रव्यमिति ।

भा०:—उदाहरण के विपरीत धर्म से जो साध्य का साधक है, उसे भी हेतु कहते हैं। जैसे शब्द अनित्य है, 'उत्पत्ति धर्म वाला होने से' जो उत्पत्ति धर्म वाला नहीं होता, वह नित्य है। जैसे आत्मा। यहां उदाहरण के विरोधी धर्म से शब्द का अनित्य होना सिद्ध किया गया॥ ३५ ॥

साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ॥३६॥

साध्येन साधर्म्यं समानधर्मता साध्यसाधर्म्यात्कारणात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त इति । तस्य धर्मस्तद्धर्मः । तस्य साध्यस्य । साध्यं च द्विविधं धर्मिविशिष्टो वा धर्मः शब्दस्यानित्यत्वं धर्मविशिष्टो वा धर्मी अनित्यः शब्द इति । इहोत्तरं तद्ग्रहणेन गृह्यतइति कस्मात्पृथग्धर्मवचनात् । तस्य धर्मस्तद्धर्मस्तस्य भावस्तद्धर्मभावः स यस्मिन् दृष्टान्ते वर्तते स दृष्टान्तः साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी भवति स चोदाहरणमिष्यते तत्र यदुत्पद्यते तदुत्पत्तिधर्मकम् । तच्च भूत्वा न भवति आत्मानं जहाति निरुध्यत इत्यनित्यम् । एवमुत्पत्तिधर्मकत्वं साधनमनित्यत्वं साध्यं सोऽयमेकस्मिन्द्वयोर्धर्मयोः साध्यसाधनभावः साधर्म्याद्व्यवस्थित उपलभ्यते तं दृष्टान्ते उपलभमानः शब्देऽप्यनुमिनोति शब्दोऽप्युत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः स्थाल्यादिवदित्युदाह्रियते तेन धर्मयोः साध्यसाधनभाव इत्युदाहरणम्।

भा०:—उदाहरण दो प्रकार का है। एक वह जो साध्य के साथ तुल्य धर्मता का उदाहरण हो इसको 'अन्वयी' भी कहते हैं। दूसरा वह है जो साध्य

के वैधर्म्यता का उदाहरण हो इसे 'व्यतिरेकी' भी कहते हैं। साध्य के साथ तुल्य धर्मता से साध्य का धर्म जिसमें हो ऐसे दृष्टान्त को उदाहरण कहते हैं; जैसे उत्पन्न होता, वह उत्पत्ति धर्मवाला कहाता है और उत्पन्न होने के पीछे नाश को प्राप्त हो जाता है; इसलिये अनित्य हुआ। वह इस प्रकार उत्पत्ति धर्मवाला होना, साधन और अनित्य होना, साध्य हुआ। इन दो धर्मों का साध्य साधनभाव एक वस्तु में निश्चित पाया जाता है इसे दृष्टान्त में देखकर शब्द में भी अनुमान करता है कि शब्द भी उत्पत्ति वाला है अतएव अनित्य, है घट की नाईं, यहां घट दृष्टान्त है। अन्वयी (साधर्म्य) उदाहरण का लक्षण कहा गया ॥३६॥ अब व्यतिरेकी या वैधर्म्य उदाहरण अगले सूत्र में कहते हैं।

तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ॥३७॥

दृष्टान्त उदाहरणमिति प्रकृतं साध्यवैधर्म्यादतद्धर्मभावीदृष्टान्त उदाहरणमिति। अनित्यः शब्द उत्पत्तिधर्मकत्वात् अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमात्मादि सोऽयमात्मादिर्दृष्टान्तः साध्यवैधर्म्यादनुत्पत्तिधर्मकत्वादतद्धर्मभावी योऽसौ साध्यस्य धर्मो नित्यत्वं स तस्मिन्न भवतीति। अत्रात्मादौ दृष्टान्ते उत्पत्तिधर्मकत्वस्य भावादनित्यत्वं न भवतीति उपलभमानः शब्दे विपर्ययमनुमिनोति उत्पत्तिधर्मकत्वस्य भावादनित्यः शब्द इति। साधर्म्योक्तस्य हेतोः साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्। वैधर्म्योक्तस्य हेतोः साध्यवैधर्म्यादतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्। पूर्वस्मिन् दृष्टान्ते यौ तौ धर्मौ साध्यसाधनभूतौ पश्यति साध्येऽपि तयोः साध्यसाधनभावमनुमिनोति उत्तरस्मिन् दृष्टान्ते ययोर्धर्मयोरेकस्याभावादितरस्याभावं पश्यति तयोरेकस्याभावादितरस्याभावं साध्येऽनुमिनोतीति तदेतद्धेत्वाभासेषु न संभवतीत्यहेतवो हेत्वाभासाः। तदिदं हेतूदाहरणयोः सामर्थ्यं परमसूक्ष्मं दुःखबोधं पण्डितरूपवेदनीयमिति।

भा०:—साध्य के विरुद्ध धर्म से विपरीत उदाहरण होता है; जैसे शब्द अनित्य है, उत्पत्तिधर्मवाला होने से. जो उत्पत्ति धर्मवाला नहीं होता, वह नित्य देखा गया. जैसे आकाश, आत्मा. काल आदि। यहां दृष्टान्त में उत्पत्ति धर्म के अभाव से नित्यत्व को देखकर शब्द में विपरीत अनुमान करता है; क्योंकि शब्द में उत्पत्ति रूप धर्म है, उसका अभाव नहीं, अतएव अनित्य है। हेतु और उदाहरण की शक्ति बड़ी सूक्ष्म और दुर्बोध है. इसे केवल अच्छे २ पण्डित जान सकते हैं ॥ ३७ ॥

भाष्ये व्याख्यातम् । प्रत्यक्षनिगमनमुदाहरणं दृष्टेनादृष्टसिद्धिः अनुमानमुपनयः तथेत्युपसंहारात् न च तथेति चोपमानधर्मप्रतिषेधे विपरीतधर्मोपसंहारसिद्धिः । सर्वेषामेकार्थप्रतिपत्तौ सामर्थ्यप्रदर्शनं निगमनमिति । इतरेतराभिसंबन्धो-ऽप्यसत्यां प्रतिज्ञायामनाश्रया हेत्वादयो न प्रवर्त्तेरन् । असति हेतौ कस्य साधनभावः प्रदर्श्येत । उदाहरणे साध्ये च कस्योपसंहारः स्यात्कस्य चापदेशात्प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनं स्यादिति । असत्युदाहरणे केन साधर्म्यं वा साध्यसाधनमुपादीयेत कस्य वा साधर्म्यवशादुपसंहारः प्रवर्त्तेत । उपनयं चान्तरेण साध्येऽनुपसंहृतः साधको धर्मो नार्थं साधयेत् निगमनाभावे नानभिव्यक्तसंबन्धानां प्रतिज्ञादीनामेकार्थेन प्रवर्तनं तथेति प्रतिपादनं कस्येति ।

अथावयवार्थः । साध्यस्य धर्मस्य धर्मिणा संबन्धोपादानं प्रतिज्ञार्थः । उदाहरणेन समानस्य विपरीतस्य वा साध्यस्य धर्मस्य साधकभाववचनं हेत्वर्थः । साधनभूतस्य धर्मस्य साध्येन धर्मेण सामानाधिकरण्योपपादनमुपनयार्थः । उदाहरणस्थयोर्धर्मयोः साध्यसाधनभावोपपत्तौ साध्ये विपरीतप्रसङ्गप्रतिषे-धार्थं निगमनम् । न चैतस्यां हेतूदाहरणपरिशुद्धौ सत्यां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वं प्रक्रमते । अव्यवस्थाप्य खलु धर्मयोः साध्यसाधनभावमुदाहरणे जातिवादी प्रत्यवतिष्ठते । व्यवस्थिते तु खलु धर्मयोः साध्यसाधनभावे दृष्टान्तस्थे गृह्यमाणे साधनभूतस्य धर्मस्य हेतु-त्वेनोपादानं न साधर्म्यमात्रस्य न वैधर्म्यमात्रस्य वेति । अत ऊर्ध्वं तर्को लक्ष-णीयस्तर्क इति अथेदमुच्यते ।

भा०:—" इसलिये उत्पत्ति धर्मवाला होने से शब्द अनित्य है " इस प्रकार के वाक्य को ' निगमन ' कहते हैं । अर्थात् जिसवाक्य में 'प्रतिज्ञा' 'हेतु' 'उदाहरण' और 'उपनय' एक साथ समर्थन किये जावें उसे ' निगमन ' कहते हैं। सुगमता से समझने के लिये पूर्वोक्त पांचों अवयव फिर से दिखलाये जाते हैं। जैसे किसी ने कहा कि शब्द अनित्य है.(यह प्रतिज्ञा) उत्पत्ति धर्मवाला होने से, (यह हेतु) उत्पत्ति धर्मवाला घट आदि द्रव्य अनित्य देखने में आते हैं, (उदाहरण) इसी प्रकार शब्द भी उत्पत्ति धर्मवाला है, (उपनय हुआ) अतएव शब्द अनित्य सिद्ध हुआ (निगमन हुआ) । अवयव समूह रूप वाक्य में एकत्र होकर परस्पर सम्बन्ध से प्रमाण अर्थ को सिद्ध करते हैं । अब पांच अवयवों का अर्थ करते हैं । धर्मी के द्वारा साध्य धर्म का सिद्ध करना प्रतिज्ञा का अर्थ है । उदाहरण के अनुसार समान या विरुद्ध धर्म का साधक

भाव कहना हेतु का अर्थ है। एक में दो धर्मों का साध्य साधन भाव जतलाना उदाहरण का अर्थ है। साधनभूत का साध्य धर्म के साथ समान अधिकरण (एक आश्रय) होने का प्रतिपादन करना उपनय है। उदाहरण में जो दो धर्म हैं उन के साध्य साधनभाव सिद्ध होने में विपरीत प्रसंग के खण्डन के लिये निगमन होता है। अब तर्क का लक्षण कहते हैं ॥ ३९ ॥

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थेकारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ॥४०॥

अविज्ञायमानतत्त्वेऽर्थे जिज्ञासा तावज्जायते जानीयेममिति। अथ जिज्ञासितस्य वस्तुनो व्याहतौ धर्मौ विभागेन विमृशति किं स्विदित्थमाहो स्विन्नेदमिति। विमृश्यमानयोर्धर्मयोरेकं कारणोपपत्त्याऽनुजानाति सम्भवत्यस्मिन् कारणं प्रमाणं हेतुरिति। कारणोपपत्त्या स्यादेवमेतन्नेतरदिति तत्र निदर्शनं योऽयं ज्ञाता ज्ञातव्यमर्थं जानीते तं च भो जानीयेति जिज्ञासा। स किमुत्पत्तिधर्मकोऽनुत्पत्तिधर्मक इति विमर्शः। विमृश्यमानेऽविज्ञाततत्त्वेऽर्थे यस्य धर्मस्याभ्यनुज्ञाकारणमुपपद्यते तमनुजानाति। यद्ययमनुत्पत्तिधर्मकः ततः तस्य कृतस्य कर्मणः फलमनुभवति ज्ञाता दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरं पूर्वस्य कारणमुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति स्यातां संसारापवर्गौ उत्पत्तिधर्मके ज्ञातरि पुनर्न स्याताम्। उत्पन्नः खलु ज्ञाता देहेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिः संबध्यतइति नास्येदं स्वकृतस्य कर्मणः फलमुत्पन्नश्च भूत्वा न भवतीति तस्याविद्यमानस्य विरुद्धस्य वा स्वकृतकर्मणः फलोपभोगो नास्ति तदेवमेकस्यानेकशरीरयोगः शरीरवियोगश्चात्यन्तं न स्यादिति यत्र कारणमनुपपद्यमानं पश्यति तन्नानुजानाति सो ऽयमेवंलक्षण ऊहस्तर्क इत्युच्यते। कथं पुनरयं तत्त्वज्ञानार्थो न तत्त्वज्ञानमेवेति। अनवधारणात् अनुजानात्ययमेकतरं धर्मं कारणोपपत्त्या न त्ववधारयति न व्यवस्यति न निश्चिनोति एवमेवेदमिति। कथं तत्त्वज्ञानार्थ इति तत्त्वज्ञानविषयाभ्यनुज्ञालक्षणानुग्रहोद्भावितात्प्रसन्नादनन्तरं प्रमाणसामर्थ्यात्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यतइत्येवं तत्त्वज्ञानार्थ इति। सो ऽयं तर्कः प्रमाणानि प्रतिसंदधानः प्रमाणाभ्यनुज्ञानात् प्रमाणसहितो वादे प्रदिष्ट इति। अविज्ञाततत्त्वमनुजानाति यथा सोऽर्थो भवति तस्य यथा भावस्तत्त्वमविपर्ययो याथातथ्यम्। एतस्मिंश्च तर्कविषये।

भा०:-अज्ञात पदार्थ में हेतु की उत्पत्ति से तत्त्व ज्ञान के लिये जो विचार होता उसे 'तर्क' कहते हैं। जिस वस्तु का तत्त्व अज्ञात है, पहिले उस के जानने की इच्छा होती है. पुनः जिज्ञासित (पूछी हुई) वस्तु के विरोधी

धर्मों को विभाग से विचारता है कि यह वस्तु इस प्रकार की है या नहीं। विचार किये हुए दो धर्मों में से जिस का हेतु मिल जाता उस धर्म को मान लेता है; जैसे ' यह ज्ञाता जानने योग्य अर्थ को जानता है, इसको मैं जानूं इसे "जिज्ञासा" कहते हैं। 'वह उत्पत्ति धर्म वाला है या अनुत्पत्ति धर्मवाला है, ? यह " विमर्श " हुआ। विचार करने से जिस धर्म के मानने का कारण पाता है उसको मान लेता है। यह ज्ञाता उत्पत्ति धर्म वाला नहीं इस लिये अपने किये कर्म का फल भोगता है, यदि उत्पत्ति धर्मवाला नहीं होता तो देहादि के साथ उत्पन्न होकर फिर न होता और अपने किये कर्मों के फल का भागी भी न होता एक को अनेक शरीरों के संयोग और वियोग भी न बन सकते जिस का कारण नहीं पाता उसे नहीं स्वीकार करता ऐसे विचार को 'तर्क' कहते हैं ॥४०॥

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ॥ ४१ ॥

स्थापना साधनं प्रतिषेध उपालम्भः। तौ साधनोपालम्भौ पक्षप्रतिपक्षाश्रयौ व्यतिषक्तावनुबन्धेन प्रवर्त्तमानौ पक्षप्रतिपक्षावित्युच्यते। तयोरन्यतरस्य निवृत्तिः एकतरस्यावस्थानमवश्यं भावि तस्यावस्थापनं तस्यावधारणं निर्णयः। नेदं पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं संभवतीति। एको हि प्रतिज्ञातमर्थं तं हेतुतः स्थापयति प्रतिषिद्धं चोद्धरतीति। द्वितीयस्य द्वितीयेन स्थापनाहेतुः प्रतिषिध्यते तस्यैव प्रतिषेधहेतुश्चोद्ध्रियते स निवर्त्तते। तस्य निवृत्तौ योऽवतिष्ठते तेनार्थावधारणं निर्णयः। उभाभ्यामेवार्थावधारणमित्याह। कया युक्त्या एकस्य संभवो द्वितीयस्यासंभवः। तावेतौ संभवासंभवौ विमर्शं सह निवर्त्तयतः उभयसंभवे। उभयासंभवे त्वनिवृत्तो विमर्श इति। विमृश्येति विमर्शं कृत्वा। सोऽयं विमर्शः पक्षप्रतिपक्षाववद्योत्य न्यायं प्रवर्तयतीत्युपादीयतइति। एतच्च विरुद्धयोरेकधर्मिस्थयोर्बोद्धव्यम्। यत्र तु धर्मिसामान्यगतौ विरुद्धौ धर्मौ हेतुतः संभवतः तत्र समुच्चयः हेतुतो ऽर्थस्य तथाभावोपपत्तेः। यथा क्रियावद् द्रव्यमिति लक्षणवचने यस्य द्रव्यस्य क्रियायोगो हेतुतः संभवति तदक्रियमिति। एकधर्मिस्थयोश्च विरुद्धयोर्धर्मयोरयुगपद्भाविनोः कालविकल्पः यथा तदेव द्रव्यं क्रियायुक्तं क्रियावत् अनुत्पन्नोपरतक्रियं पुनरक्रियमिति। न चायं निर्णये नियमः विमृश्यैव पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णय इति। किं त्विन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नमित्यत्र प्रत्यक्षे ऽर्थे ऽवधारणं निर्णय इति। परीक्षाविषये विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः शास्त्रे वादे च विमर्शवर्ज्जम्।

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमान्हिकम्।

भा०ः--स्थापना(साधन) और निषेध (प्रतिषेध,खण्डन,उपालम्भ) से विचार करके पदार्थ के निश्चय करने का नाम निर्णय है। साधन और निषेध का क्रम से आश्रय (साधन का) पक्ष है। और निषेध का आश्रय 'प्रतिपक्ष' है। पक्ष और प्रतिपक्ष में से एक की निवृत्ति होने पर दूसरे की स्थिति अवश्य ही होगी, जिसकी स्थिति होगी उस का निश्चय होगा उसी को 'निर्णय' कहते हैं। निर्णय में यह कुछ नियम नहीं है कि पक्ष और प्रतिपक्ष से विचार करने के लिये ही निश्चय को 'निर्णय' कहते हैं, किन्तु इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से उत्पन्न हुए प्रत्यक्ष में भी वस्तु का निश्चय होता है, उसे भी निर्णय कहते हैं ॥ ४१ ॥

न्यायभाष्य के प्रथम अध्याय के प्रथम आन्हिक का अनुवाद पूरा हुआ।

तिस्रः कथा * भवन्ति वादो जल्पो वितण्डा चेति। तासाम्।

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ॥ १ ॥

एकाधिकरणस्थौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षौ प्रत्यनीकभावादस्त्यात्मा नास्त्यात्मेति। नानाधिकरणौ विरुद्धौ न पक्षप्रतिपक्षौ यथा नित्य आत्मा अनित्या बुद्धिरिति। परिग्रहोऽभ्युपगमव्यवस्था। सोऽयं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः। तस्य विशेषणं प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः प्रमाणैस्तर्केण च साधनमुपालम्भश्चास्मिन् क्रियतइति। साधनं स्थापना उपालम्भः प्रतिषेधः। तौ साधनोपालम्भौ उभयोरपि पक्षयोर्व्यतिषक्तावनुबद्धौ यावदेको निवृत्त एकतरो व्यवस्थित इति निवृत्तस्योपालम्भो व्यवस्थितस्य साधनमिति। जल्पे निग्रहस्थानविनियोगाद्वादे तत्प्रतिषेधः। प्रतिषेधे कस्य चिदभ्यनुज्ञानार्थं सिद्धान्ताविरुद्ध इति वचनम्। सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्ध इति हेत्वाभासस्य निग्रहस्थानस्याभ्यनुज्ञा वादे। पञ्चावयवोपपन्न इति हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनं हेतूदाहरणाधिकमधिक मिति चैतयोरभ्यनुज्ञानार्थमिति। अवयवेषु प्रमाणतर्कान्तर्भावे पृथक् प्रमाणतर्कग्रहणं साधनोपालम्भव्यतिषङ्गज्ञापनार्थम्। अन्यथोभावपि

---

* नानाप्रवक्तृकत्वे सति तद्विचारवस्तुविषया वाक्यसंदृब्धिः कथा। तस्यां कथायामेव नियमस्तिस्र एवेति। इदं च पक्षप्रतिपक्षपरिग्रह इति सूत्रावयवेन सूचितम्। ता० टी० तत्र गुर्वादिभिः सह वादः। विजिगीषुणा सह जल्पवितण्डे। न्या० वा०

पक्षौ स्थापनाहेतुना प्रवृत्तौ वाद इति स्यात्। अन्तरेणापि चावयवसंबद्धं प्रमाणान्यर्थं साधयन्तीति दृष्टं तेनापि कल्पेन साधनोपालम्भौ वादे भवत इति ज्ञापयति। छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्प इति वचनाद्विनिग्रहो जल्प इति मा विज्ञायि छलजाति निग्रहस्थानसाधनोपालम्भ एव जल्पः प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भो वाद एवेति मा विज्ञायीत्येवमर्थं प्रमाणतर्कग्रहणमिति।

भा०:—अनेक प्रवक्ताओं के विचार का जो विषय या पदार्थ है उनके वाक्य सन्दर्भ का नाम कथा है। वह कथा तीन प्रकार की होती है। वाद, जल्प, वितण्डा। इनमें से वाद तो गुरु आदिकों के साथ जिज्ञासा बुद्धि से होता और जल्प, वितण्डा, जीतने की इच्छा वाले के साथ होते हैं (हार जीतके विचार से)। एक स्थान में रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्म पक्ष (अपना मत) और प्रतिपक्ष (अपने विरुद्ध मत अर्थात् प्रतिवादी का) कहाते हैं; जैसे एक कहता है कि आत्मा है, दूसरा कहता है कि नहीं. भिन्न २ स्थान में रहने वाले परस्पर विरोधी धर्म, पक्ष, प्रतिपक्ष नहीं कहाते हैं; उदाहरण जैसे, एक ने कहा कि 'आत्मा नित्य है' और दूसरा कहता है कि 'बुद्धि अनित्य है'। पक्ष और प्रतिपक्ष के परिग्रह (स्वीकार) को वाद कहते हैं। उस के प्रमाण, तर्क, साधन, उपालम्भ सिद्धान्त से अविरुद्ध और पञ्चावयव से सिद्ध, ये तीन विशेषण हैं। जिस में अपने पक्ष का स्थापन, प्रमाण से और प्रतिपक्ष का निषेध (खण्डन) तर्क द्वारा हो, सिद्धान्त का विरोधी न हो, और पांच अवयवों से युक्त हो, उसे 'वाद' कहते हैं ॥ १ ॥

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ॥२॥

यथोक्तोपपन्न इति प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः। छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भ इति छलजातिनिग्रहस्थानैः साधनमुपालम्भश्चास्मिन् क्रियत इति एवंविशेषणो जल्पः न खलु वै छलजातिनिग्रहस्थानैः साधनं कस्य चिदर्थस्य संभवति प्रतिषेधार्थतैवैषां सामान्यलक्षणे च श्रूयते। वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलमिति साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानमिति विशेषलक्षणेष्वपि यथास्वमिति। न चैतद्विजानीयात्प्रतिषेधार्थतयैवार्थं साधयन्तीति छलजातिनिग्रहस्थानोपालम्भो जल्प इत्येवमप्युच्यमाने विज्ञायेतैतदिति। प्रमाणैः साधनोपालम्भयोश्छलजातीनामङ्गभावो रक्षणार्थत्वात् न स्व-

तन्त्राणां साधनभावः । यत्तत्प्रमाणैरर्थस्य साधनं तत्र छलजातिनिग्रहस्थानानामङ्गभावो रक्षणार्थत्वात् तानि हि प्रयुज्यमानानि परपक्षविघातेन स्वपक्षं रक्षन्ति । तथा चोक्तं तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवदिति । यश्चासौ प्रमाणैः प्रतिपक्षस्योपालम्भस्तस्य चैतानि प्रयुज्यमानानिनिषेधविघातात्सहकारीणि भवन्ति तदेवमङ्गीभूतानां छलादीनामुपादानम् । जल्पे न स्वतन्त्राणां साधनभावः उपालम्भे तु स्वातन्त्र्यमप्यस्तीति॥

भाः०—पूर्वोक्त लक्षण सहित ' छल ' ' जाति ' और निग्रहस्थान से साधन का निषेध जिस में किये जावें, उसे ' जल्प ' कहते हैं । अर्थात् जल्प और वाद में इतना भेद है कि वाद में तो छल आदि से साधन या निषेध नहीं किया जाता, पर जल्प में ये काम आते हैं । यद्यपि छल आदि साक्षात् अपने पक्ष के साधक नहीं होते तथापि दूसरे के पक्ष का खण्डन करके अपने पक्ष की रक्षा करते हैं और निषेध करने में स्वतन्त्र हैं । जल्प और वितण्डा के विषय में स्वयं सूत्रकार ने (अ० ४ आ०२ सू ५०) कहा है कि तत्त्वज्ञान के रक्षार्थ जल्प और वितण्डा है । जिसप्रकार किसान लोग बोये हुये बीज की रक्षा के लिये कांटों के झाड़ से खेत को घेर देते हैं ताकि कांटे के भय से बीज को कोई हानि न पहुंचा सके ॥ २ ॥

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥ ३ ॥

स जल्पो वितण्डा भवति किंविशेषणः प्रतिपक्षस्थापनया हीनः । यौ तौ समानाधिकरणौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षावित्युक्तं तयोरेकतरं वैतण्डिको न स्थापयतीति परपक्षप्रतिषेधेनैव प्रवर्त्तत इति । अस्तु तर्हि स प्रतिपक्षहीनो वितण्डा । यद्वै खलु तत्परप्रतिषेधलक्षणं वाक्यं स वैतण्डिकस्य पक्षः न त्वसौ साध्यं कंचिदर्थं प्रतिज्ञाय स्थापयतीति । तस्माद्यथान्यासमेवास्त्विति। हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः । तइमे ।

भा०:—प्रतिपक्ष के साधन से रहित जल्प का नाम ' वितण्डा ' है । जो एकत्र रहने वाले परस्पर विरोधी दो धर्म, पक्ष और प्रतिपक्ष कहाते हैं; उन में से एक की स्थापना " वैतण्डिक " नहीं करता केवल दूसरे के पक्ष का खण्डन करता है । यानी जो दूसरा कहता है सो ठीक नहीं है, हमारा कोई पक्ष नहीं ऐसे कहने वाले को ' वैतण्डिक ' कहते हैं ॥ ३ ॥

सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीताहेत्वाभासाः ॥४॥

तेषाम् ।

भा०:—हेतु की नाईं प्रतीत तो हो, परन्तु जो लक्षण हेतु का कहा गया है उस से रहित हो, उस को 'हेत्वाभास' कहते हैं। हेत्वाभास पांच प्रकार का है, जैसे सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और अतीतकाल ॥ ४ ॥

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः ॥ ५ ॥

व्यभिचार* एकत्राव्यवस्था। सह व्यभिचारेण वर्त्तते इति सव्यभिचारः निदर्शनं नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वात् स्पर्शवान् कुम्भोऽनित्यो दृष्टो न च तथा स्पर्शवान् शब्दस्तस्मादस्पर्शत्वान्नित्यः शब्द इति। दृष्टान्ते स्पर्शवत्त्वमनित्यत्वं च धर्मौ न साध्यसाधनभूतौ दृश्येते स्पर्शवांश्चाणुर्नित्यश्चेति। आत्मादौ च दृष्टान्ते उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुरिति अस्पर्शत्वादिति हेतुर्नित्यत्वं व्यभिचरति अस्पर्शा बुद्धिरनित्या चेति। एवं द्विविधेऽपि दृष्टान्ते व्यभिचारात्साध्यसाधनभावो नास्तीति लक्षणाभावादहेतुरिति। नित्यत्वमप्येकोऽन्तः अनित्यत्वमप्येकोऽन्तः एकस्मिन्नन्ते विद्यतइति ऐकान्तिकः उभयत्र व्यापकत्वादिति।

भा०:—एकत्र (इकट्ठे) अव्यवस्था (नियम से न होना) का नाम व्यभिचार है। व्यभिचार सहित हेतु को "सव्यभिचार हेतु" कहते हैं: जैसे किसी ने कहा कि 'शब्द नित्य है, स्पर्शवाला होने से, स्पर्शवाला घट अनित्य देखा गया है, वैसा शब्द स्पर्शवाला नहीं; इसलिये शब्द नित्य है। यहां दृष्टान्त में स्पर्शवत्व और अनित्यत्वरूप धर्म साध्य का साधन भूत नहीं है; क्योंकि परमाणु स्पर्शवाला नहीं है, पर अनित्य भी नहीं है, वरण नित्य है। ऐसे ही यदि कहें कि जो स्पर्शवाला नहीं, वह नित्य है, जैसे आत्मा, तो यह भी नहीं कह सकते क्योंकि बुद्धि स्पर्शवाली नहीं है, और नित्य भी नहीं है; किन्तु अनित्य है। इसप्रकार दोनों दृष्टान्तों में 'व्यभिचार' आने से अस्पर्शवत्व हेतु 'सव्यभिचार' हुआ, एक अन्त में रहने वाले को 'ऐकान्तिक' और इससे विपरीत को (दोनों अन्त में रहने वाले) 'अनैकान्तिक'। कहते हैं.॥५॥

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ॥ ६ ॥

---

* साध्यतज्जातीयान्यवृत्तित्वं व्यभिचारः। यत खलु साध्यतज्जातीयवृत्तित्वे सत्यन्यत्र वर्तते तद्व्यभिचारि तद्वृत्तित्वं व्यभिचारः। सर्वोऽयं पदार्थभेदोऽन्तद्वयेऽवतिष्ठते। अन्यत्र प्रमेयात् नित्यश्चानित्यश्च व्यापकश्चाव्यापकश्चेत्येवमादि। तत्र यो हेतुरुपात्त उभावन्तावाश्रित्य प्रवर्तते सोऽनैकान्तिक इति। न्या० वा०।

तं विरुणद्धीति तद्विरोधी अभ्युपेतं सिद्धान्तं व्याहतीति। यथा सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्। अपेतोऽप्यस्ति विनाशप्रतिषेधात्। न नित्यो विकार उपपद्यते इत्येवं हेतुर्व्यक्तेरपेतोऽपि विकारोऽस्तीत्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरुध्यते। कथम् व्यक्तिरात्मलाभः अपायः प्रच्युतिः यद्यात्मलाभात्प्रच्युतो विकारोऽस्ति नित्यत्वप्रतिषेधो नोपपद्यते यद्व्यक्तेरपेतस्यापि विकारस्यास्तित्वं तत्खलु नित्यत्वमिति। नित्यत्वप्रतिषेधो नाम विकारस्यात्मलाभात्प्रच्युतेरुपपत्तिः। यदात्मलाभात्प्रच्यवते तदनित्यं दृष्टं यदस्ति न तदात्मलाभात्प्रच्यवते। अस्तित्वं चात्मलाभात्प्रच्युतिरिति विरुद्धावेतौ धर्मौ न सह सम्भवत इति। सोऽयं हेतुर्यं सिद्धान्तमाश्रित्य प्रवर्त्तते तमेव व्याहन्तीति।

भा०:-जिस सिद्धान्त को स्वीकारकर प्रवृत्त हो, उसी सिद्धान्त का जो विरोधी (दूषक) हेतु हो, उस को 'विरुद्धहेत्वाभास' कहते हैं, जैसे यह कहना कि 'यह विकार, व्यक्ति से रहित है' नित्यत्व के निषेध से। यह हेतु, व्यक्ति से रहित भी विकार है' इस स्वकीय सिद्धान्त का विरोधी है, क्योंकि स्वरूप के लाभ को 'व्यक्ति' कहते हैं। उस से रहित जो विकार है इस से तो नित्यत्व का निषेध हो नहीं सकता। व्यक्ति के विना भी जो विकार का होना है, इसी को नित्यत्व कहते हैं। अर्थात् किसी पदार्थ की सत्ता और स्वरूप से न रहना, ये दो विरोधी धर्म एक स्थान में नहीं रह सकते ॥ ६ ॥

यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ॥७॥

विमर्शाधिष्ठानौ पक्षप्रतिपक्षावनवसितौ प्रकरणम्। तस्य चिन्ता विमर्शात्प्रभृति प्राङ्निर्णयाद्यत्समीक्षणं सा जिज्ञासा यत्कृता स निर्णयार्थं प्रयुक्त उभयपक्षसाम्यात् प्रकरणमनतिवर्त्तमानः प्रकरणसमो निर्णयाय न प्रकल्पते। प्रज्ञापनं त्वनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेरित्यनुपलभ्यमान नित्यधर्मकमनित्यं दृष्टं स्थाल्यादि। यत्र समानो धर्मः संशयकारणं हेतुत्वेनोपादीयते स संशयसमः सव्यभिचार एव। या तु विमर्शस्य विशेषापेक्षिता उभयपक्षविशेषानुपलब्धिश्च सा प्रकरणं प्रवर्तयति। यथा शब्दे नित्यधर्मो नोपलभ्यते एवमनित्यधर्मोऽपि सेयमुभयपक्षविशेषानुपलब्धिः प्रकरणचिन्तां प्रवर्तयति। कथम् ? विपर्यये हि प्रकरणनिवृत्तेः यदि नित्यधर्मः शब्दे गृह्यते नस्यात्प्रकरणं यदि वा अनित्यधर्मो गृह्येत एवमपि निवर्त्तेत प्रकरणम्। सोऽयं हेतुरुभौ पक्षौ प्रवर्तयन्नन्यतरस्य निर्णयाय प्रकल्पते।

भा०:-विचार के आश्रय (स्थान) अनिश्चित पक्ष और प्रतिपक्ष को 'प्रकरण' कहते हैं। उस की चिन्ता विमर्श से लेकर निर्णय तक जिज्ञासा जिस

के कारण किये गये, वह निर्णय के लिये उपयुक्त दोनों पक्षों की समता से प्रकरण का उल्लङ्घन नहीं करता, अतएव इस का नाम ' प्रकरणसम हेत्वाभास ' होता है। उदाहरण जैसे , किसी ने कहा कि ' शब्द अनित्य है , नित्यधर्म के ज्ञान न होने से ' यह हेतु ' प्रकरणसम ' है । इस से दो पक्षों में से किसी एक पक्ष का निर्णय नहीं हो सकता, क्योंकि जो शब्द में नित्य धर्म का ग्रहण होता तो प्रकरण ही नहीं बनता अथवा अनित्य धर्म का ज्ञान शब्द में होता तो भी प्रकरण सिद्ध नहीं होता अर्थात् जो दो धर्मों में से एक का भी ज्ञान होता कि शब्द अनित्य है कि नित्य ? तो यह विचार ही क्यों प्रवृत्त होता ॥ ७ ॥

साध्याविशिष्टः साध्यत्वात्साध्यसमः ॥ ८ ॥

द्रव्यं छायेति साध्यं गतिमत्वादिति हेतुः साध्येनाविशिष्टः साधनीयत्वात्साध्यसमः । अयमप्यसिद्धत्वात्साध्यवत्प्रज्ञापयितव्यः । साध्यं तावदेतत् किं पुरुषवच्छायाऽपि गच्छति आहो स्विदावरकद्रव्ये संसर्पति आवरणसन्तानादसन्निधिसन्तानोऽयं तेजसो गृह्यतइति । सर्पता खलु द्रव्येण ज्ञानाद् यो यस्तेजो भाग आव्रियते तस्य तस्यासन्निधिरेवावच्छिन्नो गृह्यतइति आवरणं तु प्राप्तिप्रतिषेधः ।

भा०:—साध्य होने से साध्य से अभिन्न होने के कारण इस का नाम 'साध्यसमहेत्वाभास ' है, । उदाहरण जैसे छाया द्रव्य है, यह साध्य है, गतिवाली होने से यह हेतु है, साधने योग्य होने से यह हेतु साध्य से विशेष नहीं हुआ, अतएव साध्य के सम हुआ अर्थात् छाया में जैसे प्रथम द्रव्यत्व ही साध्य है उसी प्रकार गति भी साध्यहै , इस लिये ऐसे हेतु को साध्यसमहेत्वाभास ' कहते हैं ॥ ८ ॥

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ॥९॥

कालात्ययेन युक्तो यस्यार्थस्यैकदेशोऽपदिश्यमानस्य स कालात्ययापदिष्टः कालातीत इत्युते। निदर्शनं नित्यः शब्दः संयोगव्यङ्ग्यत्वाद् रूपवत् । प्रागूर्द्धं च व्यक्तेरवस्थितं रूपं प्रदीपघटसंयोगेन व्यज्यते तथा च शब्दोऽप्यवस्थितो भेरीदण्ड संयोगेन व्यज्यते दारुपरशुसंयोगेन वा। तस्मात्संयोगव्यङ्ग्यत्वान्नित्यः शब्द इत्ययमहेतुः कालात्ययापदेशात् । व्यञ्जकस्य संयोगस्य न कालं व्यङ्ग्यस्य रूपस्य व्यक्तिरत्येति । सति प्रदीपसंयोगे रूपस्य ग्रहणं भवति निवृत्ते संयोगे रूपं गृह्यते । निवृत्ते दारुपरशुसंयोगे दूरस्थेन शब्दः श्रूयते विभा-

गकाले । सेयं शब्दस्य व्यक्तिः संयोगकालमत्येतीति न संयोगनिमित्ता भवति । कस्मात्कारणाभावाद्धि कार्याभाव इति । एवमुदाहरणसाधर्म्यस्याभावादसाधनमयं हेतुर्हेत्वाभास इति । अवयवविपर्यासवचनं न सूत्रार्थः । कस्मात् । "यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः । अर्थतो ह्यसमर्थानामानन्तर्यमकारणम् „ । इत्येतद्वचनाद्विपर्यासेनोक्तो हेतुरुदाहरणसाधर्म्यात्तथा वैधर्म्यात्तत्साधनं हेतुलक्षणं न जहाति । अजहद्धेतुलक्षणं न हेत्वाभासो भवतीति । अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालमिति निग्रहस्थानमुक्तं तदेवेदं पुनरुच्यतइति । अतस्तन्न सूत्रार्थः ।—अथ छलम् ।

भा०:—जिस अर्थ का एक देशकाल के ध्वंस से युक्त हो उसे 'कालातीत हेत्वाभास' कहते हैं, जैसे शब्द नित्य है, संयोग द्वारा व्यक्त (प्रकट) होने से रूप की नाईं । जैसे प्रकट होने से पहिले और पीछे विद्यमान रूप घट दीप के संयोग से प्रकट होता है, वैसे ही शब्द भी नक्कारा और दण्ड के अथवा काठ और कुल्हाड़ी के संयोग से प्रगट (व्यक्त) होता है; इसलिये शब्द नित्य है । यह कालात्यय के आदेश से असत् हेतु है क्योंकि 'व्यंग्यरूप' प्रकटता, व्यञ्जक (प्रकाश करने वाला) संयोग के काल का उल्लङ्घन नहीं करती। दीप और घट के संयोग रहते रूप का ज्ञान होता है और संयोग के न होने पर रूप का ज्ञान नहीं होता:ऐसा शब्द में नहीं होता क्योंकि काठ और कुल्हाड़ी के संयोग निवृत्त होने पर भी दूरस्थित मनुष्य को शब्द का ज्ञान होता है । विभाग काल में यह शब्द का ज्ञान संयोग काल का उल्लङ्घन करता है, इसप्रकार उदाहरण के साथ तुल्यता न होने से यह हेतु साधक नहीं किन्तु हेत्वाभास है और ऐसे 'हेत्वाभास' को 'कालातीत हेत्वाभास' कहते हैं ॥९॥

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम् ॥ १० ॥

न सामान्यलक्षणे छलं शक्यमुदाहर्तुं विभागे तूदाहरणानि । विभागश्च ।

भा०:—वक्ता के अर्थ को बदल कर वचन का विघात करना 'छल' है । इस का उदाहरण आगे छल के विभाग के साथ कहा जावेगा ॥ १० ॥

तत्त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति ॥११॥

तेषाम् ।

भा०:—पूर्वोक्त छल तीन प्रकार का है । १ वाक्छल, २ सामान्यछल, और ३ उपचारछल । इन में से अब वाक्-छल का लक्षण कहते हैं ॥ ११ ॥

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् ॥१२॥

नवकम्बलोऽयं माणवक इति प्रयोगः । अत्र नवः कम्बलोऽस्येति वक्तुरभिप्रायः । विग्रहे तु विशेषो न समासे तत्रायं छलवादी वक्तुरभिप्रायादविवक्षितमन्यमर्थं नव कम्बला अस्येति तावदभिहितं भवतेति कल्पयति कल्पयित्वा चासम्भवेन प्रतिषेधति एकोऽस्य कम्बलः कुतो नव कम्बला इति । तदिदं सामान्यशब्दे वाचि छलं वाक्छलमिति । अस्य प्रत्यवस्थानं सामान्यशब्दस्यानेकार्थत्वेऽन्यतराभिधानकल्पनायां विशेषवचनम् । नवकम्बल इत्यनेकार्थस्याभिधानं नवः कम्बलोऽस्य नव कम्बला अस्येति । एतस्मिन्प्रयुक्ते येयं कल्पना नव कम्बला अस्येत्येतद्भवताऽभिहितं तच्च न सम्भवतीति । एतस्यामन्यतराभिधानकल्पनायां विशेषो वक्तव्यः । यस्माद्विशेषोऽर्थविशेषेषु विज्ञायतेऽयमर्थोऽनेनाभिहित इति । स च विशेषो नास्ति । तस्मान्मिथ्याभियोगमात्रमेतदिति । प्रसिद्धश्च लोके शब्दार्थसम्बन्धोऽभिधानाभिधेयनियमनियोगः । अस्याभिधानस्यायमर्थोऽभिधेय इति समानः । सामान्यशब्दस्य विशेषो विशिष्टशब्दस्य प्रयुक्तपूर्वाश्चेमे शब्दा अर्थे प्रयुज्यन्ते नाप्रयुक्तपूर्वाः । प्रयोगश्चार्थसम्प्रत्ययार्थः अर्थप्रत्ययाच्च व्यवहार इति । तत्रैवमर्थगत्यर्थे शब्दप्रयोगे सामर्थ्यात्सामान्यशब्दस्य प्रयोगनियमः । अजां ग्रामं नय सर्पिराहर ब्राह्मणं भोजयेति। सामान्यशब्दाः सन्तोऽर्थावयवेषु प्रयुज्यन्ते सामर्थ्याद्यत्रार्थक्रियादेशना सम्भवति तत्र प्रवर्त्तन्ते नार्थसामान्ये क्रियादेशनाऽसम्भवात् । एवमयं सामान्यशब्दो नवकम्बल इति योऽर्थः सम्भवति नवः कम्बलोऽस्येति तत्र प्रवर्त्तते यस्तु न सम्भवति नव कम्बला अस्येति तत्र न प्रवर्त्तते । सोऽयमनुपपद्यमानार्थकल्पनया परवाक्योपालम्भस्ते न कल्पतइति ।

भा०:— साधारण रूप से उक्त अर्थ में वक्ता के आशय के विरुद्ध अन्य अर्थ की कल्पना को ' वाक्छल ' कहते हैं । अर्थात् वाणी का छल है; उदाहरण जैसे किसी ने कहा कि 'यह बालक नव कम्बल वाला है' यह तो वक्ता का अभिप्राय है। इस पर छलवादी ने (वक्ता के अभिप्राय) इस के विरुद्ध "नव (९ संख्या) हैं कम्बल जिस के," ऐसी कल्पना कर लियी । यह सर्वथा असङ्गत है, क्योंकि इस बालक के पास केवल एक कम्बल है, नव कहां से आये ' यहां ' नव कम्बल ' यह समस्त पद है, इस के विग्रह दो प्रकार से होते हैं एक तो नवीन है कम्बल जिस का और दूसरा नव (९ संख्या) हैं कम्बल जिस के । 'नव' शब्द के दो अर्थ हैं—एक नया, दूसरा नव (संख्या) । अतएव नव कम्बल शब्द के समास में उक्त दोनों ही अर्थ हो सकते हैं । तत्र

इष्ट हो वैसा ही निकल सकता है। यह विशेषता विग्रह में होती है समास में नहीं। अनेकार्थ शब्द का साधारणतः प्रयोग किया जाता है। पुनः जिस अर्थ का सम्भव हो उसी को लेना चाहिये न कि असम्भव अर्थ को लेकर दोष देना यह वाणी द्वारा छल होने से 'वाक्छल' है ॥ १२ ॥

सम्भवतोऽर्थस्यातिसमान्ययोगादसंभूतार्थकल्पनासामान्यच्छलम् ॥१३॥

अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्न इत्युक्ते कश्चिदाह सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पदिति। अस्य वचनस्य विघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याऽसम्भूतार्थकल्पनया क्रियते। यदि ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पत्सम्भवति व्रात्येऽपि सम्भवेत् व्रात्योऽपि ब्राह्मणः सोऽप्यस्तु विद्याचरणसम्पन्न इति। यद्विवक्षितमर्थमाप्नोति चात्येति च तदतिसामान्यम्। यथा ब्राह्मणत्वं विद्याचरणसम्पदं क्वचिदाप्नोति क्वचिदत्येति। सामान्यनिमित्तं छलं सामान्यच्छलमिति। अस्य च प्रत्यवस्थानम्। अविवक्षितहेतुकस्य विषयानुवादः प्रशंसार्थत्वाद् वाक्यस्य तदत्रासम्भूतार्थकल्पनानुपपत्तिः यथा सम्भवन्त्यस्मिन्क्षेत्रे शालय इति। अनिराकृतमविवक्षितं च बीजजन्म प्रवृत्तिविषयस्तु क्षेत्रं प्रशस्यते। सोऽयं क्षेत्रानुवादो नास्मिन् शालयो विधीयन्त इति बीजात्तु शालिनिर्वृत्तिः सती न विवक्षिता। एवं सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसम्पदिति सम्पद्विषयो ब्राह्मणत्वं न सम्पद्धेतुः। न चात्र हेतुर्विवक्षितः विषयानुवादस्त्वयं प्रशंसार्थत्वाद् वाक्यस्य। सति ब्राह्मणत्वे सम्पद्धेतुः समर्थ इति विषयं च प्रशंसता वाक्येन यथाहेतुतः फलनिर्वृत्तिर्न प्रत्याख्यायते। तदेवं सति वचनविघातोऽसम्भूतार्थकल्पनया नोपपद्यतइति।

भा०:—सम्भावित अर्थ को अतिसामान्य के योग से असम्भूत अर्थ की कल्पना करनी "सामान्यछल" कहाता है। उदाहरण—जैसे, किसी नेक हा कि यह ब्राह्मण विद्याचरण (पण्डित, सदाचारी) सम्पन्न है, इस वचन का खण्डन. विकल्प का ग्रहण असम्भूत अर्थ की कल्पना से किया जाता है जैसे—जो ब्राह्मण में विद्याचरण सम्पत्ति सम्भावित है. तो व्रात्य (संस्कार हीने)में भी होना चाहिये। क्योंकि व्रात्य भी ब्राह्मण है. उस को भी विद्याचरण युक्त होना चाहिये। जो वक्ता को अभिप्रेत हो उसका जो अतिक्रम (उल्लङ्घन) करे, उस को 'अतिसामान्य' कहते हैं। उदाहरण जैसे, ब्राह्मणत्व कहीं विद्याचरण सम्पत्ति को प्राप्त होना और कहीं उसका त्याग करता है। सामान्य निमित्तक जो

छल उसे 'सामान्यछल' कहते हैं। इसका खण्डन यह है कि यह वाक्य प्रशंसार्थक है, अतएव इस में असम्भूत अर्थ की कल्पना नहीं हो सकती। ब्राह्मण सम्पत्ति का विषय है, उसका हेतु नहीं क्योंकि यहां हेतु की विवक्षा नहीं है। इसीप्रकार भाष्य में शालिके खेत के उदाहरण का भी आशय जानना ॥ १३ ॥

धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् ॥ १४ ॥

अभिधानस्य धर्मो यथार्थप्रयोगः। धर्मविकल्पोऽन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र प्रयोगः। तस्य निर्देशे धर्मविकल्पनिर्देशे। यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति अर्थसद्भावेन प्रतिषेधः। मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति न तु मञ्चाः क्रोशन्ति। का पुनरत्रार्थविकल्पोपपत्तिः। अन्यथा प्रयुक्तस्यान्यथाऽर्थकल्पनं भक्त्या प्रयोगे प्राधान्येन कल्पनमुपचारविषयं छलमुपचारच्छलम्। उपचारो नीतार्थः सहचरणादिनिमित्तेनातद्भावे तद्वदभिधानमुपचार इति। अत्र समाधिः। प्रसिद्धे प्रयोगे वक्तुर्यथाभिप्रायं शब्दार्थयोरनुज्ञा प्रतिषेधो वा न च्छन्दतः प्रधानभूतस्य शब्दस्य भाक्तस्य च गुणभूतस्य प्रयोगउभयोर्लोकसिद्धः। सिद्धप्रयोगे यथावक्तुरभिप्रायस्तथा शब्दार्थावनुज्ञयौ प्रतिषेध्यौ वा न च्छन्दतः। यदि वक्ता प्रधानशब्दं प्रयुङ्क्ते यथाभूतस्याभ्यनुज्ञा प्रतिषेधो वा न च्छन्दतः। अथ गुणभूतं तदा गुणभूतस्य। यत्र तु वक्ता गुणभूतं शब्दं प्रयुङ्क्ते प्रधानभूतमभिप्रेत्य परः प्रतिषेधति स्वमनीषया प्रतिषेधोऽसौ भवति न परोपालम्भ इति।

भा०:—यथार्थ प्रयोग करना अभिधान का धर्म है अर्थात् जिस शब्द का जो मुख्य अर्थ है, उस शब्द और अर्थ का सम्बन्ध धर्म है। और अन्यत्रदृष्ट का अन्य स्थान में प्रयोग करना 'धर्म विकल्प' कहाता है। उस के उच्चारण से अर्थ के सद्भाव (मुख्यार्थ) का निषेध करना, उपचार छल कहाता है, उदाहरण, जैसे किसी ने कहा कि 'मचान चिल्ला रहे हैं' उसका दूसरा पुरुष खण्डन करता है कि 'मचानों पर बैठे हुए पुरुष चिल्ला रहे हैं, मचान नहीं चिल्लाते। (क्योंकि मच्चान जड़ होने से चिल्ला नहीं सकता) सहचार आदि कारणों से जो तद्रूप नहीं है, उस में तद्रूप के कथन का नाम 'उपचार' (गौण) है; तद्विषयक छल को 'उपचारछल' कहते हैं। इस का समाधान यह है कि प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध प्रयोग में वक्ता का जैसा अभिप्राय हो उसीप्रकार अनुमति या निषेध होगा, अपनी इच्छानुसार नहीं। क्योंकि प्रधान (मुख्य) और अप्रधान (गौण) अर्थ के अभिप्राय से दोनों ही प्रकार के शब्दों का प्रयोग लोक में प्रसिद्ध है, अतएव जब वक्ता प्रधान अभिप्राय द्वारा प्रयोग करे, तब

उसी का अङ्गीकार और निषेध होना चाहिये। जहां वक्ता अप्रधान अभिप्राय द्वारा प्रयोग करता है और दूसरा प्रधान अभिप्राय से अपनी इच्छा के अनुसार खण्डन करता है। यह उचित नहीं है, जैसे पूर्वोक्त उदाहरण में 'मचान' इस शब्द के दो अर्थ हैं। एक तो किसान लोग अपने २ खेत की रक्षा के लिये लकड़ियों के ऊंचे बैठक बनाते हैं, उन्हीं को "मचान" कहते हैं। यही अर्थ प्रधान या मुख्य कहाता है और मचानों पर बैठे हुए मनुष्य भी उक्त शब्द के अर्थ हैं, परन्तु यह अर्थ अप्रधान या गौण (भाक्त) है। अब विचारना चाहिये कि जिस ने ' मचान चिल्लाते हैं' प्रयोग किया था उस का अभिप्राय तो अप्रधान विषयक था। तब प्रधान अर्थ को लेकर उसका खण्डन करना छल ही कहावेगा ॥ १४ ॥

वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात् ॥ १५ ॥

भा०:-न वाक्छलादुपचारच्छलं भिद्यते तस्याप्यर्थान्तरकल्पनाया अविशेषात्। इहापि स्थान्यर्थो गुणशब्दः प्रधानशब्दः स्थानार्थ इति कल्पयित्वा प्रतिषिध्यतइति।

भा०:-अब आशङ्का यह है कि ' वाक्छल ' से ' उपचारछल ' भिन्न नहीं है, क्योंकि दूसरे अर्थ की कल्पना करनी 'उपचार छल' में समान है। अर्थात् जैसे 'वाक्छल' में दूसरे अर्थ की कल्पना करके खण्डन किया था, उसीप्रकार ' उपचारछल ' में भी है। फिर इस में भेद क्या हुआ ? ॥ १५ ॥

न तदर्थान्तरभावात् ॥ १६ ॥

न वाक्छलमेवोपचारच्छलं तस्यार्थसद्भावप्रतिषेधस्यार्थान्तरभावात्। कुतः। अर्थान्तरकल्पनात्। अन्या ह्यर्थान्तरकल्पना अन्योऽर्थसद्भावप्रतिषेध इति।

भा०:-(उत्तर) 'वाक्छल' ही 'उपचारछल' नहीं हो सकता। अर्थात् 'वाक्छल' और 'उपचार छल' एक नहीं हो सकते, क्योंकि भिन्न अर्थ की कल्पना से दूसरे अर्थ के सद्भाव की कल्पना, अन्य अर्थ की सत्ता का निषेध होता है। ' उपचारछल ' और ' वाक्छल ' में ऐसा नहीं होता। अर्थात् 'उपचारछल' में अर्थ बदल कर एक अर्थ का सर्वथा खण्डन कर देते, जैसे उक्त उदाहरण में मचान शब्द का अर्थ बदल कर पहिले अर्थ का खण्डन कर दिया गया 'वाक् छल, में 'नव' शब्द के किसी अर्थ का खण्डन नहीं किया, यही इन में अन्तर है। ॥ १६ ॥

अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसङ्गः ॥१७॥

छलस्य द्वित्वमभ्यनुज्ञाय त्रित्वं प्रतिषिध्यते किञ्चित्साधर्म्यात्। यथा-
चायं हेतुस्त्रित्वं प्रतिषेधति तथा द्वित्वमप्यभ्यनुज्ञातं प्रतिषेधति। विद्यते हि
किञ्चित्साधर्म्यं द्वयोरपीति। अथ द्वित्वं किञ्चित्साधर्म्यान्न निवर्त्तते त्रित्वमपि
न निवर्त्स्यति। अत ऊर्द्ध्वम्॥

भा०:विशेषता न मानने से कुछ तुल्यता स्वीकार कर एक ही प्रकार का छल रह जावेगा। यदि यह हेतु (वजह) कुछ तुल्यता से छल के तीन प्रकार के होने का खण्डन करेगा तो दो प्रकार के छल होने का भी खण्डन अवश्य ही होजायगा क्योंकि कुछ समानता दो में भी विद्यमान ही है। और जो कहो कि किञ्चित् तुल्यता से दो होने (छल) की निवृत्ति नहीं होती, तो तीन होने की भी निवृत्ति क्योंकर होगी ? तात्पर्य्य यह है कि जैसे कुछ भेद होनेसे छल का दो प्रकार का होना माना गया इसी प्रकार कुछ भेद होने से तीन प्रकार का होना भी माना जाता है। और यदि कहो कि कुछ तुल्य धर्म होने से छल का दो प्रकार का होना न मानोगे,तो इसी प्रकार तीन प्रकार का होना भी न सिद्ध होगा। अर्थात् एक ही छल रह जावेगा, अतएव कुछ भेद होने से दो लक्षण कहते हैं॥ १७॥

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः॥ १८॥

प्रयुक्ते हि हेतौ यः प्रसङ्गो जायते स जातिः*। स च प्रसङ्गः साधर्म्यवैधर्म्या-भ्यां प्रत्यवस्थानमुपालम्भः प्रतिषेध इति। उदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतु-रित्यस्योदाहरणवैधर्म्येण प्रत्यवस्थानम्। उदाहरणवैधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुरि-त्यस्योदाहरणसाधर्म्येण प्रत्यवस्थानं प्रत्यनीकभावाज्जायमानोऽर्थो जातिरिति।

भा०:-साधर्म्य (तुल्य धर्मता) और वैधर्म्य (विरुद्ध धर्मता) से जो प्रत्यवस्थान (खण्डन, दूषण) किया जाता है उस को जाति कहते हैं अर्थात् हेतु के प्रयोग करने पर (कहने पर) जो प्रसङ्ग (सङ्गति) होता है उसे जाति कहते हैं। अब ' निग्रहस्थान ' का लक्षण कहते हैं॥ १८॥

---

* न च छलं साधर्म्यवैधर्म्यैस्तः। न च सम्यग् दूषणं साधर्म्यवैधर्म्यमा-त्रात्। अपितु प्रयोगादिति प्रयुक्ते हेतौ तदाभासे वा यः प्रसङ्गो जायते सा जातिरिति। जल्पे हि वेदप्रामाण्यविद्वांसं प्रति कुहेतुना यदा नास्तिकैरधिक्षि-प्यते सदुत्तरं चास्य यदसहसा न स्फुरति तदेश्वराणां जनाधाराणां मा भूद्वे-दाप्रामाण्यबुद्धिरिति जात्यापि प्रत्यवस्थेयम्। क्वचित्पुनरबुद्धिपूर्वमेव हेतौ हे-त्वाभासे वा जाति प्रयोगः सम्भवतीति। जायमानोऽर्थ इति पदव्युत्पत्तिनि-मित्तं दर्शितम्। ता० टी०।

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ॥ १९ ॥

विपरीता वा कुत्सिता वा प्रतिपत्तिर्विप्रतिपत्तिः। विप्रतिपद्यमानः पराजयं प्राप्नोति निग्रहस्थानं खलु पराजयप्राप्तिः। अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भविषये अप्यप्रारम्भः। परेण स्थापितं वा न प्रतिषेधति प्रतिषेधं वा नोद्धरति। असमासाच्च नैते एव निग्रहस्थाने इति। किं पुनर्दृष्टान्तवज्जातिनिग्रहस्थानयोर भेदोऽथ सिद्धान्तवद्भेद इत्यत आह।

भा:०-विपरीत (उलटा) अथवा निन्दित (कुत्सित) प्रतिपत्ति (ज्ञान) को कहते हैं और दूसरे से सिद्ध किये पक्ष का खण्डन करना या पक्ष के ऊपर दिये दोष का समाधान न करना अप्रतिपत्ति है (नहीं समझना या समझ कर उस की परवाह न करनी,) प्रतिपत्ति शब्द का अर्थ प्रवृत्ति है। ये दोनों निग्रहस्थान अर्थात् पराजय (हार) का स्थान है। विप्रतिपत्ति या अप्रतिपत्ति करने मे पराजय (हार) होता है। क्या फिर दृष्टान्त की नाईं जाति और निग्रहस्थान का अभेद है या सिद्धान्त के समान भेद है ? इस पर कहते हैं ॥१९॥

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ॥ २० ॥

तस्य साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिबहुत्वं तयोश्च विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योर्विकल्पान्निग्रहस्थानबहुत्वम्। नानाकल्पो विकल्पः विविधो वा कल्पो विकल्पः। तत्राननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणमित्यप्रतिपत्तिर्निग्रहस्थानम्। शेषस्तु विप्रतिपत्तिरिति।

इमे प्रमाणादयः पदार्था उद्दिष्टा यथोद्देशं लक्षिता यथालक्षणं परीक्षिष्यन्त इति त्रिविधाऽस्य शास्त्रस्य प्रवृत्तिर्वेदितव्येति ॥

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥१॥

भा:०-साधर्म्य और वैधर्म्य से खण्डन के विकल्प से (अनेक प्रकार की कल्पना से) जाति का बहुत होना और विप्रतिपत्ति एवं अप्रतिपत्ति के विकल्प में निग्रहस्थान का बहुत होना सिद्ध होता है। अनेक प्रकार की कल्पना को विकल्प कहते हैं, जैसे ' अननुभाषण ' अर्थात् चुप हो जाना, अज्ञान, (न समझना) अप्रतिभा, उत्तर का न फुरना, मतानुज्ञा, दूसरे के मतका अङ्गीकार, (मान लेना) अपने ऊपर दिये दोष की उपेक्षा करनी, ये सब अप्रतिपत्ति है और शेष को विप्रतिपत्ति कहते हैं। प्रमाण आदि पूर्वोक्त सोलह पदार्थों का लक्षण सहित विभाग पूरा हुआ। अब इन के लक्षणों की परीक्षा कियी जावेगी जैसा कि इस शास्त्र की ३ प्रकार की प्रवृत्ति कही गई है ॥२०॥

न्यायशास्त्र के प्रथमअध्याय का अनुवाद पूरा हुआ ॥१॥

अत ऊर्ध्वं प्रमाणादिपरीक्षा सा च विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णय इत्यग्रे विमर्श एव परीक्ष्यते ।

समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशयः ॥ १ ॥

समानस्य धर्मस्याध्यवसायात्संशयो न धर्ममात्रात् । अथवा समानमनयोर्धर्ममुपलभ इति धर्मधर्मिग्रहणे संशयाभाव इति । अथवा समानधर्माध्यवसायादर्थान्तरभूते धर्मिणि संशयोऽनुपपन्नः नजातु रूपस्यार्थान्तरभूतस्याध्यवसायादर्थान्तरभूते स्पर्शे संशय इति । अथवा नाध्यवसायादर्थावधारणादनवधारणज्ञानं संशय उपपद्यते कार्यकारणयोः सारूप्याभावादिति । एतेनानेकधर्माध्यवसायादिति व्याख्यातम् । अन्यतरधर्माध्यवसायाच्च संशयो न भवति । ततो ह्यन्यतरावधारणमेवेति ।

भा०:—इस के आगे प्रमाणादि की परीक्षा का क्रम आवेगा परन्तु पहिले संशय की परीक्षा किया जाती है ।—समान और अनेक धर्मों के या दो में से एक धर्म के ज्ञान से सन्देह नहीं हो सकता । भाष्य का आशय यह है कि—एक तो यह कि धर्म के ज्ञान से धर्मी में सन्देह नहीं बनता, क्योंकि धर्म और धर्मी भिन्न पदार्थ हैं । रूप के ज्ञान से स्पर्श में कदापि संशय नहीं हो सकता । दूसरा यह है कि अवधारण (निश्चय) से अनवधारण (निश्चय रहित) रूप सन्देह क्योंकर उत्पन्न होगा क्योंकि कारण और कार्य समान रूप होते हैं इसलिये निश्चय रूप कारण से अनिश्चय रूप सन्देह नहीं हो सकता। ऐसे ही दो में से एक धर्म के निश्चय से भी सन्देह नहीं बनता, क्योंकि उसमें तो एक का निश्चय ही होना ॥ १ ॥

विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च ॥ २ ॥

न विप्रतिपत्तिमात्रादव्यवस्थामात्राद्वा संशयः किं तर्हि विप्रतिपत्तिमुपलभमानस्य संशय एवमव्यवस्थायामपीति । अथवाऽस्त्यात्मेत्येके नास्त्यात्मेत्यपरे मन्यन्त इत्युपलब्धेः कथं संशयः स्यादिति । अथोपलब्धिरव्यवस्थिता अनुपलब्धिश्चाव्यवस्थितेति विभागेनाध्यवसिते संशयो नोपपद्यत इति ।

भा०:—केवल विप्रतिपत्ति (अनेक प्रकार का ज्ञान) और केवल अव्यवस्था से संदेह नहीं हो सकता, किन्तु विप्रतिपत्ति का जिस को ज्ञान हुआ उसी को सन्देह होगा । इसीप्रकार अव्यवस्था में भी जानना चाहिये । उदा-

हरण-जैसे किसी २ का मत है कि आत्मा है, और किसी का मत है कि आत्मा नहीं है, इस प्रकार दो विरुद्ध कोटि (पक्ष) बोधक वाक्यों से संशय नहीं होता ॥ २ ॥

विप्रतिपत्तौ च संप्रतिपत्तेः ॥ ३ ॥

यां च विप्रतिपत्तिं भवान् संशयहेतुं मन्यते सा संप्रतिपत्तिः सा हि द्वयोः प्रत्यनीकधर्मविषया । तत्र यदि विप्रतिपत्तेः संशयः संप्रतिपत्तेरेव संशय इति ।

भा०:-जिस विप्रतिपत्ति (एक ही अधिकरण में विरुद्ध अर्थों का कहना) आप सन्देह का कारण मानते हैं, वह विप्रतिपत्ति नहीं, किन्तु संप्रतिपत्ति (निश्चय) है; क्योंकि वह दो के विरुद्ध धर्म विषयक है। वहां जो विप्रतिपत्ति संशय कहोगे तो संप्रतिपत्ति से भी सन्देह होना चाहिये ॥ ३ ॥

अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः ॥४॥

न संशयः । यदि तावदियमव्यवस्था आत्मन्येव व्यवस्थिता व्यवस्थानाद्-व्यवस्था न भवतीत्यनुपपन्नः संशयः अथ व्यवस्थाऽऽत्मनि न व्यवस्थिता एव-मतादात्म्यादव्यवस्था न भवतीति संशयाभाव इति ।

भा०:—अव्यवस्था से सन्देह नहीं हो सकता क्योंकि अव्यवस्था (स्थित रहित) आत्मा में व्यवस्थित है। और व्यवस्थित होने से सन्देह हो नहीं सकता, किसी विषय में स्थिति की व्यवस्थता कहते हैं और उस से जो विपरीत हो, वह अव्यवस्था कहलाती है ॥ ४ ॥

तथात्यन्तसंशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः ॥५॥

येन कल्पेन भवान् समानधर्मोपपत्तेः संशय इति मन्यते तेन खल्वत्यन्त-संशयः प्रसज्यते समानधर्मोपपत्तेरनुच्छेदात्संशयानुच्छेदः । न ह्ययमतद्धर्मा धर्मी विमृश्यमाणो गृह्यते सततं तु तद्धर्मा भवतीति । अस्य प्रतिषेधप्रपञ्चस्य संक्षेपेणोद्धारः ।

भा०:—जिस कल्पना द्वारा आप समान धर्म के ज्ञान से संशय होना मानते हैं इस में अत्यन्त सन्देह हो जावेगा, क्योंकि उन धर्मों की उपपत्ति सदा विद्यमान है। जैसे समान धर्मों की उपपत्ति से आप सन्देह मानते हैं उसी से अत्यन्त संशय की आपत्ति आजाती है। समान धर्म की उपपत्ति का अभाव न होने से सन्देह की निवृत्ति कभी न होगी ॥ ५ ॥ अब इन सब पूर्व पक्षों का (दूषण) उत्तर (उद्धार) कहते हैं एवं संशय का सिद्धान्त करते हैं ॥

यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशये नासंशयो नात्यन्तसंशयो वा ॥ ६ ॥

न संशयानुत्पत्तिः संशयानुच्छेद एव प्रसज्यते । कथं यत्तावत् समानधर्माध्यवसायः संशयहेतुः न समानधर्ममात्रमिति एवमेतत्कस्मादेवं नोच्यते इति विशेषापेक्षा इति वचनात्सिद्धेः । विशेषस्यापेक्षाऽऽकाङ्क्षा स चानुपलभ्यमाने विशेषे समर्था । न चोक्तं समानधर्मापेक्ष इति समाने च धर्मे कथमाकाङ्क्षा न भवेद् यद्ययं प्रत्यक्षः स्यात् । एतेन सामर्थ्येन विज्ञायते समानधर्माध्यवसायादिति ।

* उपपत्तिवचनाद्वा ॥

समानधर्मोपपत्तेरित्युच्यते न चान्या सद्भावसंवेदनादृते समानधर्मोपपत्तिरस्ति । अनुपलभ्यमानसद्भावो हि समानो धर्मोऽविद्यमानवद्भवतीति । विषयशब्देन वा विषयिणः प्रत्ययस्याभिधानं यथा लोके धूमेनाग्निरनुमीयतइत्युक्ते धूमदर्शनेनाग्निरनुमीयतइति ज्ञायते कथं दृष्ट्वा हि धूममथाग्निमनुमिनोति नादृष्टे न च वाक्ये दर्शनशब्दः श्रूयते अनुजानाति च वाक्यस्यार्थप्रत्यायकत्वं तेन मन्यामहे विषयशब्देन विषयिणः प्रत्ययस्याभिधानं बोद्धाऽनुजानात्येवमिहापि समानधर्मशब्देन समानधर्माध्यवसायमाहेति यथोहित्वा समानमनयोर्धर्ममुपलभतइति। धर्मधर्मिग्रहणे संशयाभाव इति पूर्वदृष्टविषयमेतत् । यावहमर्थौ पूर्वमद्राक्षं तयोः समानं धर्ममुपलभे विशेषं नोपलभइति कथं नु विशेषं पश्येयं येनान्यतर मवधारयेयमिति । न चैतत् समानधर्मोपलब्धौ धर्मधर्मिग्रहणमात्रेण निवर्ततइति । यच्चोक्तं नार्थान्तराध्यवसायादन्यत्र संशय इति यो ह्यर्थान्तराध्यवसायमात्रं संशयहेतुमुपाददीत स एवं वाच्य इति । यत्पुनरेतत्कार्यकारणयोः सारूप्याभावादिति कारणस्य भावाभावयोः कार्यस्य भावाभावौ कार्यकारणयोः सारूप्यम् । यस्योत्पादाद्यदुत्पद्यते यस्य चानुत्पादाद्यन्नोत्पद्यते तत्कारणं कार्यमितरदित्येतत्सारूप्यमस्ति च संशयकारणे संशये चेतदिति । एतेनानेकधर्माध्यवसायादिति प्रतिषेधः परिहृत इति । यत्पुनरेतदुक्तं विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च न संशय इति । पृथक्प्रवादयोर्व्याहतमर्थमुपलभे विशेषं च न जानामि नोपलभे येनान्यतरमवधारयेयं तत्कोऽत्र विशेषः स्याद्येनैकतरमवधारयेयमिति संशयो विप्रतिपत्तिजनितोऽयं न शक्यो विप्रतिपत्तिसंशयमात्रेण निवर्त्तयितुमिति । एवमुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थाकृते संशये वेदितव्यमिति । यत्पुनरेतद्विप्रतिपत्तौ संप्रतिपत्तेरिति विप्रतिपत्तिशब्दस्यार्थः ।

तदध्यवसायो विशेषापेक्षः संशयहेतुस्तस्य च समाख्यान्तरेण न निवृत्तिः समा-
नेऽधिकरणे व्याहतार्थौ प्रवादौ विप्रतिपत्तिशब्दस्यार्थः तदध्यवसायो विशेषा-
पेक्षः संशयहेतुः न चास्य समाख्यान्तरे योज्यमाने संशयहेतुत्वं निवर्त्तते तदि-
दमकृतबुद्धि संमोहनमिति। यत्पुनरव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाद्व्यवस्थाया
इति संशयहेतोरर्थस्याप्रतिषेधादव्यवस्थाभ्यनुज्ञानाच्च निमित्तान्तरेण शब्दान्त-
रकल्पना। व्यर्था शब्दान्तरकल्पना व्यवस्था खलु व्यवस्था न भवत्यव्यवस्था-
त्मनि व्यवस्थितत्वादिति। नानयोरुपलब्ध्यनुपलब्ध्योः सदसद्विषयत्वं विशे-
षापेक्षः संशयहेतुर्न भवतीति प्रतिषिध्यते यावता चाव्यवस्थात्मनि व्यवस्थिता
न तावताऽऽत्मानं जहाति तावता ह्यनुज्ञाता व्यवस्था एवमियं क्रियमाणापि
शब्दान्तरकल्पना नार्थान्तरं साधयतीति। यत्पुनरेतत्तथाऽत्यन्तसंशयः तद्धर्मसा-
तत्योपपत्तेरिति नायं समानधर्मादिभ्य एव संशयः किं तर्हि तद्विषयाध्यवसा-
याद्विशेषस्मृतिसहितादित्यतो नात्यन्तसंशय इति। अन्यतरधर्माध्यवसा-
याद्वा न संशय इति तन्न युक्तं विशेषापेक्षो विमर्शः संशय इति वचनात्। वि-
शेषश्चान्यतरधर्मो न तस्मिन्नध्यवसीयमाने विशेषापेक्षा सम्भवतीति॥

भा०:—विशेष धर्म की आकांक्षा युक्त अध्यवसाय (निश्चय) से ही स-
न्देह मानने से सन्देह का अभाव या अत्यन्त सन्देह नहीं हो सकता जैसे दो
पदार्थ मैं ने पहिले देखे थे. उन के अब तुल्य धर्म देखता हूं. विशेष धर्म ज्ञात नहीं
होता किस प्रकार विशेष धर्म को जानूं. जिससे दो में से एक का निश्चय करूं।
और यह सन्देह तुल्य धर्मों के ज्ञान (इलम) रहते केवल धर्म और धर्मी के
ज्ञान से निवृत्त नहीं हो सकता' इस से अनेक धर्मों के निश्चय से संशय नहीं
होता' उस का उत्तर दिया गया। और जो यह कहा था 'कि दूसरे अर्थ के निश्चय
से अन्य अर्थ में सन्देह नहीं हो सकता' यह उस से कहना उचित है कि जो
केवल भिन्न पदार्थ के निश्चय को सन्देह का कारण मानता हो। जो यह कहा
था कि 'कार्य कारण की तुल्य रूपता नहीं' यह कहना ठीक नहीं. क्योंकि कार्य
एवं कारण की तुल्य रूपता यही है कि कारण के होने से कार्य का होना. तथा
कारण के न होने से कार्य का न होना। यह संशय के कारण और उस के कार्य
संशय में विद्यमान ही हैं। और जो कहा था कि 'विप्रतिपत्ति. की अव्यवस्था
के निश्चय से सन्दे नहीं हो सकता' यह भी ठीक नहीं जैसे. एक कहता है कि
'आत्मा है' दूसरा कहता कि आत्मा नहीं है। इन दो बातों से मध्यस्थ को
सन्देह होता है कि भिन्न२ बातों से परस्पर विरोधी अर्थ जान पड़ते हैं। और

विशेष धर्म जानता नहीं कि जिस के द्वारा दो में से एक का निश्चय करे। एक वस्तु में परस्पर विरोधी दो वादों का नाम "विप्रतिपत्ति" है इसी प्रकार उपलब्धि आदि सन्देह में भी समाधान समझ लेना चाहिये। और जो यह दोष दिया था कि उस धर्म की सर्वदा उपपत्ति (प्राप्ति) होने से अत्यन्त सन्देह होजायेगा। अर्थात् सन्देह की निवृत्ति कदापि न होगी। यह कहना तब ठीक होता, जब समान धर्म के निश्चय को सन्देह का कारण कहते। जब हम विशेष धर्म की स्मृति सहित समान धर्म के अध्यवसाय (निश्चय) को सन्देह का कारण कहते हैं, इसके अनन्तर जब विशेष धर्म का ज्ञान हो जावेगा, तब सन्देह की निवृत्ति अवश्य ही होगी ॥ ६ ॥

यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसङ्गः ॥ ७ ॥

यत्र यत्र संशयपूर्विका परीक्षा शास्त्रे कथायां वा तत्रतत्रैवं संशये परेण प्रतिषिद्धे समाधिर्वाच्या इति। अतः सर्वपरीक्षाव्यापित्वात् प्रथमं संशयः परीक्षित इति। अथ प्रमाणपरीक्षा।

भा०:—जहां २ शास्त्र या 'वाद' (अ० १ आ० १ सू० १) में सन्देह करके परीक्षा कियी जावे वहां २ यदि कोई सन्देह का निषेध करे, तो उसका इसीप्रकार समाधान (खण्डन का उत्तर) करना चाहिये; अतएव संशय की परीक्षा पहिले कियी गयी कि सब परीक्षाओं में यह उपयोगी होता है ॥ ७ ॥ अब प्रमाण की परीक्षा कियी जाती है —

प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ॥ ८ ॥

प्रत्यक्षादीनां प्रमाणत्वं नास्ति त्रैकाल्यासिद्धेः पूर्वापरसहभावानुपपत्तेरिति। अस्य सामान्यवचनस्यार्थविभागः।

भा०:—प्रत्यक्ष आदि (१।१।३) प्रमाण नहीं हो सकते तीन काल में (भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान) सिद्ध न होने से। अर्थात् पहिले, पीछे और साथ में इन (प्रत्यक्षादि) की असिद्धि होने से। यह साधारण वचन है, इसके अर्थ की विवेचना आगे सूत्रों में कियी गयी है ॥ ८ ॥

पूर्वं हि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात्प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥९॥

गन्धादिविषयं ज्ञानं प्रत्यक्षं तद्यदि पूर्वं पश्चाद्गन्धादीनां सिद्धिः नेदं गन्धादिसन्निकर्षादुत्पद्यत इति।

भा०:—गन्ध आदि विषयक ज्ञान प्रत्यक्ष है, यदि ऐसा मानो कि वह पहिले ही से है, तो गन्ध आदि विषयों की सिद्धि पीछे से होती है। तो इन्द्रिय

और अर्थ के संयोग से प्रत्यक्ष की उपपत्ति नहीं हुई, जैसा पूर्व (१।१।४) कहा है ॥९॥

पश्चात्सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः ॥१०॥

असति प्रमाणे केन प्रमीयमाणोऽर्थः प्रमेयः स्यात् प्रमाणेन खलु प्रमीयमाणोऽर्थः प्रमेयमित्येतत्सिध्यति ।

भा०ः—और यदि प्रत्यक्ष आदि की सिद्धि पीछे से मानोगे तो प्रमाणों से प्रमेय की सिद्धि नहीं होगी। क्यों कि प्रमाण से सिद्ध अर्थ 'प्रमेय' होता है ॥१०॥

युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावो बुद्धीनाम् ॥११॥

यदि प्रमाणं प्रमेयं च युगपद्भवतः एवमपि गन्धादिष्विन्द्रियार्थेषु ज्ञानानि प्रत्यर्थनियतानि युगपत्सम्भवन्तीति ज्ञानानां प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावः । या इमा बुद्धयः क्रमेणार्थेषु वर्त्तन्ते तासां क्रमवृत्तित्वं न सम्भवतीति व्याघातश्च युगपज् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति । एतावांश्च प्रमाणप्रमेययोः सद्भावविषयः स चानुपपन्न इति तस्मात्प्रत्यक्षादीनां प्रमाणत्वं न सम्भवतीति अस्य समाधिः ।

*उपलब्धिहेतोरुपलब्धिविषयस्य चार्थस्य पूर्वापरसहभावानियमाद्यथादर्शनं विभागवचनम् ।

क्व चिदुपलब्धिहेतुः पूर्वं पश्चादुपलब्धिविषयः । यथाऽऽदित्यस्य प्रकाशः उत्पद्यमानानां क्व चित्पूर्वमुपलब्धिविषयः पश्चादुपलब्धिहेतुः यथावस्थितानां प्रदीपः । क्व चिदुपलब्धिहेतुरुपलब्धिविषयश्च सह भवतः यथा धूमेनाग्नेर्ग्रहणमिति । उपलब्धिहेतुश्च प्रमाणं प्रमेयं तूपलब्धिविषयः । एवं प्रमाणप्रमेययोः । पूर्वापरसहभावेऽनियते यथाऽर्थो दृश्यते तथा विभज्य वचनीय इति । तत्रैकान्तेन प्रतिषेधानुपपत्तिः । सामान्येन खलु विभज्य प्रतिषेध उक्त इति ।

* समाख्याहेतोस्त्रैकाल्ययोगात्तथाभूता समाख्या ।

यत्पुनरिदं पश्चात्सिद्धे च सति प्रमाणे प्रमेयं न सिध्यति प्रमाणेन प्रमीयमाणोऽर्थः प्रमेयमिति विज्ञायतइति प्रमाणमित्येतस्याः समाख्याया उपलब्धिहेतुत्वं निमित्तं तस्य त्रैकाल्ययोगः । उपलब्धिमकार्षीदुपलब्धिं करोति उपलब्धिं करिष्यतीति समाख्याहेतोस्त्रैकाल्ययोगात् समाख्या तथाभूता । प्रमितोऽनेनार्थः प्रमीयते प्रमास्यतइति प्रमाणम् । प्रमितं प्रमीयते प्रमास्यते इति च प्रमेयम् । एवं सति भविष्यत्यस्मिन् हेतुत उपलब्धिः । प्रमास्यतेऽयमर्थः प्रमेयमिदमित्येतत्सर्वं भवतीति ।

* त्रैकाल्यानभ्यनुज्ञाने च व्यवहारानुपपत्तिः ।

यश्चैवं नाभ्यनुजानीयात्तस्य पाचकमानय पचति लावकमानय लविष्यतीति व्यवहारो नोपपद्यतइति । प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेरित्येवमादिवाक्यं प्रमाणप्रतिषेधः । तत्रायं प्रष्टव्यः अथानेन प्रतिषेधेन भवता किं क्रियतइति । किं सम्भवो निवर्त्यते अथासम्भवो ज्ञाप्यतइति । तद्यदि सम्भवो निवर्त्यते सति सम्भवे प्रत्यक्षादीनां प्रतिषेधानुपपत्तिः । अथासम्भवो ज्ञाप्यते प्रमाणलक्षणं प्राप्तस्तर्हि प्रतिषेधः प्रमाणासम्भवस्योपपादकत्वादिति । किंचातः ॥

भा०:—यदि कहो कि 'प्रमाण' और 'प्रमेय' की सिद्धि एक साथ होती है तो ज्ञानों के जो क्रम से अर्थ में प्रवृत्ति होने का नियम है (जैसा कि अ० १ आ० १ सू० १६ में मन का लिङ्ग कहा है) उस का खण्डन हो जावेगा, अतएव प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का प्रमाण होना सिद्ध नहीं होता । इन शंकाओं का समाधान। ज्ञान का कारण और ज्ञान का विषय, इन दोनों का पूर्व, पर और साथ होने का नियम नहीं है: अतएव जैसा जहां देखने में आता वैसा विभाग किया जाता है । कहीं ज्ञान का कारण पहिले और पीछे ज्ञान का विषय, जैसे सूर्य का प्रकाश उत्पन्न होने वाले पदार्थों से प्रथम होता है । कहीं ज्ञान का विषय पहिले और उसका कारण पीछे होता; उदाहरण जैसे पहिले से रक्खे हुए पदार्थों का दीप (प्रकाशक) होता है । और कहीं ज्ञान का कारण और उसके विषय साथ ही रहते हैं: जैसे धूम के देखने से अग्नि का ज्ञान होता है । इससे सिद्ध हुआ कि जो ज्ञान का कारण है वह 'प्रमाण' एवं जो ज्ञान का विषय है, वह 'प्रमेय' कहाता है। इस प्रकार प्रमाण एवं प्रमेय का प्रथम, पीछे और साथ होना अनियत है, अतएव जहां जैसा सम्भव हो, वहां उस प्रकार विभाग कर कहना उचित है ॥ ११ ॥

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥१२॥

अस्य तु विभागः पूर्वं हि प्रतिषेधसिद्धावसति प्रतिषेध्ये किं प्रतिषिध्यते पश्चात्सिद्धौ प्रतिषेध्यासिद्धिः प्रतिषेधाभावादिति युगपत्सिद्धौ प्रतिषेध्य सिद्ध्यभ्यनुज्ञानादनर्थकः प्रतिषेध इति । प्रतिषेधलक्षणे च वाक्येऽनुपपद्यमाने सिद्धं प्रत्यक्षादीनां प्रमाणत्वमिति ॥

भा०:—तीन काल में असिद्ध होने से प्रतिषेध की सिद्धि नहीं हो सकती। यदि पहिले प्रतिषेध की उपपत्ति कहो, तो प्रतिषेध योग्य विषय (दूषण देने योग्य) न रहने से किस का निषेध होगा ? । यदि पश्चात् सिद्धि मानी

जावे, तो प्रतिषेध के अभाव से प्रतिषेधयोग्य वस्तु की सिद्धि न होगी। और यदि एक साथ सिद्धि मानी जावे, तो प्रतिषेधयोग्य की उपपत्ति मान लेने से निषेध व्यर्थ हुआ। प्रतिषेध लक्षण वाक्य के सिद्ध न होने से प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का प्रमाणत्व सिद्ध हुआ ॥ १२ ॥

सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १३ ॥

कथं त्रैकाल्यासिद्धेरित्यस्य हेतोर्यद्युदाहरणमुपादीयते हेत्वर्थस्य साधकत्वं दृष्टान्ते दर्शयितव्यमिति। न च तर्हि प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यम्। अथ प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यमुपादीयमानमप्युदाहरणं नार्थं साधयिष्यतीति। सोयं सर्वप्रमाणैर्व्याहतो हेतुरहेतुः सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्ध इति। वाक्यार्थो ह्यस्य सिद्धान्तः। स च वाक्यार्थः प्रत्यक्षादीनि नार्थं साधयन्तीति इदं चावयवानामुपादानमर्थस्य साधनायेति। अथ नोपादीयते अप्रदर्शित हेत्वर्थस्य दृष्टान्तेन साधकत्वमिति निषेधो नोपपद्यते हेतुत्वासिद्धेरिति ॥

भा०—और सब प्रमाणों के खण्डन करने से निषेध नहीं हो सकता अर्थात् जब सब प्रमाणों का निषेध हो चुका, तब प्रतिषेध करने में प्रमाण कहां से आवेगा? और प्रमाणाभाव से तुम्हारा प्रतिषेध भी नहीं सिद्ध होगा। और प्रमाण के बिना कोई बात सिद्ध नहीं हो सकती इस लिये सब प्रमाणों का निषेध नहीं हो सकता ॥ १३ ॥

तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः ॥ १४ ॥

प्रतिषेधलक्षणे स्ववाक्ये तेषामवयवाश्रितानां प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्येऽभ्यनुज्ञायमाने परवाक्येऽप्यवयवाश्रितानां प्रामाण्यं प्रसज्यते अविशेषादिति। एवं च न सर्वाणि प्रमाणानि प्रतिषिध्यन्त इति। विप्रतिषेध इति वीत्ययमुपसर्गः सम्प्रतिपत्त्यर्थे न व्याघातेऽर्थाभावादिति ॥

भा०—यदि प्रतिषेध में प्रमाण मानोगे, तो सब प्रमाणों का प्रतिषेध नहीं हो सकता; आशय यह है कि जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों का अप्रमाण्य होना प्रामाण्य मान लिया जावे, तो प्रतिषेध कहना असङ्गत है। सूत्र में 'प्रतिषेध' के स्थान में जो 'विप्रतिषेध' कहा है—यह 'वि' (उपसर्ग) सम्प्रतिपत्ति (अच्छी प्रकार जानने के) के लिये है, व्याघात के लिये नहीं ॥ १४ ॥

त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत्तत्सिद्धेः ॥१५॥

किमर्थं पुनरिदमुच्यते पूर्वोक्तनिबन्धनार्थम्। यत्तावत्पूर्वोक्तमुपलब्धिहेतोरुपलब्धिविषयस्य चार्थस्य पूर्वापरसहभावानियमाद् यथादर्शनं विभाग-

वचनमिति तदितःसमुत्थानं यथा विज्ञायेत । अनियमदर्शी खल्वयमृषिर्नियमेन प्रतिषेधं प्रत्याचष्टे त्रैकाल्यस्य चायुक्तः प्रतिषेध इति । तत्रैकां विधामुदाहरति शब्दादातोद्यसिद्धिवदिति । यथा पश्चात्सिद्धेन शब्देन पूर्वसिद्धमातोद्यमनुमीयते साध्यं चातोद्यं साधनं च शब्दः। अन्तर्हिते ह्यातोद्ये स्वनतोऽनुमानं भवतीति । वीणा वाद्यते वेणुः पूर्यते इति स्वनविशेषेण आतोद्यविशेषं प्रतिपद्यते । तथा पूर्वसिद्धमुपलब्धिविषयं पश्चात्सिद्धेनोपलब्धिहेतुना प्रतिपद्यते इति । निदर्शनार्थत्वाच्चास्य शेषयोर्विधयोर्यथोक्तमुदाहरणं वेदितव्यमिति । कस्मात्पुनरिह तन्नोच्यते पूर्वोक्तमुपपाद्यतइति। सर्वथा तावदयमर्थः प्रकाशयितव्यः स इह वा प्रकाश्येत तत्र वा न कश्चिद्विशेष इति। प्रमाणं प्रमेयमिति च समाख्या समावेशेन वर्त्तते समाख्यानिमित्तवशात् । समाख्यानिमित्तं तूपलब्धिसाधनं प्रमाणम् । उपलब्धिविषयश्च प्रमेयमिति। यदा चोपलब्धिविषयः कस्य चिदुपलब्धिसाधनं भवति तदा प्रमाणं प्रमेयमिति चैकोऽर्थोऽभिधीयते । अस्यार्थस्यावद्योतनार्थमिदमुच्यते ॥

भा०:—तीन काल का निषेध नहीं हो सकता, जैसे शब्द के सुनने से वाद्य की सिद्धि होती है । अर्थात् शब्द के सुनने से पहिले से सिद्ध वाजे का ज्ञान होता है । यहां वाजा साध्य और शब्द (आवाज़) साधन है । छिपे हुए वीना, बांसुरी आदि बाजों के शब्द से अनुमान होता है कि वीना, बांसुरी आदि बजाये जाते हैं । तात्पर्य्य यह है कि प्रमाण और प्रमेय का समकाल होने का कुछ नियम नहीं है। कहीं प्रमाण पहिले कहीं पीछे और कहीं साथ ही रहते हैं ॥ १५ ॥

प्रमेया च तुलाप्रामाण्यवत् ॥ १६ ॥

गुरुत्वपरिमाणज्ञानसाधनं तुला प्रमाणं ज्ञानविषयो गुरुद्रव्यं सुवर्णादि प्रमेयम् । यदा सुवर्णादिना तुलान्तरं व्यवस्थाप्यते तदा तुलान्तरप्रतिपत्तौ सुवर्णादि प्रमाणं तुलान्तरं प्रमेयमिति । एवमनवयवेन तन्त्रार्थ उद्दिष्टो वेदितव्यः । आत्मा तावदुपलब्धिविषयत्वात् प्रमेये परिपठितः । उपलब्धौ स्वातन्त्र्यात् प्रमाता । बुद्धिरुपलब्धिसाधनत्वात् प्रमाणम् उपलब्धिविषयत्वात् प्रमेयम् उभयाभावात् प्रमितिः । एवमर्थविशेषे समाख्यासमावेशो योज्यः। तथा च कारकशब्दा निमित्तवशात् समावेशेन वर्त्तन्तइति । वृक्षस्तिष्ठतीति स्वस्थितौ स्वातन्त्र्यात्कर्ता। वृक्षं पश्यतीति दर्शनेनाप्तुमिष्यमाणतमत्वात् कर्म। वृक्षेण चन्द्रमसं ज्ञापयतीति ज्ञापकस्य साधकतमत्वात् करणम् । वृक्षायोदकमासिञ्च-

तीति आसिच्यमानेनोदकेन वृक्षमभिप्रैतीति संप्रदानम् । वृक्षात्पर्णं पततीति ध्रुवमपायेऽपादानमित्यपादानम् । वृक्षे वयांसि सन्तीत्याधारोऽधिकरणमित्यधिकरणम् । एवं च सति न द्रव्यमात्रं कारकं न क्रिया मात्रं किं तर्हि क्रियासाधनं क्रियाविशेषयुक्तं कारकम् । यत्क्रियासाधनं स्वतन्त्रः स कर्ता न द्रव्यमात्रं न क्रिया मात्रं क्रियया व्याप्तुमिष्यमाणतमं कर्म न द्रव्यमात्रं न क्रियामात्रम् । एवं साधकतमादिष्वपि । एवं च कारकान्वाख्यानं यथैव उपपत्तित एवं लक्षणतः कारकान्वाख्यानमपि न द्रव्यमात्रेण न क्रियया वा किं तर्हि क्रियासाधने क्रियाविशेषयुक्तइति । कारकशब्दश्चायं प्रमाणं प्रमेयमिति स च कारकधर्मं न हातुमर्हति । अस्ति भोः कारकशब्दानां निमित्तवशात् समावेशः । प्रत्यक्षादीनि च प्रमाणानि उपलब्धिहेतुत्वात् प्रमेयं चोपलब्धिविषयत्वात् । संवेद्यानि प्रत्यक्षादीनि प्रत्यक्षेणोपलभे अनुमानेनोपलभे उपमानेनोपलभे आगमेनोपलभे प्रत्यक्षं मे ज्ञानमानुमानिकं मे ज्ञानमौपमानिकं मे ज्ञानमागमिकं मे ज्ञानमिति विशेषा गृह्यन्ते । लक्षणतश्च ज्ञाप्यमानानि ज्ञायन्ते विशेषेणेन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमित्येवमादिना सेयमुपलब्धिः प्रत्यक्षादिविषया किं प्रमाणान्तरतोऽथान्तरेण प्रमाणान्तरमसाधनेति । कश्चात्र विशेषः ॥

भा०:—जिससे गुरुता (भारीपन) का ज्ञान (तौल, वज़न) हो, उसे 'तुला' (तराज़ू) कहते हैं। यहां तुला प्रमाण है और गुरु द्रव्य सोना आदि प्रमेय ज्ञान का विषय है। दोनों धर्म्म युक्त होने से तुला प्रमाण और प्रमेय भी कही जाती है; सुवर्ण आदि द्रव्यों का भार उससे जाना जाता है इस लिये प्रमाण, और जब उसी (तराज़ू) का तौल दूसरी (तराज़ू आदि अन्य तुला) वस्तु से मालूम किया जावे तब वही प्रमेय हो सकती है। आत्मा, ज्ञान के विषय होने से प्रमेयों में पढ़ा गया और जानने में स्वतन्त्र होने से 'प्रमाता' भी कहाता है। इसी प्रकार बुद्धि ज्ञान का कारण होने से प्रमाण और ज्ञान का विषय होने से प्रमेय भी हो सकती है। अर्थात् एक ही पदार्थ प्रमाण तथा प्रमेय धर्म भेद से हो सकता है । इसीप्रकार कारक शब्द निमित्त वशतः (जहां जैसा अर्थ होता) समावेश (एक साथ रहना) रहते हैं। जैसे 'वृक्ष ठहरा है' इस वाक्य में अपनी स्थिति में स्वतंत्र होने से 'वृक्ष' कर्त्ता-कारक है। 'वृक्ष को देखता है' इस वाक्य में—कर्त्ता को अत्यन्त इष्ट होने से वृक्ष कर्म कारक है। 'वृक्ष द्वारा चन्द्रमा को देखता है' इस वाक्य में द्रष्टा (देखने वाला) को देखने में 'वृक्ष' साधक नाम होने से करण कारक है। वृक्ष

के लिये जल सींचता है' इस वाक्य में वृक्ष सम्प्रदान कारक है। 'वृक्ष से पत्ता गिरता है' इस वाक्य में वृक्ष अपादान कारक है। एक ही वृक्ष उपरोक्त निमित्त भेद से भिन्न २ कारक हुआ है। इसी प्रकार ज्ञान का साधन होने से प्रत्यक्षादि प्रमाण, और ज्ञान के विषय होने से प्रमेय होते हैं। और प्रत्यक्ष आदि को इसी प्रकार जानना चाहिये; जैसे 'मैं प्रत्यक्ष से जानता हूं, 'मैं अनुमान से जानता हूं, 'उपमान से जानता हूं, 'आगम से जानता हूं,। मेरा ज्ञान प्रत्यक्ष है, मेरा ज्ञान अनुमानिक है, मेरा ज्ञान औपमानिक है, मेरा ज्ञान आगमिक है, इत्यादि प्रकार ज्ञान विशेष किये जाते हैं, और लक्षण से भी जतलाने से जाने जाते हैं। जैसे इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से उत्पन्न ज्ञान इत्यादि (अ० १ आ० १ सू० ४) ॥ १६ ॥

प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः ॥ १७ ॥

यदि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणेनोपलभ्यन्ते येन प्रमाणेनोपलभ्यन्ते तत्प्रमाणान्तरमस्तीति प्रमाणान्तरसद्भावः प्रसज्यत इति अनवस्थामाह तस्याप्यन्येन तस्याप्यन्येनेति । न चानवस्था शक्यानुज्ञातुमनुपपत्तेरिति । अस्तु तर्हि प्रमाणान्तरमन्तरेण निःसाधनेति ॥

भा०:—यदि प्रमाण द्वारा प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि मानोगे, तो दूसरे प्रमाणों की सिद्धि मानने पड़ेगी। अर्थात् अनवस्था दोष आजावेगा जैसे कोई पूछे कि 'प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि यदि अन्य प्रमाणों से हुई, तो उन प्रमाणों की सिद्धि किससे हुई' उसकी सिद्धि दूसरे से हुई, तो उसकी सिद्धि किससे ? इसीप्रकार कहते २ अन्त न पाओगे ॥ १७ ॥

तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणसिद्धिवत्प्रमेयसिद्धिः ॥ १८ ॥

यदि प्रत्यक्षाद्युपलब्धौ प्रमाणान्तरं निवर्तते आत्माद्युपलब्धावपि प्रमाणान्तरं निवर्त्स्यत्यविशेषात् । एवं च सर्वप्रमाणविलोप इत्यत आह ॥

भा०:—यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों के ज्ञान के लिये अन्य प्रमाण न मानोगे, तो आत्मा के ज्ञान के लिये भी प्रमाण मानने की आवश्यकता न रहेगी। दूसरे प्रमाण की सिद्धि की नाईं प्रमेय की भी सिद्धि हो जावेगी। इसप्रकार सब प्रमाणों का लोप हो जावेगा। इसका समाधान यह है कि ॥ १८ ॥

न प्रदीपप्रकाशसिद्धिवत्तत्सिद्धेः ॥ १९ ॥

यथा प्रदीपप्रकाशः प्रत्यक्षाङ्गत्वात् दृश्यदर्शने प्रमाणं स च प्रत्यक्षान्तरेण

चक्षुषः सन्निकर्षेण गृह्यते । प्रदीपभावाभावयोर्दर्शनस्य तथाभावाद्दर्शनहेतुरनुमीयते तमसि प्रदीपमुपाददीथा इत्याप्तोपदेशेनापि प्रतिपद्यते । एवं प्रत्यक्षादीनां यथादर्शनं प्रत्यक्षादिभिरेवोपलब्धिः । इन्द्रियाणि तावत् स्वविषयग्रहणेनैवानुमीयन्ते अर्थाः प्रत्यक्षतो गृह्यन्ते इन्द्रियार्थसन्निकर्षास्त्वावरणेन लिङ्गेनानुमीयन्ते इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमात्ममनसोः संयोगविशेषादात्मसमवायाच्च सुखादिवद्गृह्यते एवं प्रमाणविशेषो विभज्य वचनीयः । यथा च दृश्यः सन् प्रदीपप्रकाशो दृश्यान्तराणां दर्शनहेतुरिति दृश्यदर्शनव्यवस्थां लभते एवं प्रमेयं सत्किञ्चिदर्थजातमुपलब्धिहेतुत्वात् प्रमाणप्रमेयव्यवस्थां लभते । सेयं प्रत्यक्षादिभिरेव प्रत्यक्षादीनां यथादर्शनमुपलब्धिर्न प्रमाणान्तरतो न च प्रमाणमन्तरेण निःसाधनेति ॥

*तेनैव तस्याग्रहणमिति चेन्न नार्थभेदस्य लक्षणसामान्यात् ।

प्रत्यक्षादीनां प्रत्यक्षादिभिरेव ग्रहणमित्ययुक्तम् अन्येन ह्यन्यस्य ग्रहणं दृष्टमिति नार्थभेदस्य लक्षणसामान्यात् । प्रत्यक्षलक्षणेनानेकोऽर्थः संगृहीतस्तत्र केन चित्कस्य चिद्ग्रहणमित्यदोषः एवमनुमानादिष्वपीति यथोद्धृतेनोदकेनाशयस्थस्य ग्रहणमिति ॥

*ज्ञातृमनसोश्च दर्शनात् ।

अहं सुखी अहं दुःखी चेति तेनैव ज्ञात्रा तस्यैव ग्रहणं दृश्यते । युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति च तेनैव मनसा तस्यैवानुमानं दृश्यते ज्ञातृज्ञेयस्य चाभेदो ग्रहणस्य ग्राहकस्य चाभेद इति ॥

*निमित्तभेदोऽत्रेति चेत् समानम् ।

न निमित्तान्तरेण विना ज्ञाताऽऽत्मानं जानीते न च निमित्तान्तरेण विना मनसा मनो गृह्यतइति समानमेतत् प्रत्यक्षादिभिः । प्रत्यक्षादीनां ग्रहणमित्यत्राप्यर्थभेदो न गृह्यतइति ।

*प्रत्यक्षादीनां चाविषयस्यानुपपत्तेः ।

यदि स्यात् किं चिदर्थजातं प्रत्यक्षादीनामविषयः यत्प्रत्यक्षादिभिर्न शक्यं ग्रहीतुं तस्य ग्रहणाय प्रमाणान्तरमुपादीयेत तत्तु न शक्यं केन चिदुपपादयितुमिति प्रत्यक्षादीनां यथादर्शनमेवेदं सच्चासच्च सर्वं विषय इति ।

के चित्तु दृष्टान्तमपरिगृहीतं हेतुना विशेषहेतुमन्तरेण साध्यसाधनायो-

पादद्ते यथा प्रदीपप्रकाशः प्रदीपान्तरप्रकाशमन्तरेण गृह्यते तथा प्रमाणानि प्रमाणान्तरमन्तरेण गृह्यन्त इति स चायम् ।

***क्वचिन्निवृत्तिदर्शनादनिवृत्तिदर्शनाच्च क्वचिदनेकान्तः ।**

यथाऽयं प्रसङ्गो निवृत्तिदर्शनात् प्रमाणसाधनायोपादीयते एवं प्रमेयसाधनायाप्युपादेयो ऽविशेषहेतुत्वात् । यथा स्थाल्यादिरूपग्रहणे प्रदीपप्रकाशः प्रमेयसाधनायोपादीयते एवं प्रमाणसाधनायाप्युपादेयो विशेषहेत्वभावात्सोयं विशेषहेतुपरिग्रहमन्तरेण दृष्टान्त एकस्मिन्पक्षे उपादेयो न प्रतिपक्षइत्यनेकान्तः । एकस्मिंश्च पक्षे दृष्टान्त इत्यनेकान्तो विशेषहेत्वभावादिति ।

***विशेषहेतुपरिग्रहे सति उपसंहाराभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ।**

विशेषहेतुपरिगृहीतस्तु दृष्टान्त एकस्मिन्पक्षे उपसंह्रियमाणो न शक्यो ज्ञातुम् । एवं च सत्यनेकान्त इत्ययं प्रतिषेधो न भवति ।

*** प्रत्यक्षादीनां प्रत्यक्षादिभिरुपलब्धावनवस्थेति चेन्न संविद्विषयनिमित्तानाम् उपलब्ध्या व्यवहारोपपत्तेः ।**

प्रत्यक्षेणार्थमुपलभे अनुमानेनार्थमुपलभे इति प्रत्यक्षं मे ज्ञानमानुमानिकं मे ज्ञानमागमिकं मे ज्ञानमिति संविद्विषयं संविन्निमित्तं चोपलभमानस्य धर्मार्थसुखापवर्गप्रयोजनस्तत्प्रत्यनीकपरिवर्जनप्रयोजनश्च व्यवहार उपपद्यते सोयं तावत्येव निवर्त्तते न चास्ति व्यवहारान्तरमनवस्थासाधनीयं येन प्रयुक्तोऽनवस्था मुपाददीतेति । सामान्येन प्रमाणानि परीक्ष्य विशेषेण परीक्ष्यन्ते तत्र ।

भा०:—जैसे दीप का प्रकाश प्रत्यक्ष अङ्ग होने से दृश्य पदार्थ के दर्शन में प्रमाण होता और वह नेत्र के अन्य अङ्ग से ग्रहण किया जाता है। जो पदार्थ रात्रि को अन्धकार में रक्खा रहता प्रदीप के होने में उसका होना और प्रदीप के न होने में उस का अदर्शन होताहै। प्रदीप के भाव से दर्शन का होने से, प्रदीप, दर्शन का कारण अनुमान किया जाता है। इसीप्रकार बोध के अनुसार प्रत्यक्ष आदि ही से प्रत्यक्षादिकों का ज्ञान होता है । इन्द्रियां अपने २ विषयों को ग्रहण करती हैं उस विषय ग्रहण करने ही से उनका होना अनुमान किया जाता है। पदार्थ प्रत्यक्ष द्वारा ग्रहण किये जाते हैं। इन्द्रिय और पदार्थों का संयोग आवरण-चिन्ह से अनुमान किया जाता है। इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग से उत्पन्न ज्ञान सुख आदि के समान आत्मा और मन के संयोग विशेष से आत्मा के समवाय (एक प्रकार का नित्य सम्बन्ध) से ग्रहण किया जाता है। इस प्रकार प्रमाण विशेष को विभाग करके कहना चाहिये। जैसे दीप

का प्रकाश स्वयं दर्शन योग्य होकर, अन्य दृश्य पदार्थों के दर्शन का हेतु होने से दृश्य और दर्शन का कारण कहा जाता इसीप्रकार प्रमेय होकर भी किसी वस्तु के दर्शन का हेतु होने से प्रमाण भी हो सकता है। अर्थात् एक ही वस्तु प्रमाण और प्रमेय के नाम से अवस्था भेद से व्यवहृत हो सकता है। इस से सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्षादिकों की सिद्धि प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होती है न कि दूसरे प्रमाणों से और न विन प्रमाण ही का यह सिद्धान्त है।

अगर यह कहोकि प्रत्यक्ष ही द्वारा प्रत्यक्ष का ग्रहण होता है, इस में ग्राहक, ग्रहण, ग्राह्य भेद नहीं रहता, तो इस का उत्तर यह है कि अर्थ भेद लक्षण सामान्य से अभेद होता है। फिर यह कहो कि अन्य से अन्य का ग्रहण होता है, यह प्रत्यक्ष सिद्धि है, परन्तु प्रत्यक्ष तो अन्य पदार्थ नहीं है, तो यह ठीक नहीं। प्रत्यक्ष के लक्षण द्वारा अनेक पदार्थ का संग्रह होता उन में से किसी से किसी का ग्रहण होना निर्दोष है। इसीप्रकार अनुमानादि में भी जानना। जैसे कूप से निकाले हुये जल द्वारा कूपस्थ जल का ज्ञान होता है इसी प्रकार ज्ञाता और मन का अनुमान होता है। अर्थात् में सुखी, मैं दुःखी, इत्यादि उसी ज्ञाता द्वारा उसी का ग्रहण होता है। एक साथ अनेक ज्ञानों का न होना, मन का लिङ्ग कहा गया है। इस में भी उसी मन द्वारा उसी मन का अनुमान किया जाता है। ज्ञाता, ज्ञेय और ग्रहण एवं ग्राहक के अभेद होने से। यहां निमित्त भेद ही समान है। ज्ञाता, विना अन्य निमित्त के आत्मा को नहीं जानता और निमित्तान्तर ही से मन से मन का ग्रहण होता है। यही प्रत्यक्षादि के साथ समानता है। प्रत्यक्षादि से प्रत्यक्षादि के ग्रहण होने में कोई अर्थ भेद नहीं जान पड़ता। क्योंकि ऐसा कोई पदार्थ नहीं है जो प्रत्यक्षादि के विषय से बाहर हो। यदि ऐसा कोई पदार्थ होता, जो प्रत्यक्षादि का विषय न होता (जिस को प्रत्यक्षादि द्वारा ग्रहण नहीं कर सकते) तो उस के ज्ञान के लिये अन्य प्रमाण की आवश्यकता पड़ती। परन्तु इसे कोई सिद्ध नहीं कर सकता। इस से यह सिद्ध है कि जो कुछ सत् असत् पदार्थ है, सब ही प्रत्यक्षादि का विषय है।

कोई तो विना विशेष हेतु ग्रहण किये साध्य के साधन के लिये यों कहते हैं कि दीप का प्रकाश विना दूसरे दीप के प्रकाश के ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार प्रमाणादि विना प्रमाणों ही के ग्रहण किये जाते। परन्तु ऐसा कहना, कहीं अन्य प्रमाण की अपेक्षा निवृत्ति होने और कहीं निवृत्त न होने से 'अनैकान्त' है।

यानी किसी में तो दूसरे प्रमाण की आवश्यक्ता नहीं होती, जैसे दीपक के ज्ञान के लिये उसके स्वयं प्रकाश स्वरूप होने से अन्य प्रकाश की आवश्यक्ता नहीं पड़ती। और वही घट आदि के ज्ञान के लिये दीप के प्रकाश की ज़रूरत होती है। क्योंकि प्रकाशमान के प्रकाश ही से घट आदि प्रकाशित होते हैं। इस भाव से विना विशेष हेतु के यह दृष्टान्त अनैकान्त है। अर्थात् एक ही प्रकार से सर्वत्र प्रत्येक साध्यपक्ष में घटने से और साध्य के समान विरुद्ध पक्ष में भी घटने से 'प्रतिदृष्टान्त समजाति' दोष युक्त है। उस में विशेष हेतु के परिग्रह से, साधन से साध्य के सिद्ध होने पर अनैकान्त होने का दोष नहीं आता, इससे प्रतिषेध नहीं हो सकता। विशेष हेतु जिस में ग्रहण किया गया ऐसा दृष्टान्त एक ही पक्ष या अंश में साधन के योग्य हो ऐसा नहीं ज्ञात होता है। और यदि यह कहो कि प्रत्यक्षादि का प्रत्यक्षादि द्वारा उपलब्धि होने में अनवस्था दोष आता है तो ज्ञान विषयों के निमित्तों की उपलब्धि का व्यवहार सिद्ध नहीं होता। जैसे प्रत्यक्ष से ज्ञान हुआ, अनुमान से ज्ञान हुआ, मेरा ज्ञान प्रत्यक्ष है, मेरा ज्ञान आनुमानिक है, इत्यादि ज्ञान विषय उपलभ्य (ज्ञेय) धर्म, अधर्म, सुख, मोक्ष, प्रयोजन, आदि इनके विपरीत त्याग योग्य प्रयोजन का व्यवहार सिद्ध होता है ॥ १९ ॥

प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात् ॥२०॥

आत्ममनःसन्निकर्षो हि कारणान्तरं नोक्तमिति। न चासंयुक्ते द्रव्ये संयोगजन्यस्य गुणस्योत्पत्तिरिति। ज्ञानोत्पत्तिदर्शनादात्ममनःसन्निकर्षः कारणं मनःसन्निकर्षानपेक्षस्य चेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वे युगपदुत्पद्येरन् बुद्धय इति मनःसन्निकर्षोऽपि कारणम्। तदिदं सूत्रं पुरस्तात् कृतभाष्यम् ॥

भा०:—प्रत्यक्ष का लक्षण सिद्ध नहीं होता, क्योंकि इसके विषय में पूरी तरह नहीं कहा गया। आत्मा और मन का संयोग भी प्रत्यक्ष का कारण है; मन के संयोग की अपेक्षा न करके केवल इन्द्रिय और अर्थ के संयोग के कारण मानें तो एक साथ अनेक ज्ञान हो जायेंगे; इसलिये मन के संयोग को भी प्रत्यक्ष का कारण मानना चाहिये। अब अगले सूत्र में कहते हैं ॥ २० ॥

नात्ममनसोः सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥२१॥

आत्ममनसोः सन्निकर्षाभावे नोत्पद्यते प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षाभाववदिति। सति चेन्द्रियार्थसन्निकर्षे ज्ञानोत्पत्तिदर्शनात् कारणभावं ब्रुवते ॥

भा०:—आत्मा और मन के सन्निकर्ष विना प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं होती; जैसे इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के विना प्रत्यक्ष उत्पन्न नहीं होता और इन्द्रिय और अर्थ के संयोग द्वारा ज्ञान होने से कारण कहते हैं ॥ २१ ॥

दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसङ्गः ॥ २२ ॥

दिगादिषु सत्सु ज्ञानभावात्तान्यपि कारणानीति । अकारणभावेऽपि ज्ञानोत्पत्तिर्द्दिगादिसन्निधेरवर्ज्जनीयत्वात् । यदाप्यकारणं दिगादीनि ज्ञानोत्पत्तौ तदापि सत्सु दिगादिषु ज्ञानेन भवितव्यं नहि दिगादीनां सन्निधिः शक्यः परिवर्जयितुमिति । तत्र कारणभावे हेतुवचनमेतस्माद्धेतोर्दिगादीनि ज्ञानकारणानीति । आत्ममनःसन्निकर्षस्तर्ह्युपसंख्येय इति ॥ तत्रेदमुच्यते-

भा०:—इसीप्रकार दिशा, देश, काल, और आकाश में भी (जैसा २१ सू० में कहा) प्रसङ्ग प्राप्त हुआ क्योंकि दिशा आदि के वर्त्तमान रहने से ज्ञान होता है, इसलिये इन्हें भी कारण मानना चाहिये क्योंकि देशादिकों की समीपता बचा नहीं सकते । अर्थात् जहां ज्ञान होता है वहां ये अवश्य रहते ही हैं । फिर इन को कारण क्यों नहीं मानना चाहिये ? इस पर कहते हैं ॥ २२ ॥

ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो नानवरोधः ॥२३॥

ज्ञानमात्मलिङ्गं तद्गुणत्वान्न चासंयुक्ते द्रव्ये संयोगजस्य गुणस्योत्पत्तिरस्तीति ॥

भा०:—ज्ञान, आत्मा का लिङ्ग है क्योंकि यह आत्मा का गुण है । असंयुक्त द्रव्य में संयोगज (संयोग होने पर उत्पन्न होने वाला) गुण की उत्पत्ति हो नहीं सकती, इसलिये इसका त्याग नहीं है ॥ २३ ॥

तदयौगपद्यलिङ्गत्वाच्च न मनसः ॥२४॥

अनवरोध इति वर्त्तते । युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमित्युच्यमाने सिद्ध्यत्येव मनःसन्निकर्षापेक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्षो ज्ञानकारणमिति ।

भा०:—एक काल में अनेक ज्ञानों का न होना मन का लिङ्ग है । जब यह कहा गया तो सिद्ध हो गया कि मन के संयोग की अपेक्षा रखने वाला इन्द्रिय और अर्थ का संयोग ज्ञान का कारण है ॥ २४ ॥

‡ प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य स्वशब्देन वचनम् ॥ २५ ॥

---

‡ कलकत्ता, मुम्बई आदि के छपे पुस्तकों में प्रमाद से इस सूत्र को भाष्य में मिला कर छापा है ।

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दानां निमित्तमात्ममनः सन्निकर्षः प्रत्यक्षस्यैवेन्द्रियार्थसन्निकर्ष इत्यसमानोऽसमानत्वात्तस्य ग्रहणम् ॥

भा०:–इन्द्रिय और अर्थ का संयोग प्रत्यक्ष का मुख्य कारण है। आत्मा और मन का संयोग, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और शब्द इन सब का कारण है: इसलिये पृथक् करके कहा ॥ २५ ॥

सुप्तव्यासक्तमनसां चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षनिमित्तत्वात्* ॥२६॥

इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ग्रहणं नात्ममनसोः सन्निकर्षस्येति। एकदा खल्वयं प्रबोधकालं प्रणिधाय सुप्तः प्रणिधानवशात् प्रबुध्यते। यदा तु तीव्रौ ध्वनिस्पर्शौ प्रबोधकारणं भवतः तदा प्रसुप्तस्येन्द्रियसन्निकर्षनिमित्तं प्रबोधज्ञानमुत्पद्यते तत्र न ज्ञातुर्मनसश्च सन्निकर्षस्य प्राधान्यं भवति किं तर्हि इन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य। न ह्यात्मा जिज्ञासमानः प्रयत्नेन मनस्तदा प्रेरयतीति। एकदा खल्वयं विषयान्तरासक्तमनाः संकल्पवशाद्विषयान्तरं जिज्ञासमानः प्रयत्नप्रेरितेन मनसा इन्द्रियं संयोज्य तद्विषयान्तरं जानीते। यदा तु खल्वस्य निःसंकल्पस्य निर्जिज्ञासस्य च व्यासक्तमनसो बाह्यविषयोपनिपातनात् ज्ञानमुत्पद्यते तदेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य प्राधान्यं न ह्यत्रासौ जिज्ञासमानः प्रयत्नेन मनः प्रेरयतीति प्राधान्याच्चेन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ग्रहणं कार्यं गुणत्वाद् नात्ममनसोः सन्निकर्षस्येति। प्राधान्ये च हेत्वन्तरम्।

भा०:—और एक बात यह भी है कि सोये हुए या दुचित्ते मन की अवस्था में इन्द्रिय और अर्थ का संयोग ही रहता है, परन्तु आत्मा और मन का संयोग नहीं। तात्पर्य यह है कि जब आत्मा समय नियत करके सोता है उस समय चिन्ता के कारण नियत समय पर जागता है। और जब प्रबल शब्द (ज़ोर से आवाज़ होने पर) और स्पर्श जगाने के कारण होते; तब सोते पुरुष को इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से जागना पड़ता; वहां आत्मा और मन के संयोग की मुख्यता नहीं होती किन्तु इन्द्रिय और अर्थ का संयोग ही मुख्य कारण होता क्योंकि उस समय आत्मा ज्ञान की इच्छा से मन को प्रेरणा (लगाना) नहीं करता। इसी प्रकार जिस समय इसका मन किसी दूसरे पदार्थ में लगा रहता है और संकल्प होने से दूसरे विषयों को जानने की इच्छा करता है, तब प्रयत्न से प्रेरणा कर मन को इन्द्रिय के साथ मिलाता है और उस विषय को जानता है। जब इसकी इच्छा अन्य विषय के जानने की

---

* देखो २५ सू० की टिप्पणी।

नहीं रहती और एक ही विषय में मन लगा रहता है तब बाहरी विषयों के प्रबल संयोग से ज्ञान उत्पन्न होता है। उस समय इन्द्रिय और अर्थ के संयोग की मुख्यता होतीहै। क्योंकि इस समय आत्मा, ज्ञान की इच्छा न होने से मन को प्रेरणा नहीं करता। प्रधान होने के कारण इन्द्रिय और अर्थ के संयोग को ग्रहण करना चाहिये, गौण होने से आत्मा और मन के संयोग नहीं ग्रहण करना चाहिये। इन्द्रिय और अर्थ का संयोग, प्रत्यक्ष ज्ञान का मुख्य कारण है परन्तु इस में दूसरा भी कारण है। इस पर सिद्धान्त करते हैं ॥ २६ ॥

तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम् ॥ २७ ॥

तैरिन्द्रियैरर्थैश्च व्यपदिश्यन्ते ज्ञानविशेषाः। कथं घ्राणेन जिघ्रति चक्षुषा पश्यति रसनया रसयतीति घ्राणविज्ञानं चक्षुर्विज्ञानं गन्धविज्ञानं रूपविज्ञानं रसविज्ञानमिति च। इन्द्रियविषयविशेषाच्च पञ्चधा बुद्धिर्भवति। अतः प्राधान्यमिन्द्रियार्थसन्निकर्षस्येति। यदुक्तमिन्द्रियार्थसन्निकर्षग्रहणं कार्यं नात्ममनसोः सन्निकर्षस्येति कस्मात्सुप्तव्यासक्तमनसामिन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य ज्ञाननिमित्तत्वादिति सोयम् ॥

भा०:—इन्द्रिय और अर्थों के द्वारा विशेष ज्ञानों का व्यवहार किया जाता है, जैसे नासिका से सूंघता है, नेत्र से देखता है, और जिह्वा से स्वाद लेता है, कान से सुनता है, त्वचा से स्पर्श (टटोलता) करता है। गन्धज्ञान, रूपज्ञान, रसज्ञान, स्पर्शज्ञान, शब्दज्ञान, ये ज्ञान इन्द्रियों के विषय विशेष से ५ प्रकार की बुद्धि होती है इसलिये इन्द्रिय और अर्थ के संयोग की मुख्यता है॥२७॥

व्याहतत्वादहेतुः ॥ २८ ॥

यदि तावत् क्वचिदात्ममनसोः सन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वं नेष्यते तदा युगपज् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति व्याहन्येत। तदानीं मनसः सन्निकर्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोऽपेक्षते मनःसंयोगानपेक्षायां च युगपज् ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्गः। अथ मा भूद् व्याघात इति सर्वविज्ञानानामात्ममनसोः सन्निकर्षः कारणमिष्यते तदवस्थमेवेदं भवति ज्ञानकारणत्वादात्ममनसोः सन्निकर्षस्य ग्रहणं कार्यमिति ॥

भा०:—सूत्र २४ में जो कहा गया है कि इन्द्रिय और अर्थ का संयोग मुख्य है और आत्मा और मन का संयोग प्रधान नहीं है, क्योंकि सोने की या किसी विषय में जब मन अत्यन्त आसक्त हो जाता है तब प्रबल इन्द्रिय

अर्थ के संयोग से ऐसा एक ज्ञान हो जाता है, वहां आत्मा जानने की इच्छा से मन को प्रेरणा नहीं करता, तो भी ज्ञान हो ही जाता है। इस का खण्डन होने से, हेतु नहीं हो सकता। यदि किसी स्थल में आत्मा और मन के संयोग को ज्ञान का कारण न मानोगे, तो एक साथ कई ज्ञानों के न होने से जो मन की सिद्धि कही गयी थी उसका खण्डन हो जावेगा; इस लिये " आत्मा और मन का संयोग सब ज्ञानों का कारण है" ऐसा मानना पड़ेगा, तो फिर आत्मा और मन के संयोग का ग्रहण प्रत्यक्ष के लक्षण में करना चाहिये ॥२८॥

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ २९ ॥

नास्ति व्याघातो न ह्यात्ममनःसन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वं व्यभिचरति। इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य प्राधान्यमुपादीयते अर्थविशेषप्राबल्याद्धि सुप्तव्यासक्तमनसां ज्ञानोत्पत्तिरेकदा भवति। अर्थविशेषः कश्चिदेवेन्द्रियार्थः तस्य प्राबल्यं तीव्रतापटुते न चार्थविशेषप्राबल्यमिन्द्रियार्थसन्निकर्षविषयं नात्ममनसोः सन्निकर्षविषयं तस्मादिन्द्रियार्थसन्निकर्षः प्रधानमिति। असति प्रणिधाने संकल्पे चासति सुप्तव्यासक्तमनसां यदिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पद्यते ज्ञानं तत्र मनःसंयोगोऽपि कारणमिति मनसि क्रियाकारणं वाच्यमिति। यथैव ज्ञातुः खल्वयमिच्छाजनितः प्रयत्नो मनसः प्रेरक आत्मगुण एवमात्मनि गुणान्तरं सर्वस्य साधकं प्रवृत्तिदोषजनितमस्ति येन प्रेरितं मन इन्द्रियेण सम्बध्यते। तेन ह्यप्रेर्यमाणे मनसि संयोगाभावाज् ज्ञानानुत्पत्तौ सर्वार्थताऽस्य निवर्त्तते। एषितव्यं चास्य गुणान्तरस्य द्रव्यगुणकर्मकारकत्वम्। अन्यथा हि चतुर्विधानामणूनां भूतसूक्ष्माणां मनसां च ततोऽन्यस्य क्रियाहेतोरसंभवात् शरीरेन्द्रियविषयाणामनुत्पत्तिप्रसङ्गः॥

भा०:—इस हेतु का खण्डन नहीं होता, क्योंकि आत्मा और मन के संयोग की कारणता का व्यभिचार नहीं है। केवल इन्द्रिय और अर्थ के संयोग की मुख्यता लियी गयी है। किसी विशेष अर्थ की प्रबलता से सोये हुए और मन के विषयान्तर में अति आसक्त समय में, एक समय में ज्ञान की उत्पत्ति हो जाती है ॥ २९ ॥

प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः ॥ ३० ॥

यदिदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पद्यते ज्ञानं वृक्ष इत्येतत् किल प्रत्यक्षं तत् खल्वनुमानमेव कस्मादेकदेशग्रहणात्। वृक्षस्योपलब्धेरर्वाग्भागमयं गृहीत्वा वृक्षमुपलभते न चैकदेशो वृक्षः। तत्र यथा धूमं गृहीत्वा वह्निमनुमिनोति तादृगेव तद्भवति। किं पुनर्गृह्यमाणादेकदेशाद् अर्थान्तरमनुमेयं मन्यसे अवयव-

समूहपक्षे अवयवान्तराणि द्रव्योत्पत्तिपक्षे तानि चावयवी चेति। अवयवसमूहपक्षे तावदेकदेशग्रहणाद् वृक्षबुद्धेरभावः नागृह्यमाणमेकदेशान्तरं वृक्षो गृह्यमाणैकदेशवदिति । अथैकदेशग्रहणादेकदेशान्तरानुमाने समुदायप्रतिसन्धानात् तत्र वृक्षबुद्धिः ? न तर्हि वृक्षबुद्धिरनुमानमेवं सति भवितुमर्हतीति। द्रव्यान्तरोत्पत्तिपक्षे नावयव्यनुमेयोऽस्यैकदेशसंबन्धस्याग्रहणाद् ग्रहणे चाविशेषाद्नुमेयत्वाभावः। तस्माद्वृक्षबुद्धिरनुमानं न भवति। एकदेशग्रहणमाश्रित्य प्रत्यक्षस्यानुमानत्वमुपपाद्यते तत्र।

भा०:-प्रत्यक्ष का लक्षण जो (सू० ४ अ० १ आ० १ में) कहा गया कि इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से वृक्ष है,इस प्रकार का जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, यह अनुमान ही है क्योंकि एक अवयव के ज्ञान से वृक्ष का बोध होता है, जैसे धूम के देखने से अग्नि का अनुमान होता है; उसी प्रकार वृक्ष के आगे के भाग को देखकर दूसरे भाग का अनुमान होता है, क्योंकि अवयव समुदाय रूप वृक्ष है इस लिये सामने के भाग देखने से शेष भागों का जो ज्ञान होता है वह अनुमान ही है। एक देश के ग्रहण को आश्रय करके प्रत्यक्ष का अनुमान होना सम्भव होता है, इस प्रकार माना जावे तथापि अन्यान्य हेतुओं से जो अगले सूत्रों में वर्णन किया है अनुमान नहीं हो सकता ॥ ३० ॥

न प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात् ॥ ३१ ॥

न प्रत्यक्षमनुमानम्। कस्मात् प्रत्यक्षेणैवोपलम्भात्। यत् तदेकदेशग्रहणमाश्रीयते प्रत्यक्षेणासावुपलम्भः न चोपलम्भो निर्विषयोस्ति यावच्चार्थजातं तस्य विषयस्तावदभ्यनुज्ञायमानं प्रत्यक्षव्यवस्थापकं भवति। किं पुनस्ततोऽन्यदर्थजातमवयवी समुदायो वा । न चैकदेशग्रहणमनुमानं भावयितुं शक्यं हेत्वभावादिति।

*अन्यथापि च प्रत्यक्षस्य नानुमानत्वप्रसङ्गस्तत्पूर्वकत्वात्।

प्रत्यक्षपूर्वकमनुमानं संबद्धावग्निधूमौ प्रत्यक्षतो दृष्टवतो धूमप्रत्यक्षदर्शनादग्नावनुमानं भवति यत्र च संबद्धयोर्लिङ्गलिङ्गिनोः प्रत्यक्षं यच्च लिङ्गमात्रप्रत्यक्षग्रहणं नैतदन्तरेणानुमानस्य प्रवृत्तिरस्ति। न त्वेतदनुमानमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजत्वात्। न चानुमेयस्येन्द्रियेण सन्निकर्षादनुमानं भवति। सोयं प्रत्यक्षानुमानयोर्लक्षणभेदो महानाश्रयितव्य इति ॥

भा०:—प्रत्यक्ष अनुमान नहीं है, क्योंकि जितने देश का ज्ञान होता है वह प्रत्यक्ष ही से हुआ है। ज्ञान निर्विषय नहीं होता जितना अर्थ ज्ञान का

विषय है वह सब प्रत्यक्ष का विषय है। अन्य प्रकार से भी प्रत्यक्ष अनुमान नहीं हो सकता। अनुमान प्रत्यक्ष पूर्वक होता है। परस्पर सम्बन्ध सहित अग्नि और धूम के देखने वाले को धूम के प्रत्यक्ष से अग्नि का अनुमान होता है। यह जो वृक्ष का ज्ञान हुआ है वह इन्द्रिय और अर्थ के संयोग से उत्पन्न होने के कारण प्रत्यक्ष ही है अनुमान नहीं ॥ ३१ ॥

न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात् ॥ ३२ ॥

न चैकदेशोपलब्धिमात्रं किं तर्ह्येकदेशोपलब्धिः तत्सहचरितावयव्युपलब्धिश्च कस्मादवयविसद्भावात्। अस्ति ह्ययमेकदेशव्यतिरिक्तोऽवयवी तस्यावयवस्थानस्योपलब्धिकारणप्राप्तस्यैकदेशोपलब्धावनुपलब्धिरनुपपन्नेति ॥

*अकृत्स्नग्रहणादिति चेद् न कारणतोऽन्यस्यैकदेशस्याभावात्।

न चावयवाः कृत्स्ना गृह्यन्ते अवयवैरेवावयवान्तरव्यवधानाद् नावयवी कृत्स्नो गृह्यतइति। नायं गृह्यमाणेष्ववयवेषु परिसमाप्त इति सेयमेकदेशोपलब्धिरनिवृत्तैवेति । कृत्स्नमिति वै खल्वशेषतायां सत्यां भवति। अकृत्स्नमिति शेषे सति तच्चैतदवयवेषु बहुष्वस्ति अव्यवधाने ग्रहणाद् व्यवधाने चाग्रहणादिति। अङ्ग तु भवान् पृष्टो व्याचष्टां गृह्यमाणस्यावयविनः किमगृहीतं मन्यसे येनैकदेशोपलब्धिः स्यादिति। न ह्यस्य कारणेभ्योऽन्ये एकदेशा भवन्तीति तत्रावयववृत्तं नोपपद्यतइति। इदं तस्य वृत्तं येषामिन्द्रियसन्निकर्षाद् ग्रहणमवयवानां तैः सह गृह्यते येषामवयवानां व्यवधानादग्रहणं तैः सह न गृह्यते। न चैतत्कृतोऽस्ति भेद इति। समुदायोऽप्यशेषता वा समुदायो वृक्षः स्यात् तत्प्राप्तिर्वा उभयथा ग्रहणाभावः मूलस्कन्धशाखापलाशादीनामशेषता वा समुदायो वृक्ष इति स्यात् प्राप्तिर्वा समुदायिनामिति उभयथा समुदायभूतस्य वृक्षस्य ग्रहणं नोपपद्यतइति। अवयवैस्तावदवयवान्तरस्य व्यवधानादशेषग्रहणं नोपपद्यते प्राप्तिग्रहणमपि नोपपद्यते प्राप्तिमतामग्रहणात्। सेयमेकदेशग्रहणसहचरिता वृक्षबुद्धिर्द्रव्यान्तरोत्पत्तौ कल्पते न समुदायमात्रे इति ॥

भा०:—केवल एक ही देश की उपलब्धि से प्रत्यक्ष का सिद्ध होना वर्णन करके अब इस सूत्र में देशान्तर का भी प्रत्यक्ष होना वर्णन करने के अभिप्राय से यह कहा है कि एक देशमात्र की उपलब्धि नहीं होती; एक देश की उपलब्धि के साथ ही उसके साथ रहने वाले अवयवी की विद्यमानता से अवयवी की भी उपलब्धि होती है। यह अवयवी जो एक देश से व्यतिरिक्त

अवयवों का स्थान है और अवयव रूप एक देश की उपलब्धि जिस की उपलब्धि का कारण प्राप्त है। एक देश की उपलब्धि होने से उसकी उपलब्धि का न होना सम्भव और ठीक नहीं है। जो सम्पूर्ण ग्रहण न होने से अवयवी की उपलब्धि में संशय होना कहा जावे, तो एक देश अवयव रूप कारण होने से, कारण से भिन्न पदार्थ न होने से यह सन्देह ठीक नहीं है। कारण के ज्ञान के साथ ही अभिन्न कार्य्य का ज्ञान होता है और इसी प्रकार शंका किया जावे तो अवयवों से अवयवान्तरों में व्यवधान होने से अवयवी भी सम्पूर्ण ग्रहण के योग्य नहीं हो सकते? तात्पर्य्य यह है कि केवल एक देश ही का ज्ञान नहीं होता किन्तु उसके सहचारी अवयवी का भी बोध होता है क्योंकि अवयवी भी विद्यमान है, अवयवों से भिन्न अवयवी माना गया है। उसी का प्रत्यक्ष होता है ॥ ३२ ॥

साध्यत्वादवयविनि सन्देहः ॥ ३३

यदुक्तमवयविसद्भावात्प्राप्तिमलामयमहेतुः साध्यत्वात्साध्यं तावदेतत्कारणेभ्यो द्रव्यान्तरमुत्पद्यतइति। अनुपपादितमेतत्। एवं च सति विप्रतिपत्तिमात्रं भवति विप्रतिपत्तेश्चावयविनि संशय इति ॥

भा०:—जो कहा था कि अवयवी भी विद्यमान है उस का प्रत्यक्ष होता है, सो ठीक नहीं, क्योंकि साध्य होने से अवयवी में सन्देह है। अर्थात् जब तक अवयवों से भिन्न अवयवी सिद्ध न होजावे तब तक यह कहना कि अवयवी का प्रत्यक्ष होता है, सर्वथा असम्भव है। अब सिद्धान्त करते हैं ॥ ३३ ॥

सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः ॥ ३४ ॥

यद्यवयवी नास्ति सर्वस्य ग्रहणं नोपपद्यते। किं तत्सर्वं द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाः। कथं कृत्वा परमाणुसमवस्थानं तावद्दर्शनविषयो न भवत्यतीन्द्रियत्वादणूनां द्रव्यान्तरावयविभूतं दर्शनविषयो नास्ति दर्शनविषयस्थाश्चेमे द्रव्यादयो गृह्यन्ते तेन निरधिष्ठाना न गृह्येरन्। गृह्यन्ते तु कुम्भोयं श्याम एको महान् संयुक्तः स्पन्दते अस्ति मृन्मयश्चेति सन्ति चेमे गुणादयो धर्मा इति। तेन सर्वस्य ग्रहणात्पश्यामोऽस्ति द्रव्यान्तरभूतोऽवयवीति।

भा०:—यदि अवयवी न माना जावे तो द्रव्य, गुण, क्रिया, जाति, आदि सब पदार्थों का ज्ञान कैसे होगा। यदि कहा जाय कि परमाणुओं का ज्ञान होता है, तो यह ठीक नहीं, क्योंकि परमाणु अतीन्द्रिय विषय हैं (बहुत छोटे होने से इन्द्रियों से नहीं जाने जा सकते) और भिन्न अवयवी मानते ही नहीं

और द्रव्यादिकों का ज्ञान होता है फिर ज्ञान विना आधार के होता ही नहीं 'यह घड़ा, काला, वह बड़ा, 'यह एक है, ' 'हिलता है ' और ' मिट्टी का है ' ऐसा ज्ञान होता इसलिये पृथक् अवयवी अवश्य मानना चाहिये । इसके अन्य हेतुओं को कहते हैं ॥ ३४ ॥

धारणाकर्षणोपपत्तेश्च ॥ ३५ ॥

अवयव्यर्थान्तरभूत इति । संग्रहकारिते वै धारणाकर्षणे संग्रहो नाम संयोगसहचरितं गुणान्तरं स्नेहद्रवत्वकारितमपां संयोगादामे कुम्भे अग्निसंयोगात्पक्वे । यदि त्ववयविकारिते अभविष्यतां पांशुराशिप्रभृतिष्वप्यज्ञास्येताम् । द्रव्यान्तरानुत्पत्तौ च तृणोपलकाष्ठादिषु जतुसंगृहीतेष्वपि नाभविष्यतामिति । अथावयविनं प्रत्याचक्षाणको मा भूत् प्रत्यक्षलोप इत्यणुसञ्चयं दर्शनविषयं प्रतिजानानः किमनुयोक्तव्य इति । एकमिदं द्रव्यमित्येकबुद्धिर्विषयं पर्यनुयोज्य. किमेकबुद्धिरभिन्नार्थविषया आहो भिन्नार्थविषयेति । अभिन्नार्थविषयेति चेद् अर्थान्तरानुज्ञानादवयविसिद्धिः । नानार्थविषयेति चेद् भिन्नेष्वेकदर्शनानुपपत्तिः अनेकस्मिन्नेक इति व्याहता बुद्धिर्न दृश्यत इति ॥

भा०:—धारण (पकड़ना) और आकर्षण (खींचना) की उपपत्ति से भी अवयवी की सिद्धि होती है अर्थात् एक अवयव के धारण करने से सब का धारण होजाता । और एक देश के खींचने से सब आकर्षित हो जाता है । जो अवयवी को भिन्न नहीं मानता उससे पूछना चाहिये कि „यह वस्तु एक है" यह ज्ञान अभिन्न अर्थ को ग्रहण करता अथवा अनेक अर्थ को" यदि कहो कि अभिन्न अर्थ को तो दूसरे पदार्थ के मानने से अवयवी सिद्ध हुआ यदि कहो कि अनेक अर्थों का ग्रहण करता तो यह कहना खण्डित है क्योंकि अनेक में एक बुद्धि कैसे हो सकती है इस लिये अवयवी अवश्य मानना चाहिये ॥ ३५ ॥

सेनावनवद् ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम् ॥ ३६ ॥

यथा सेनाङ्गेषु वनाङ्गेषु च दूरादगृह्यमाणपृथक्त्वेष्वेकमिदमित्युपपद्यते बुद्धिः । एवमणुषु सञ्चितेष्वगृह्यमाणपृथक्त्वेष्वेकमिदमित्युपपद्यते बुद्धिरिति यथा गृह्यमाणपृथक्त्वानां सेनावनाङ्गानामारात्कारणान्तरतः पृथक्त्वस्याग्रहणं यथा गृह्यमाणजातीनां पलाश इति वा खदिर इति वा नारात्जातिग्रहणं भवति । यथा गृह्यमाणप्रस्पन्दानां नारात् स्पन्दग्रहणं गृह्यमाणे चार्थजाते पृथक्त्वस्याग्रहणादेकमिति भाक्तः प्रत्ययो भवति न त्वणूनां गृह्यमाणपृथक्त्वानां कारणात

पृथक्त्वस्याग्रहणाद्ग्राह्य एकप्रत्ययो ऽतीन्द्रियत्वादणूनामिति। इदमेव च परीक्ष्यते किमेकप्रत्ययोऽणुसञ्चयविषय आहो स्विन्नेति। अणुसञ्चय एव सेनावनाङ्गानि न च परीक्ष्यमाणमुदाहरणमिति युक्तं साध्यत्वादिति॥

*दृष्टमिति चेन्न तद्विषयस्य परीक्ष्योपपत्तेः॥

यदपि मन्येत दृष्टमिदं सेनावनाङ्गानां पृथक्त्वस्याग्रहणादभेदेनैकमिति ग्रहणं न च दृष्टं शक्यं प्रत्याख्यातुमिति तच्च नैवं तद्विषयस्य परीक्षोपपत्तेः। दर्शनविषय एवायं परीक्ष्यते योऽयमेकमिति प्रत्ययो दृश्यते स परीक्ष्यते किं द्रव्यान्तरविषयो वा अथाणुसञ्चयविषय इत्यत्र दर्शनमन्यतरस्य साधकं न भवति नानाभावे चाणूनां पृथक्त्वस्याग्रहणादभेदेनैकमिति ग्रहणम्। अतस्मिंस्तदिति प्रत्ययो यथा स्थाणौ पुरुष इति। ततः किमतस्मिंस्तदिति प्रत्ययस्य प्रधानापेक्षित्वात् प्रधानसिद्धिः। स्थाणौ पुरुष इति प्रत्ययस्य किं प्रधानं यो ऽसौ पुरुषे पुरुषप्रत्ययस्तस्मिन्सति पुरुषसामान्यग्रहणात् स्थाणौ पुरुषोयमिति। एवं नानाभूतेष्वेकमिति प्रामाण्यग्रहणात् प्रधाने सति भवितुमर्हति प्रधानं च सर्वस्याग्रहणादिति नोपपद्यते तस्मादभिन्न एवायमभेदप्रत्यय एकमिति।

*इन्द्रियान्तरविषयेष्वभेदप्रत्ययः प्रधानमिति चेद् न विशेषहेत्वभावात्।

दृष्टान्तव्यवस्था श्रोत्रादिविषयेषु शब्दादिष्वभिन्नेष्वेकप्रत्ययः प्रधानमनेकस्मिन्नेकप्रत्ययस्येति। एवं च सति दृष्टान्तोपादानं न व्यवतिष्ठते विशेषहेत्वभावात्। अणुषु सञ्चितेष्वेकप्रत्ययः किमतस्मिंस्तदिति प्रत्ययः स्थाणौ पुरुषप्रत्ययवद् अथार्थस्य तथाभावात्तस्मिंस्तदिति प्रत्ययो यथा शब्दस्यैकत्वादेकः शब्द इति। विशेषहेतुपरिग्रहमन्तरेण दृष्टान्तौ संशयमापादयत इति। कुम्भवत्सञ्चयमात्रं गन्धादयोपीत्यनुदाहरणं गन्धादय इति। एवं परिमाणसंयोगस्पन्दजातिविशेषप्रत्ययानप्यनुयोक्तव्यस्तेषु चैवं प्रसङ्ग इति।

एकत्वबुद्धिस्तस्मिंस्तदिति प्रत्यय इति विशेषहेतुर्महदिति प्रत्ययेन सामानाधिकरण्यात्।

एकमिदं महच्चेति एकविषयौ प्रत्ययौ समानाधिकरणौ भवतः तेन विज्ञायते यन्महत्तदेकमिति। अणुसमूहातिशयग्रहणं महत्प्रत्यय इति चेत्सोयममहत्स्वणुषु महत्प्रत्ययोऽतस्मिंस्तदिति प्रत्ययो भवतीति। किं चातः। अतस्मिंस्-

दिति प्रत्ययस्य प्रधानापेक्षितत्वात् प्रधानसिद्धिरिति भवितव्यं महत्येव महत्प्रत्ययेनेति ।

***अणुः शब्दो महानिति च व्यवसायात् प्रधानसिद्धिरिति-चेद् न मन्दतीव्रताग्रहणमियत्तानवधारणाद् यथाद्रव्ये ।**

अणुः शब्दोऽल्पो मन्द इत्येतस्य ग्रहणं महान् शब्दः।पटुस्तीव्र इत्येतस्य ग्रहणं कस्मादियत्तानवधारणात् । न ह्ययं महान् शब्द इति व्यवस्यन्नियानय मित्यवधारयति । यथा बदरामलकबिल्वादीनि।संयुक्ते इमे इति च द्वित्वसमानाश्रयप्राप्तिग्रहणम् ।

***द्वौ समुदायावाश्रयः संयोगस्येति चेत् ।**

कोऽयं समुदायः प्राप्तिरनेकस्यानेका वा प्राप्तिरेकस्य समुदाय इति ।

***चेत् प्राप्तेरग्रहणम् ।**

प्राप्त्याश्रितायाः संयुक्ते इमे वस्तुनी इति नात्र द्वे प्राप्ती संयुक्ते गृह्येते ।

***अनेकसमूहः समुदाय इति चेद् न द्वित्वेन समानाधिकरणस्य ग्रहणात् ।**

द्वाविमौ संयुक्तावर्थाविति ग्रहणे सति नानेकसमूहाश्रयः संयोगो गृह्यते न च द्वयोरण्वोर्ग्रहणमस्ति तस्मान्महती द्वित्वाश्रयभूते द्रव्ये संयोगस्य स्थानमिति ।

प्रत्यासत्तिः प्रतीघातावसाना संयोगो नार्थान्तरमिति चेद् नार्थान्तरहेतुत्वात्संयोगस्य ।

शब्दरूपादिस्पन्दानां हेतुः संयोगो न च द्रव्ययोर्गुणान्तरोपजननमन्तरेण शब्दे रूपादिषु स्पन्दे च कारणत्वं गृह्यते तस्माद्गुणान्तरं प्रत्ययविषयश्चार्थान्तरं तत्प्रतिषेधो वा कुण्डली गुरुरकुण्डलश्छात्र इति । संयोगबुद्धेश्च यद्यर्थान्तरं न विषयः अर्थान्तरप्रतिषेधस्तर्हि विषयः ।

***तत्र प्रतिषिध्यमानवचनम् ।**

संयुक्ते द्रव्ये इति यदर्थान्तरमन्यत्र दृष्टमिह प्रतिषिध्यते तद्वक्तव्यमिति । द्वयोर्महतोराश्रितस्य ग्रहणान्नाण्वाश्रय इति जातिविशेषस्य प्रत्ययानुवृत्तिलिङ्गस्याप्रत्याख्यानं प्रत्याख्याने वा प्रत्ययव्यवस्थानुपपत्तिः ।

***व्यधिकरणस्यानभिव्यक्तेरधिकरणवचनम् ।**

अणुसमवस्थानं विषय इति चेत् ।

*प्राप्ताप्राप्तसामर्थ्यवचनम् ।

किम्प्राप्ते अणुसमवस्थाने तदाश्रयो जातिविशेषो गृह्यते अथ प्राप्ते इति। अप्राप्ते ग्रहणमिति चेद् व्यवहितस्याणुसमवस्थानस्याप्युपलब्धिप्रसङ्गः व्यवहिते ऽणुसमवस्थाने तदाश्रयो जातिविशेषो गृह्येत । प्राप्ते ग्रहणमिति चेद् मध्यपरभागयोरप्राप्तत्वादनभिव्यक्तिः । यावत्प्राप्तं भवति तावत्यभिव्यक्तिरिति चेत् तावतो ऽधिकरणत्वमणुसमवस्थानस्य । यावति प्राप्ते जातिविशेषो गृह्यते तावदस्याधिकरणमिति प्राप्तं भवति ।

तत्रैकसमुदाये ऽर्थीयमाने ऽर्थभेदः ।

एवं च सति यो ऽयमणुसमुदायो वृक्ष इति प्रतीयते तत्र वृक्षबहुत्वं प्रतीयेत यत्र यत्र ह्यणुसमुदायस्य भागे वृक्षत्वं गृह्यते स स वृक्ष इति । तस्मात्समुदिताऽणुसमवस्थानस्यार्थान्तरस्य जातिविशेषाभिव्यक्तिविषयत्वादवयव्यर्थान्तरभूत इति । परीक्षितं प्रत्यक्षम् ॥ अनुमानमिदानीं परीक्ष्यते ।

भा०:-जैसे दूर से देखने पर सेना और वन के अवयवों की पृथक्ता प्रतीत न होने से ये (सेना और बन) एक हैं ऐसा ज्ञान होता है। इसी प्रकार सञ्चित परमाणुओं में भिन्नता के प्रतीत न होने से एक होने का ज्ञान होता है। तो ऐसा मानना ठीक नहीं। क्योंकि जैसे सेना और बन के अङ्गों के दूर होने के कारण पृथक्ता ग्रहण नहीं होती। अर्थात् दूरस्थ होने से वृक्षों में जिन की जाति विशेष का ज्ञान नहीं होता है कि यह पलाश है या खैर किन्तु वृक्ष मात्र होने का ज्ञान होता है और कुछ हिलते हुये के हिलने से या मन्दगति का ज्ञान नहीं होता जैसे दूरस्थ होने से गृह्यमाण हिलने वाले पदार्थों का हिलना प्रतीत नहीं होता यदि होता भी है तो उन की पृथक्ता का ज्ञान ही होता है। प्रत्युत एक प्रकार का गौण ज्ञान होता है। इसी प्रकार पृथक् गृह्यमाण परमाणुओं की पृथक्ता का ज्ञान अणुओं की अतीन्द्रियता से नहीं होता अतएव एक होने से (अलग २ अणु नहीं हैं) एक प्रकार गौण ज्ञान होता है परमाणु सञ्चय मात्र ही एक ज्ञान होने का विषय है या नहीं ? जो यह कहो कि सेना और बन के अङ्ग भी अणु सञ्चय मात्र हैं, उन का ज्ञान होता तो साध्य होने से जो परीक्षा के योग्य है । सो ठीक नहीं, इस पर अगर यह कहो कि सेना और बन के अङ्गों की भिन्नता ग्रहण न होने से भेद रहित एक होने का ज्ञान होना देख पड़ता और दृष्ट पदार्थ की परीक्षा

का होना सम्भव नहीं, तो यद्यपि यह सत्य है कि सेना और वन के अङ्गों की पृथकता का ज्ञान न होने से एक होने का ज्ञान होता है यह प्रत्यक्ष है और प्रत्यक्ष होने से इस का खण्डन नहीं हो सकता परन्तु उस दर्शन विषय का, परीक्षा योग्य होने से यह कहना ठीक नहीं। जो दृष्ट है उस की परीक्षा नहीं किये जाती प्रत्युत परीक्षा इस बात की किये जाती है कि देखने में जो एक ज्ञान होता है—इस का विषय अन्य पदार्थ है या अणुओं का सञ्चय मात्र है (अलग २ अणुओं की पृथक्ता का ज्ञान न होने से भेद रहित एक होने की प्रतीति होती है) परीक्षा करने से अणु सञ्चयमात्र होना सिद्ध नहीं होता क्योंकि पृथक् २ अणुओं की पृथक्ता ग्रहण न होने से—एक स्थूल का ज्ञान होता है स्थाणु में (थुम्भा) में पुरुष (विपरीत ज्ञान) अतस्मिंस्तत्प्रत्यय है। यह ज्ञान प्रधान की अपेक्षा से होता है। स्थाणु में यह ज्ञान होता कि 'यह पुरुष है' प्रधानरूप पुरुष के प्रत्यय सामान्य के ज्ञान से होता है। इसी प्रकार अनेकों में एक होने का ज्ञान होना प्रधान होने में हो सकता है। अवयवी का न होना जैसा पूर्व ही कहा गया है—द्रव्य आदि सब है ज्ञान होने से प्रधान का होना सम्भव नहीं होता इस से एक है—यह भिन्नता रहित ही अभेद ज्ञान होता है।

जो यह कहो कि इन्द्रियान्तर के विषयों में अभेद ज्ञान का होना प्रधान है तो विशेष हेतु के अभाव से इस दृष्टान्त की स्थापना नहीं हो सकती। क्योंकि यह विचार करना चाहिये कि सञ्चित अणुओं में एक होने का ज्ञान स्थाणु में पुरुष ज्ञान के समान विपरीत ज्ञान है। या शब्द एक होने से जैसे शब्द एक है यह ज्ञान होता, इस प्रकार यथार्थ ज्ञान होता है। विना विशेष हेतु के अपरिग्रह से दोनों दृष्टान्त सन्देह पैदा कराते हैं। कुम्भ की नाईं, गन्ध आदि सञ्चय मात्र हैं यह कहना उदाहरण नहीं है। इसी प्रकार परिमाण संयोग मन, गमन, आदि जाति विशेष ज्ञानों में भी कहना चाहिये। एक होने की बुद्धि यथार्थ ज्ञान है। विशेष हेतु एक और महत् ज्ञान एक ही होता है। अर्थात् एक ज्ञान और महत् ज्ञान एक ही पदार्थ में होने से एकत्व और महत्व के सम्बन्ध के कारण यह एक हैं, और यह स्थूल हैं; ऐसा ज्ञान होता है। दो ज्ञान का आश्रय या अधिकरण एक होने से एक दूसरे के ज्ञान का हेतु होता है। जो यह कहो कि अणु समुदाय का जो अतिशय ग्रहण है यही स्थूल ज्ञान है। सो बड़े अणुओं में महत् ज्ञान का होना उलटा ज्ञान है। इस्से क्या ? प्रधान अपेक्षित होता

है। इससे भी प्रधान की सिद्धि हो तो स्थूल ही में स्थूल ज्ञान होना चाहिये। जो यह कहो कि शब्द का अणु और महान् होने का निश्चय होने से प्रधान की सिद्धि होती है। तो शब्द में इयत्ता (इतना) का निश्चय न होने से उस की तीव्रता, मन्दता, का ज्ञान नहीं हो सकता। जो जैसा द्रव्य होता उसके अनुसार ही शब्द अणु है, अल्प है 'मन्द है, महान् है, पटु है, तीव्र है, ऐसा ज्ञान होता है। इयत्ता के निश्चय विना यह बड़ा शब्द है ऐसा निश्चय करते हुए यह इतना है ऐसी धारणा नहीं कर सकते। जैसा कि बेर, आम्लला बेल आदि दो मिले हुए हैं पदार्थों में ऐसा निश्चय होता है कि मिले हैं। यदि ऐसा कहो कि दो समुदायों का आश्रय संयोग है तो वह समुदाय क्या है? अनेक की अनेक प्राप्ति या एक की अनेक प्राप्ति रूप समुदाय है। यदि कहो कि प्राप्ति का ग्रहण नहीं होता, तो यह ठीक नहीं क्योंकि प्राप्ति के आश्रित मिले हुये ये दो वस्तु हैं इसमें दो मिली हुयी प्राप्ति का ग्रहण होता है। अनेक कहे समूह को समुदाय कहते हैं यदि ऐसा मानें तो। दो होने के साथ समानाधिकरण (एकत्र रहना) का ज्ञान नहीं हो सकता। ये दो पदार्थ संयुक्त हैं ऐसा ज्ञान होने पर अनेक समूहाश्रय संयोग का ज्ञान नहीं होता और न दो अणुओं ही का ग्रहण होता इसलिये दो स्थूल द्वित्व के आश्रयभूत पदार्थ में संयोग का स्थान होता है।

यदि ऐसा कहो कि संयोग कोई भिन्न पदार्थ नहीं है, तो संयोग के पदार्थान्तर हेतु होने से ऐसा कहना ठीक नहीं। शब्द रूप आदि का हेतु संयोग है, विना भिन्न गुण हुए शब्द में, रूप आदि में, और हिलने में कारण का ग्रहण होता है इससे संयोग भिन्न गुण और ज्ञान का विषय भिन्न पदार्थ है। या उसका प्रतिषेध मानें कि गुरु कुण्डली है (और शिष्य विना कुण्डली) इस संयोग बुद्धि का कोई पदार्थान्तर विषय नहीं है--तो अर्थान्तर का खण्डन होता है इस में किये जाने वाले २ वचन--जैसा संयुक्त पदार्थ में जो अन्यत्र दृष्ट पदार्थान्तर का यहां खण्डन किया जाता है तो उसे कहना चाहिये। दो महत् पदार्थों में संयोग का ग्रहण होने से अणुओं में आश्रित नहीं हैं--ऐसा कहना योग्य है ज्ञान की अनुवृत्ति रूप जो जाति विशेष है। उस का खण्डन नहीं हो सकता और जो खण्डन किया जाय तो ज्ञान की व्यवस्था नहीं हो सकती। इस से व्यधिकरण--ज्ञात न होने से अधिकरण का कथन है। यदि अणुओं का मिलकर एकसा रहना विषय है। तो क्या प्राप्त अणुओं के समवस्थान में उस की आश्रय जाति विशेष का ग्रहण होता या अप्राप्त में? यदि

अप्राप्त में कहो तो व्यवहित अणु के समवस्थान की उपलब्धि का प्रसङ्ग होता है, व्यवहित अणु समवस्थान में उस के आश्रय जाति विशेष का ग्रहण होता है। यदि प्राप्ति में ग्रहण होता है। तो मध्य और पर भाग की अप्राप्ति में अभिव्यक्ति नहीं होती। यदि ऐसा कहो कि जितना प्राप्त होता उतनी ही अभिव्यक्ति होती है, तो उतना ही अधिकरण समवस्थान का होना चाहिये। जितनी प्राप्ति में जाति विशेष का ग्रहण होता है। उतना ही इस का अधिकरण होता है।

उसमें एक समुदाय के प्रतीयमान होने पर पदार्थ का भेद होता है। और ऐसा होने से जो यह अणु समुदाय वृक्ष सा प्रतीत होता है, उस में बहुत वृक्षों का होना मालूम होवे। क्योंकि जहां २ अणु समुदाय के भाग में वृक्षत्व का ग्रहण होता वह २ वृक्ष है। अतएव समुदित अणु समवस्थान जो अर्थान्तर और जाति विशेष है उसकी अभिव्यक्ति का विषय होने से भिन्न पदार्थ रूप अवयवी का होना सिद्ध होता है ॥ ३६ ॥

*रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रमाणम् ॥३७॥

अप्रमाणमित्येकदाप्यर्थस्य न प्रतिपादकमिति। रोधादपि नदी पूर्णा गृह्यते तदा चोपरिष्टाद्वृष्टो देव इति मिथ्यानुमानम्। नीडोपघातादपि पिपीलिकाण्डसञ्चारो भवति तदा च भविष्यति वृष्टिरिति मिथ्यानुमानमिति। पुरुषोपि मयूरवाशितमनुकरोति तदापि शब्दसादृश्यान्मिथ्यानुमानं भवति ॥

भा०:-रोध, उपघात, और सादृश्य (तुल्यता) से व्यभिचार आता है, इस लिये अनुमान प्रमाण नहीं है; जैसे नदी के चढ़ाव से ऊपर वर्षा होने का जो अनुमान किया था वह ठीक नहीं क्यों कि नदी का चढ़ाव रोकने से भी हो सकता है। उदाहरण जैसे आगे किसी ने बांध बान्ध दिया तो नदी अवश्य फैलेगी, इस लिये ऊपर वर्षा का अनुमान मिथ्या हो गया। बिल के फटने से भी चीटियां अण्डा लेकर चलती हैं। तब इस से होने वाली वर्षा का अनुमान यथार्थ न हुआ। इसी प्रकार मनुष्य भी मोर की नाईं शब्द कर सकता है तो शब्द की तुल्यता से अनुमान मिथ्या हुआ, जैसे किसी

---

*एतदुदाहरणव्यभिचारद्वारकं सूत्रम्। तत्र रोधो नामापां स्पन्दमानानां द्रवत्वप्रतिबन्धहेतुः। उपघातः पिपीलिकागृहाणामुपमर्दः। सादृश्यं मयूरपुरुषशब्दयोः समानप्रत्ययकर्तृत्वम्। न्या० वा०

ने मोर के शब्द को सुन कर मोर का अनुमान किया पर शब्द तो मनुष्य ने किया था अतएव अनुमान ठीक न हुआ। उक्त कारणों से अनुमान का प्रमाण होना नहीं हो सकता ॥ ३७ ॥

नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात् ॥३८॥

नायमनुमानव्यभिचारः अननुमाने तु खल्वयमनुमानाभिमानः। कथं नाविशिष्टो लिङ्गं भवितुमर्हति। पूर्वोदकविशिष्टं खलु वर्षोदकं शीघ्रतरत्वं स्रोतसो बहुतरफेनफलपर्णकाष्ठादिवहनं चोपलभमानः पूर्णत्वेन नद्या उपरि वृष्टो देव इत्यनुमिनोति नोदकवृद्धिमात्रेण। पिपीलिकाप्रायस्याण्डसञ्चारे भविष्यति वृष्टिरित्यनुमीयते न कासांचिदिति। नेदं मयूरवाशितं तत्सदृशोऽयं शब्द इति विशेषापरिज्ञानान्मिथ्यानुमानमिति। यस्तु विशिष्टाच्छब्दाद्विशिष्टमयूरवाशितं गृह्णाति तस्य विशिष्टोऽर्थो गृह्यमाणो लिङ्गं यथा सर्पादीनामिति। सोऽयमनुमातुरपराधो नानुमानस्य योऽर्थविशेषेणानुमेयमर्थमविशिष्टार्थदर्शनेन बुभुत्सत इति। त्रिकालविषयमनुमानं त्रैकाल्यग्रहणादित्युक्तमत्र च ॥

भा०:—उक्त अनुमान का व्यभिचार नहीं है। एक देश, त्रास और तुल्यता से भिन्न पदार्थ के होने से: क्योंकि विशेषण के साथ हेतु होता है। विना विशेषण के हेतु नहीं हो सकता। पूर्व जल सहित वर्षा का जल सोते का बड़े वेग से बहना बहुत सा फेन, फल, पत्ता, काठ, आदिकों के देखने से, ऊपर हुई वर्षा का अनुमान होता है। बहुधा चीटियों के अण्डा लेकर निकलने से होने वाली वर्षा का अनुमान किया जाता न कि किन्ही चीटियों के झुण्ड देखने से। इसी प्रकार जब मोर के शब्द का निश्चय रहता और यह पक्का ज्ञान रहता है कि यह शब्द मनुष्य ने नहीं किया; तथापि यथार्थ अनुमान होता है और जो भली भांति विचार किये विना झट पट साधारण हेतु से ही अनुमान कर बैठता; प्रायः उसी का अनुमान मिथ्या होता है तो क्या यह अनुमान प्रमाण का दोष गिना जावेगा? कदापि नहीं, किन्तु यह दोष अनुमान करने वाले ही का माना जायगा। अनुमान भूत, भविष्य, और वर्त्तमान, तीन काल विषयक होता है। यह कहा गया था। इस पर शंका करता है ॥ ३८ ॥

वर्त्तमानाभावः पततः पतितपतितव्यकालोपपत्तेः ॥३९॥

वृन्तात्प्रच्युतस्य फलस्य भूमौ प्रत्यासीदतो यदूर्ध्वं स पतितोऽध्वा तत्संयुक्तः पतितकालः। योऽधस्तात्स पतितव्योऽध्वा तत्संयुक्तः कालः पतितव्य-

कालः । नेदानीं तृतीयोऽध्वा विद्यते यत्र पततीति वर्त्तमानः कालो गृह्येत तस्माद्वर्त्तमानः कालो न विद्यतइति ॥

भा०:—वृन्त (डांड़ी–जिसमें फल लगा रहता है) से अलग हुए भूमि पर पड़ते फल का जो ऊपर का मार्ग है उससे युक्त काल पतित काल कहा जायगा । और जो नीचे का मार्ग है, वह पतितव्यमार्ग हुआ, उसके सहित काल पतितव्य काल कहावेगा । अब तीसरा मार्ग कोई नहीं रहा जिस को वर्त्तमान कहैं; इस लिये वर्त्तमान काल कोई है नहीं यह सिद्ध हो गया । तब अनुमान त्रिकाल विषय कैसे हो सकता है ॥ ३९ ॥

तयोरप्यभावो वर्त्तमानाभावे तदपेक्षत्वात् ॥४०॥

नाध्वव्यङ्ग्यः कालः किं तर्हि क्रियाव्यङ्ग्यः पततीति यदा पतनक्रिया व्युपरता भवति स कालः पतितकालः । यदोत्पत्स्यते स पतितव्यकालः । यदा द्रव्ये वर्तमाना क्रिया गृह्यते स वर्तमानः कालः । यदि चायं द्रव्ये वर्तमानं पतनं न गृह्णाति कस्योपरममुत्पत्स्यमानतां वा प्रतिपद्यते । पतितः काल इति भूता क्रिया पतितव्यः काल इति चोत्पत्स्यमाना क्रिया । उभयोः कालयोः क्रियाहीनं द्रव्यम् अधः पततीति क्रियासंबद्धं सोयं क्रियाद्रव्ययोः संबन्धं गृह्णाति वर्तमानः कालस्तदाश्रयौ चेतरौ कालौ तदभावे न स्यातामिति । अथापि–

भा०:—मार्ग से काल सूचित नहीं होता, किन्तु काल की जतलाने वाली क्रिया है । जब पड़ने की क्रिया पूरी हो गयी, तब वह पतित काल कहा जायेगा । और जब उत्पन्न होने वाली है, तब पतितव्य काल है, जब द्रव्य के विद्यमान रहते क्रिया का ग्रहण हो, तब वर्त्तमान काल जानना चाहिये । जो द्रव्य में विद्यमान पतन क्रिया को नहीं मानता है वह किसकी समाप्ति और उत्पन्न होने वाली क्रिया को मानता है । पतित काल यह भूत क्रिया, पतितव्य काल यह भविष्य क्रिया, इन दोनों कालों में द्रव्यः क्रिया हीन रहता है । फल नीचे पड़ता है यह वस्तुक्रिया युक्त है । इसी को वर्त्तमान काल कहते हैं । उक्त दोनों काल वर्त्तमान के आधीन हैं; यदि इसको न माने तो भूत और भविष्य भी सिद्ध नहीं हो सकते ॥ ४० ॥

नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षासिद्धिः ॥४१॥

यद्यतीतानागतावितरेतरापेक्षौ सिध्येतां प्रतिपद्येमहि वर्तमानविलोपं नातीतापेक्षा ऽनागतसिद्धिः । नाप्यनागतापेक्षाऽतीतसिद्धिः । कया युक्त्या केन कल्पेनातीतः कथमतीतापेक्षा ऽनागतसिद्धिः केन च कल्पेनानागत इति

नैतच्छक्यं निर्वक्तुमव्याकरणीयमेतद्वर्तमानलोप इति । यच्च मन्येत ह्रस्वदीर्घयोः स्थलनिम्नयोश्छायातपयोश्च यथेतरेतरापेक्षया सिद्धिरेवमतीतानागतयोरिति तन्नोपपद्यते विशेषहेत्वभावात् । दृष्टान्तवत्प्रतिदृष्टान्तोऽपि प्रसज्यते यथा रूपस्पर्शौ गन्धरसौ नेतरेतरापेक्षौ सिध्यतः एवमतीतानागताविति नेतरेतरापेक्षा कस्यचित्सिद्धिरिति । यस्मादेकाभावे ऽन्यतराभावादुभयाभावः यद्येकस्यान्यतरापेक्षा सिद्धिरन्यतरस्येदानीं किमपेक्षा यद्यन्यतरस्यैकापेक्षा सिद्धिरेकस्येदानीं किमपेक्षा एवमेकस्याभावे ऽन्यतरन्न सिध्यतीत्युभयाभावः प्रसज्यते । अर्थसद्भावव्यङ्ग्यश्चायं वर्तमानः कालः विद्यते द्रव्यं विद्यते गुणः विद्यते कर्मेति । यस्य चायं नास्ति तस्य—

भा०:—जो वर्त्तमान काल का लोप करते तो परस्पर सापेक्ष अतीत (भूत) और अनागत (भविष्यत्) की सिद्धि भी नहीं हो सकती जैसे रूप, स्पर्श, गन्ध और रस परस्परापेक्ष (एक दूसरे की अपेक्षा) सिद्ध नहीं होते, इसी प्रकार भूत और भविष्यत् भी सिद्ध नहीं हो सकते हैं जैसे कोई पूछे कि भूत काल किसे कहते तो यही कहना पड़ेगा कि जो भविष्य से भिन्न है, वह भूत है। इसी प्रकार जब भविष्य का लक्षण कोई पूछेगा तब यही कहना पड़ेगा कि जो भूत से भिन्न है, वह भविष्य है इसी को अन्योन्याश्रय दोष कहते हैं। क्योंकि एक की सिद्धि में दूसरे की अपेक्षा और दूसरे की सिद्धि में पहिले की ऐसी हालत में दो में से एक की भी सिद्धि नहीं हो सकती ॥ ४१ ॥

वर्त्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः ॥४२॥

प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं न चाविद्यमानमसदिन्द्रियेण सन्निकृष्यते । न चायं विद्यमानं सत्किञ्चिदनुजानाति प्रत्यक्षनिमित्तं प्रत्यक्षविषयः प्रत्यक्षज्ञानं सर्वं नोपपद्यते प्रत्यक्षानुपपत्तौ तत्पूर्वकत्वादनुमानागमयोरनुपपत्तिः सर्वप्रमाणविलोपे सर्वग्रहणं न भवतीति । उभयथा च वर्त्तमानः कालो गृह्यते क्वचिदर्थसद्भावव्यङ्ग्यः यथा द्रव्यमस्तीति । क्वचित् क्रियासन्तानव्यङ्ग्यः यथा पचति छिनत्तीति । नानाविधा चैकार्था क्रिया क्रियासन्तानः क्रियाभ्यासश्च । नानाविधा चैकार्था क्रिया पचतीति स्थाल्यधिश्रयणमुदकासेचनं तण्डुलावपनमेधोऽपसर्पणमग्न्यभिज्वालनं दर्वीघट्टनं मण्डस्रावणमधोवतारणमिति । छिनत्तीति क्रियाभ्यास उद्यम्योद्यम्य परशुं दारुणि निपातयन् छिनत्तीत्युच्यते । यच्चेदं पच्यमानं छिद्यमानं च तत्क्रियमाणं तस्मिन् क्रियमाणे ।

भा०:—वर्त्तमान के अभाव में प्रत्यक्ष की अनुपपत्ति से सब अग्रहण हो जायेगा। इन्द्रिय और पदार्थ के संयोग से जो ज्ञान होता है उसे प्रत्यक्ष कहते। अविद्यमान (जो मौजूद नहीं) वस्तु प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष की असिद्धि होने से अनुमान और शब्द प्रमाण भी सिद्ध नहीं हो सकते क्योंकि इन दोनों का प्रत्यक्ष सहायक है। जब सब प्रमाणों का लोप हुआ तब किसी वस्तु का ज्ञान न होगा। दो प्रकार से वर्त्तमान काल का ग्रहण होता है। कहीं तो वस्तु की सत्ता से होता जैसे द्रव्य है और कहीं क्रिया की परम्परा से जैसे पकाता है काटता है। एक अर्थ विषय अनेक प्रकार की क्रिया को क्रिया परम्परा कहते हैं जैसे बटलोई को चूल्हे पर धरना, उस में पानी डालना, लकड़ियों को सुधारना; अग्नि का जलाना, करछी का चलाना, मांड का पसाना, और नीचे उतारना, आदि पाक क्रिया कहाती है, इसी प्रकार कुल्हाड़ी (परशु) को उठाकर फिर फिर काठ पर पटकने को छेदन क्रिया कहते। यहाँ क्रिया परम्परा आरम्भ से लेकर जब तक पूरी न होगी तब तक पकाता है, काटता है यह व्यवहार होता है, इसी के आधार काल को वर्त्तमान कहते हैं ॥ ४२ ॥

कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथा ग्रहणम् ॥ ४३ ॥

क्रियासन्तानो ऽनारब्धश्चिकीर्षितो ऽनागतः कालः पक्ष्यतीति। प्रयोजनावसानः क्रियासन्तानोपरमः अतीतः कालो ऽपाक्षीद् इति। आरब्धक्रियासन्तानो वर्त्तमानः कालः पचतीति। तत्र या उपरता सा कृतता या चिकीर्षिता सा कर्त्तव्यता। या विद्यमाना सा क्रियमाणता। तदेवं क्रियासन्तानस्यस्त्रैकाल्यसमाहारः पचति पच्यतइति वर्त्तमानग्रहणेन गृह्यते क्रियासन्तानस्या, ह्यत्राविच्छेदो विधीयते नारम्भो नोपरम इति। सोयमुभयथा वर्त्तमानो गृह्यते अपवृक्तो व्यपवृक्तश्च। अतीतानागताभ्यां स्थितिव्यङ्ग्यो विद्यते द्रव्यमिति। क्रियासन्तानाऽविच्छेदाभिधायी च त्रैकाल्यान्वितः पचति छिनत्तीति। अन्यश्च प्रत्यासत्तिप्रभृतेरर्थस्य विवक्षायां तदभिधायी बहुप्रकारो लोकेषु उत्प्रेक्षितव्यः। तस्मादस्ति वर्त्तमानः काल इति ॥

भा०—कृतता और कर्त्तव्यता की उपपत्ति से दोनों प्रकार से ग्रहण होता है: जब क्रिया परम्परा का आरम्भ नहीं हुआ, परन्तु आगे करने की इच्छा है, यही अनागत काल हुआ, जैसे 'पकावेगा' क्रिया परम्परा के पूरे होने का नाम भूत काल है जैसे पकाया और क्रिया परम्परा का

आरम्भ तो हुआ, पर पूरी नहीं हुई इसी को वर्त्तमान काल कहते हैं। इस प्रकार क्रिया में तीन काल का व्यवहार होता है कि जो क्रिया की पूर्णता है सो कृतता जो करने की इच्छा है सो कर्त्तव्यता और जो विद्यमानहै उस का नाम क्रियमाण है, इस लिये वर्त्तमान काल अवश्य मानना चाहिये ॥४३॥

अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः ॥ ४४ ॥

अत्यन्तसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति। न चैवं भवति यथा गौरेवं गौरिति। प्रायः साधर्म्यादुपमानं न सिध्यति। न हि भवति यथा ऽनड्वानेवं महिष इति। एकदेशसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति न हि सर्वेण सर्वमुपमीयतइति ॥

भा:०–अत्यन्त समानता से 'उपमान' प्रमाण की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि जैसी गाय है, वैसी गाय है, ऐसा व्यहार नहीं होता। बहुत शादृश्य से उपमान सिद्धि नहीं होती, जैसा बैल, वैसा भैंसा होता है; यह व्यवहार नहीं। कुछेक तुल्यता होने से भी उपमान सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि सबही को सब से उपमा नहीं दी जाती। कुछ तुल्यता से तो सभी की सबके साथ हो सकती है, इस लिये उपमान प्रमाण सिद्ध नहीं होता है ॥ ४४ ॥ इसका समाधान:–

प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः ॥ ४५ ॥

न साधर्म्यस्य कृत्स्नप्रायाल्पभावमाश्रित्योपमानं प्रवर्त्तते किं तर्हि प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनभावमाश्रित्य प्रवर्त्तते। यत्र चैतदस्ति न तत्रोपमानं प्रतिषेद्धुं शक्यं तस्माद्यथोक्तदोषो नोपपद्यत इति। अस्तु तर्ह्युपमानमनुमानम्।

भा०:–साध्य के सम्पूर्ण, प्रायः, और अल्पपन का आश्रय लेकर "उपमान" प्रमाण प्रवृत्त होता है; यह वात नहीं है, किन्तु प्रसिद्ध समानता का आश्रय करके इस की प्रवृत्ति होती है। जहां यह समान धर्म्म मिलता है वहां उपमान का निषेध नहीं हो सकता, अतएव, उक्त दोष नहीं आता है।

अच्छा, हमने माना कि 'उपमान' 'अनुमान' है जैसा कि ॥ ४५ ॥

प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षसिद्धेः ॥ ४६ ॥

यथा धूमेन प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य वह्नेर्ग्रहणमनुमानम् एवं गवा प्रत्यक्षेणाऽप्रत्यक्षस्य गवयस्य ग्रहणमिति नेदमनुमानाद्विशिष्यते। विशिष्यतइत्याह कया युक्त्या–

भा०:—प्रत्यक्ष धूआं के देखने से अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान होता है, वैसे ही गौके प्रत्यक्ष से अप्रत्यक्ष 'गवय' का अनुमान हो जावेगा इसलिये यह 'अनुमान' प्रमाण से अलग नहीं हो सकता। अनुमान से 'उपमान' पृथक् है ॥ ४६ ॥ क्योंकिः—

नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्याम इति ॥ ४७ ॥

यदा ह्ययमुपयुक्तोपमानो गोदर्शी गवयसमानमर्थं पश्यति तदाऽयं गवय इत्यस्य संज्ञाशब्दस्य व्यवस्थां प्रतिपद्यते न चैवमनुमानमिति। परार्थं चोपमानं यस्य ह्युपमानमप्रसिद्धं तदर्थं प्रसिद्धोभयेन क्रियतइति। परार्थमुपमानमिति चेद् न स्वयमध्यवसायाद्। भवति च भोः स्वयमध्यवसायः यथा गौरेवं गवय इति। नाध्यवसायः प्रतिषिध्यते उपमानं तु तन्न भवति प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्। न च यस्योभयं प्रसिद्धं तं प्रति साध्यसाधनभावो विद्यत इति। अथापि।

भा०:—जब गाय के देखने वाले को 'उपमान' का उपदेश किया जाता और वह गाय के समान जानवर को देखता है, तब उसको यह ज्ञान होता है कि इस जन्तु का नाम 'गवय' है। ऐसा 'अनुमान' में नहीं होता। अर्थात् 'अनुमान' विन देखे ही पदार्थ का होता है। यही 'अनुमान' एवं 'उपमान' में भेद है। और यह भी एक बात है कि उपमान दूसरे ही के लिये काम में आता और अनुमान अपने लिये भी। जिसको उपमान प्रसिद्ध नहीं है उसके लिये, जिस को दोनों प्रसिद्ध हैं वह उपमान का प्रयोग करता है॥४७॥ और भी—

तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः ॥ ४८ ॥

तथेति सामानधर्मोपसंहारादुपमानं सिध्यति नानुमानम्। अयं चानयोर्विशेष इति।

भा०:—"उसी प्रकार गवय होता है" ऐसा समान धर्म के उपसंहार से 'उपमान' सिद्ध होता है। ऐसा 'अनुमान' में नहीं होता। और यही दोनों (उपमान, अनुमान,) में विशेषता है ॥ ४८ ॥

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ॥ ४९ ॥

शब्दोऽनुमानं न प्रमाणान्तरं कस्मात् शब्दार्थस्यानुमेयत्वात्। कथमनुमेयत्वं प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धेः। यथाऽनुपलभ्यमानो लिङ्गी मितेन लिङ्गेन पश्चान्मीयतइति अनुमानम्। एवं मितेन शब्देन पश्चान्मीयतेऽर्थो ऽनुपलभ्य-

मान इत्यनुमानं शब्दः । इतश्चानुमानं शब्दः ।

भा०:–'शब्द' (प्रमाण सू०१।१।७) 'अनुमान' ही है, भिन्न प्रमाण नहीं है क्योंकि शब्द का जो अर्थ है, वह अनुमान के योग्य है. जैसे प्रत्यक्ष से अज्ञात साध्य का ज्ञान हेतु से पीछे अनुमान होता है इसीप्रकार ज्ञात शब्द से पीछे अज्ञात अर्थ का ज्ञान होता है इसलिये 'शब्द' अनुमान ही है ॥ ४९ ॥

उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् ॥ ५० ॥

प्रमाणान्तरभावे द्विप्रवृत्तिरुपलब्धिः अन्यथा ह्युपलब्धिरनुमाने अन्यथोपमाने तद्व्याख्यातम् । शब्दानुमानयोस्तूपलब्धिरद्विप्रवृत्तिः । यथानुमाने प्रवर्त्तते तथा शब्देऽपि विशेषाभावादनुमानं शब्द इति ।

भा०:–जो 'शब्द' (प्रमाण) अनुमान से भिन्न होता तो ज्ञान की प्रवृत्ति दो प्रकार से नहीं होती इस से भी 'शब्द ' अनुमान ही है । प्रमाणान्तर में उपलब्धि दो प्रकार से होती है अनुमान में जिस प्रकार से होती; उससे अन्य प्रकार से उपमान में होती है । अर्थात् शब्द और अनुमान का फल एक ही प्रकार का है ॥ ५० ॥

संबन्धाच्च ॥ ५१ ॥

शब्दोऽनुमानमिति वर्त्तते । संबद्धयोश्च शब्दार्थयोः संबन्धप्रसिद्धौ शब्दोपलब्धेरर्थग्रहणं यथा संबद्धयोर्लिङ्गलिङ्गिनोः संबन्धप्रतीतौ लिङ्गोपलब्धौ लिङ्गिग्रहणमिति । यत्तावत् अर्थस्यानुमेयत्वादिति तत्र ।

भा०:–जैसे लिङ्ग. लिङ्गी में सम्बन्ध प्रतीत होने से लिङ्ग की उपलब्धि से लिङ्गी का ग्रहण होना ऐसा ही शब्द और अर्थ के संबन्ध प्रसिद्ध होने से शब्द की उपलब्धि से अर्थ का ग्रहण होता है । सम्बन्ध का ज्ञान होने से भेदज्ञान न होने से 'शब्द' 'अनुमान' है ॥ ५१ ॥

आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसंप्रत्ययः ॥ ५२ ॥

स्वर्गः अप्सरसः उत्तराः कुरवः सप्त द्वीपाः समुद्रो लोकसन्निवेश इत्येवमादेरप्रत्यक्षस्यार्थस्य न शब्दमात्रात्प्रत्ययः किं तर्हि आप्तैरयमुक्तः शब्द इत्यतः संप्रत्ययः विपर्ययेण संप्रत्ययाभावाद् नत्वेवमनुमानमिति । यत्पुनरुपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वादिति । अयमेव शब्दानुमानयोरुपलब्धेः प्रवृत्तिभेदः तत्र विशेषे सत्यहेतुर्विशेषाभावादिति । यत्पुनरिदं संबन्धाच्चेति अस्ति च शब्दार्थयोः संबन्धोऽनुज्ञातः अस्ति च प्रतिषिद्धः । अस्येदमिति षष्ठीविशिष्टस्य

वाक्यस्यार्थविशेषोऽनुज्ञातः प्राप्तिलक्षणस्तु शब्दार्थयोः संबन्धः प्रतिषिद्धः। कस्मात्। प्रमाणतोऽनुपलब्धेः।

प्रत्यक्षतस्तावच्छब्दार्थप्राप्तेर्नोपलब्धिरतीन्द्रियत्वात्। येनेन्द्रियेण गृह्यते शब्दस्तस्य विषयभावमतिवृत्तोऽर्थो न गृह्यते। अस्ति चातीन्द्रियविषयभूतोऽप्यर्थः समानेन चेन्द्रियेण गृह्यमाणयोः प्राप्तिर्गृह्यत इति। प्राप्तिलक्षणे च गृह्यमाणे संबन्धे शब्दार्थयोः शब्दान्तिके वार्थः स्यात् अर्थान्तिके वा शब्दः स्याद् उभयं वोभयत्र। अथ खल्वयम् ॥

भा०:—स्वर्ग, अप्सरा, उत्तर कुरु (देश) और सात द्वीप इत्यादि अप्रत्यक्ष पदार्थों का ज्ञान केवल शब्द से नहीं होता किन्तु सत्य वक्ताओं का यह शब्द है अतएव अर्थ का बोध होता है। ऐसा अनुमान में नहीं है। यही अनुमान एवं शब्द में ज्ञान की प्रवृत्ति का भेद है। और यह जो कहा था कि सम्बन्ध युक्त शब्द और अर्थ के ज्ञान से बोध होता है। यह भी ठीक नहीं है। क्यों कि—प्रमाण से व्याप्तिरूप सम्बन्ध की प्रतीति नहीं होती। प्रत्यक्ष प्रमाण से व्याप्ति नहीं कह सकते क्योंकि इन्द्रिय के विषय नहीं। जिस इन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता उस इन्द्रिय से अर्थ का ग्रहण कभी नहीं हो सकता और जो प्राप्तिरूप सम्बन्ध शब्द और अर्थ मान भी लिया जावे तो यही होगा कि शब्द के पास अर्थ या अर्थ के पास शब्द पर यह बाधित होगा ॥ ५२ ॥

पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च संबन्धाभावः ॥ ५३ ॥

स्थानकरणाभावादिति चार्थः। न चायमनुमानतोऽप्युपलभ्यते शब्दान्तिकेऽर्थ इति। एतस्मिन्पक्षेऽप्यास्य स्थानकरणोच्चारणीयः शब्दस्तदन्तिकेऽर्थ इति अन्नाग्न्यसिशब्दोच्चारणे पूरणप्रदाहपाटनानि गृह्येरन् न च प्रगृह्यन्ते। अग्रहणान्नानुमेयः प्राप्तिलक्षणः संबन्धः अर्थान्तिके शब्द इति। स्थानकरणासंभवाद् अनुच्चारणं स्थानं कण्ठादयः करणं प्रयत्नविशेषः तस्यार्थान्तिकेऽनुपपत्तिरिति उभयप्रतिषेधाच्च नोभयम्। तस्मान्न शब्देनार्थः प्राप्त इति ॥

भा०:—जो शब्द का अर्थ के साथ व्याप्तिरूप सम्बन्ध होता, तो 'अन्न' शब्द के उच्चारण से मुख में अन्न भर जाता; 'अग्नि' (शब्द) बोलने से जलन होता, और 'खड्ग, (शब्द) बोलने से मुख के टुकड़े २ हो जाते अतएव सिद्ध हुआ कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नहीं है ॥ ५३ ॥

शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः ॥५४॥

शब्दार्थप्रत्ययस्य व्यवस्थादर्शनादनुमीयतेऽस्ति शब्दार्थसंबन्धो व्यवस्थाकारणम् । असंबन्धे हि शब्दमात्रादर्थमात्रे प्रत्ययप्रसङ्गः तस्मादप्रतिषेधः संबन्धस्येति । अत्र समाधिः ॥

भा०:-शब्द से अर्थ के ग्रहण की व्यवस्था के देखने से व्यवस्था का कारण शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का अनुमान किया जाता है । जो सम्बन्ध न होता तो सब शब्दों से सब अर्थों का बोध हो जाता अतएव सम्बन्ध का खण्डन नहीं हो सकता ॥ ५४ ॥

न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसंप्रत्ययस्य ॥ ५५ ॥

न संबन्धकारितं शब्दार्थव्यवस्थानं किं तर्हि समयकारितं यत्तदवोचामास्येदमिति षष्ठीविशिष्टस्य वाक्यस्यार्थविशेषोऽनुज्ञातः शब्दार्थयोः संबन्ध इति समयन्तदवोचामेति । कः पुनरयं समयः । अस्य शब्दस्येदमर्थजातमभिधेयमिति अभिधानाभिधेयनियमनियोगः तस्मिन्नुपयुक्ते शब्दादर्थ संप्रत्ययो भवति । विपर्यये हि शब्दश्रवणेपि प्रत्ययाभावः । संबन्धवादिनापि चायमवर्जनीय इति । प्रयुज्यमानग्रहणाच्च समयोपयोगो लौकिकानाम् । समयपालनार्थं चेदं पदलक्षणाया वाचोऽन्वाख्यानं व्याकरणं वाक्यलक्षणाया वाचोऽर्थो लक्षणम्* । पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्ताविति । तदेवं प्राप्तिलक्षणस्य शब्दार्थसंबन्धस्यार्थजुषोऽपि अनुमानहेतुर्न भवतीति ॥

भा०:-शब्द और अर्थ की व्यवस्था सम्बन्ध की कियी हुई नहीं; किन्तु संकेत इस का हेतु है "इस शब्द का यह अर्थ है" यह जो 'वाच्य' और 'वाचक' नियम का निश्चय है इसी को 'समय' या 'संकेत' कहते हैं । इस के ज्ञान से शब्द के सुनने से अर्थ का बोध होता है और जो यह संकेत ज्ञान न हो, तो शब्द के सुनने से भी अर्थ का बोध कभी नहीं होता । जैसे किसी ने संकेत किया । कि "पंकज से कमल समझना चाहिये" । अब जिस मनुष्य को यह संकेत ज्ञात होगा उसी को 'पंकज' शब्द के सुनने से कमल रूप अर्थ का ज्ञान होगा । और जिसको इस संकेत का ज्ञान नहीं है, उसे उक्त शब्द के सुनने से भी कमल का ज्ञान नहीं होता ॥ ५५ ॥

---

* लोकतश्च समयो बोद्धव्यः । मात्रादींस्तेषु तेष्वर्थेषु तांस्तान् शब्दान् प्रयुञ्जानानुपलभ्य सोपि तथैव शिक्षितस्तानेव शब्दांस्तेषु तेष्वर्थेषु प्रयुङ्क्ते न पुनरेनं कश्चिल्लिपिविशेषमिव शिक्षयतीति । न्या० वा० ॥

व्याघात–दोष से भी ' शब्द ' प्रमाण नहीं हो सकता, जैसे एक स्थान में कहा कि सूर्य्य के उदय होने पर होम करना चाहिये ' फिर अन्यत्र कहा कि ' सूर्य्योदय से पहिले होम करना चाहिये ' ऐसे ही उदयकाल में होम करने से दोष, और विन उदयकाल में होम करने में भी दोष कहा है । ये दोनों बात परस्पर विरुद्ध होने से बाधित हैं । इसी को ' व्याघात ' दोष कहते हैं (अपनी बात का स्वयं खण्डन करना) । उक्त दोष के आने से दो में से एक अवश्य मिथ्या होगा, इसी प्रकार अभ्यास में तीनवार पहिली ऋचा बोलनी, और पिछली भी तीनवार, ये पुनरुक्ति दोष आता है । और जिस में पुनरुक्ति हो वह पगले का वाक्य होता है, अतएव शब्द (वेद) अप्रमाण हुआ ॥५७॥

न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ॥ ५८ ॥

नानृतदोषः पुत्रकामेष्टौ कस्मात् कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् । इष्ट्या पितरौ संयुज्यमानौ पुत्रं जनयत इति । इष्टिः करणं साधनं पितरौ कर्तारौ संयोगः कर्म त्रयाणां गुणयोगात् पुत्रजन्म । वैगुण्याद्विपर्ययः । इष्ट्याश्रयं तावत्कर्मवैगुण्यं समीहा भ्रेषः । कर्तृवैगुण्यम् अविद्वान् प्रयोक्ता कपूयाचरणश्च । साधनवैगुण्यं हविरसंस्कृतमुपहतमिति मन्त्रा न्यूनाधिकाः स्वरवर्णहीना इति । दक्षिणा दुरागता हीना निन्दिता चेति । अथोपजनाश्रयं कर्मवैगुण्यं मिथ्यासंप्रयोगः । कर्तृवैगुण्यं योनिव्यापादो बीजोपघातश्चेति । साधनवैगुण्यम् इष्टावभिहितम् । लोके चाग्निकामो दारुणी मथ्नीयादिति विधिवाक्यं तत्र कर्मवैगुण्यं मिथ्याभिमन्थनं कर्तृवैगुण्यं प्रज्ञाप्रयत्नगतः प्रमादः साधनवैगुण्यम् आर्द्रं सुषिरं दार्विति तत्र फलं न निष्पद्यत इति नानृतदोषः । गुणयोगेन फलनिष्पत्तिदर्शनात् । न चेदं लौकिकाद्भिद्यते पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेतेति ।

भा०:–पुत्रेष्टि में जो मिथ्या दोष दिखलाया है, वह नहीं हो सकता,* कर्म, कर्त्ता एवं साधन के वैगुण्य से । जब ये तीनों यथार्थ होंगे, तो निश्चय फल की सिद्धि होगी इसमें कुछ सन्देह नहीं । जैसे कर्त्ता मूर्ख या दुष्ट आचारण वाला हुआ, तो यह कर्त्ता का वैगुण्य अर्थात् दोष हुआ और मिथ्या प्रयोग किया, तो यह कर्म का वैगुण्य होगा, इसी प्रकार यदि होम की सामग्री

*यज्ञ द्वारा माता और पिता मिलकर पुत्र उत्पन्न करें'। इस में 'यज्ञ करना' साधन हुआ, माता एवं पिता कर्त्ता हुए संयोग कर्म हुआ । इन तीनों के वेदोक्त विधि से यथावत् करने ही से पुत्र जन्म होगा, अन्यथा नहीं । यदि इनमें से एक, दो या तीनों विधि विरुद्ध हो तो, पुत्र जन्म कदापि नहीं होगा।

अच्छी न हुयी या मन्त्र न्यून, अधिक या स्वर, वर्ण से हीन पढ़े गये तो यह साधन वगुण्य हुआ। इन तीनों में से एक भी दुष्ट होगा तो फल की सिद्धि कदापि न होगी। क्योंकि लोक में भी गुण के योग से ही काम की सफलता देखने में आती है। यह लौकिक से अलग नहीं है अतएव मिथ्या दोष देना उचित नहीं ॥ ५८ ॥

अभ्युपेत्यकालभेदे दोषवचनात् ॥ ५९ ॥

न व्याघातो हवनइत्यनुवर्त्तते। योऽभ्युपगतं हवनकालं भिनत्ति ततोऽन्यत्र जुहोति तत्रायमभ्युपगतकालभेदे दोष उच्यते श्यावो वाऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति तदिदं विधिभ्रेषे निन्दावचनमिति।

भा०:-होम करने में जो व्याघात दोष दिया था। उस का खण्डन-जो अङ्गीकार करके काल का भेद करता है उसके लिये दोष कहा है अतएव विधि के भ्रष्ट होने में यह निन्दा का कथन है किन्तु 'व्याघात' रूप दोष नहीं। अर्थात् वेद में जहां अनेक पक्ष हैं, उन में से किसी एक पक्ष को स्वीकार कर लें, फिर उस का त्याग करना उचित नहीं ॥ ५९॥

अनुवादोपपत्तेश्च ॥ ६० ॥

पुनरुक्तदोषोऽभ्यासेनेति प्रकृतम्। अनर्थकोऽभ्यासः पुनरुक्तः अर्थवानभ्यासो ऽनुवादः *। यो ऽयमभ्यासस्त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमामित्यनुवाद उपपद्यते अर्थवत्त्वात्। त्रिर्वचनेन हि प्रथमोत्तमयोः पञ्चदशत्वं सामिधेनीनां भवति। तथा च मन्त्राभिवादः "इदमहं भ्रातृव्यं पञ्चदशावरेण वाग्वज्रेण बाधे यो ऽस्मान्द्वेष्टि यं च वयं द्विष्म" इति पञ्चदशसामिधनीर्वज्रमन्तो ऽभिवदति तद्-भ्यासमन्तरेण न स्यादिति।

भा०:-अभ्यास में जो पुनरुक्त दोष दिया था वह ठीक नहीं है। अनुवाद की उपपत्ति होने से अनर्थक अभ्यास को पुनरुक्त कहते हैं। और अर्थ वाले अभ्यास को अनुवाद कहते हैं। " ३ वार पहिली ऋचा पढ़नी और

---

*पुनरुक्तं नाम तस्यैवार्थस्यानङ्गीकृतविशेषस्य यत्पुनर्वचनम्। अनुवादस्तु पुनः श्रुतिसामान्यादङ्गीकृतविशेषस्यार्थस्य वादः। एवं च सति यथोक्तो न दोषः। पुत्रकामेष्टिवाक्यानि प्रमाणं वेदैकदेशत्वाद् भूमिरावपनं महदिति वाक्यवत्। पदादिनियमाद् द्वादश मासाः संवत्सर इति वाक्यवत्। वक्तृविशेषाभिहितत्वात् अग्निर्हिमस्य भेषजमिति वाक्यवत्। न्या० वा० ॥

३ वार पिछली " यह अभ्यास प्रयोजन वाला होने से अनुवाद कहा जावेगा, क्योंकि प्रथम और अन्त्य के ३ वार पढ़ने से 'सामिधेनियों' की संख्या पूरी होती है। 'सामिधेनी' पन्द्रह होनी चाहिये। तीन २ वार न पढ़ें तो संख्या कम (न्यून) हो जाय, इसलिये प्रयोजन वाला होने से यह अभ्यास अनुवाद कहा जावेगा, पुनरुक्त नहीं होसकता ॥ ६० ॥

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ ६१ ॥

प्रमाणं शब्दो यथा लोके। विभागश्च ब्राह्मणवाक्यानां त्रिविधः।

भा०:- जैसे लोक में शिष्ट लोग 'विधि,' अनुवाद, आदि वाक्यों का विभाग करते हैं और अनुवाद वाक्य को सार्थक मानते हैं, इसीप्रकार ब्राह्मण (ग्रन्थ) में 'अनुवाद वाक्य' प्रयोजन वाले माने जाते हैं ॥ ६१ ॥

विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ ६२ ॥

त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि विधिवचनान्यर्थवादवचनान्यनुवादवचनानीति। तत्र—

भा०:—ब्राह्मण (ग्रन्थ) वाक्यों का तीन प्रकार से विनियोग होता है १ विधि वाक्य, २ अर्थवाद वाक्य और ३ अनुवाद वाक्य ॥ ६२ ॥ इन में से:—

विधिर्विधायकः ॥ ६३ ॥

यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः। विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा। यथाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम इत्यादि।

भा०:—जो वाक्य विधायक अर्थात् आज्ञा करने वाला होता उसे 'विधिवाक्य' कहते हैं जैसे 'स्वर्ग चाहने वाला, अग्निहोत्र करे ॥ ६३ ॥

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ६४ ॥

विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः संप्रत्ययार्थं स्तूयमानं श्रद्दधीतेति। प्रवर्त्तिका च फलश्रवणात् प्रवर्तते सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन् सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै सर्वमेवैतेनाप्नोति सर्वं जयतीत्येवमादि। अनिष्टफलवादो निन्दा वर्जनार्थं निन्दितं न समाचरेदिति स एषवाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमो य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्ते पतत्ययमेवैतज्जीर्यते वा प्रमीयते वा इत्येवमादि। अन्यकर्तृकस्य व्याहतस्य विधेर्वादः परकृतिः। हुत्वा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति अथ पृषदाज्यं तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यस्तोममित्येवमभिदधतीत्येवमादि।

ऐतिह्यसमाचरितो विधिः पुराकल्प इति तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा बहिः पवमानं सामस्तोममस्तौषन् योने यज्ञं प्रतनवामहे इत्येवमादि। कथं परकृतिपुराकल्पावर्थवादाविति स्तुतिनिन्दावाक्येनाभिसम्बन्धाद्विध्याश्रयस्य कस्यचिदर्थस्य द्योतनादर्थवाद इति ॥

भा०:—अर्थवाद वाक्य चार प्रकार का होता है १ स्तुति २ निन्दा, ३ परकृति और ४ पुराकल्प। इन में से विधिवाक्य के फल कहने के जो प्रशंसा है, उसे 'स्तुति' कहते हैं, क्योंकि फल की प्रशंसा सुनने से प्रवृत्ति होती है। उदाहरण, जैसे 'देवों ने इस यज्ञ को करके सब को जीता, इस यज्ञ के करने से सब कुछ प्राप्त होता' इत्यादि। अनिष्ट फल के कहने को निन्दा कहते हैं। निन्दित कर्मों को छुड़ाने के लिये यह कही जाती है, जैसे 'यज्ञों में ज्योतिष्टोम पहिला यज्ञ है, इसे न करके जो दूसरा यज्ञ करता, वह गढ़े में पड़ता है' और जो वाक्य मनुष्यों के कर्मों में परस्पर विरोध दिखावे उसे 'परकृति' कहते हैं, जैसे कोई तो घृत को स्रुवे से रखकर प्रणीता में डालते और कोई घृत को स्रुवे से प्रणीता में डालते और उस की प्रशंसा करते हैं। 'ऐतिह्य सहचरितविधि' को 'पुराकल्प' कहते हैं जैसे 'ब्राह्मणों ने [illegible] की स्तुति किया अतएव हम भी यज्ञ का विस्तार करें' 'ब्राह्मण सिद्ध लोग ऐसा करते आये' इस प्रकार के वाक्य 'ऐतिह्य' कहाते हैं।

स्तुति और निन्दा जतलाने वाले वाक्यों के साथ सम्बन्ध होने से विधि के आश्रय किसी अर्थ के प्रकाश करने से 'परकृति' और 'पुराकल्प' अर्थवाद कहाते हैं। अर्थ का कहना अर्थवाद शब्द का अर्थ है ॥ ६४ ॥

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ६५ ॥

विध्यनुवचनं चानुवादो विहितानुवचनं च। पूर्वः शब्दानुवादोऽपरोऽर्थानुवादः। यथा पुनरुक्तं द्विविधमेवमनुवादोऽपि। किमर्थं पुनर्विहितमनूद्यते। अधिकारार्थं विहितमधिकृत्य स्तुतिर्बोध्यते निन्दा वा विधिशेषो वाऽभिधीयते। विहितानन्तरार्थोऽपि चानुवादो भवति एवमन्यदप्युत्प्रेक्षणीयम्। लोकेऽपि च विधिरर्थवादोऽनुवाद इति च त्रिविधं वाक्यम्। ओदनं पचेदिति विधिवाक्यम्। अर्थवादवाक्यमायुर्वर्चो बलं सुखं प्रतिभानं चान्ने प्रतिष्ठितम्। अनुवादः पचतु पचतु भवानित्यभ्यासः क्षिप्रं पच्यतामिति वा अङ्ग पच्यतामित्यध्येषणार्थम्। पच्यतामेवेति वा वधारणार्थम्। यथा लौकिके वाक्ये विभागेनार्थग्रहणात्प्रमाणत्वम् एवं वेदवाक्यानामपि विभागेनार्थग्रहणात्प्रमाणत्वं भवितुमर्हतीति ॥

भा०:-(१) विधि का अनुवचन और (२) विधि से जो विधान किया गया उस के अनुवचन को अनुवाद कहते हैं । अनुवाद भी दो प्रकार का होता एक अर्थानुवाद, दूसरा शब्दानुवाद । विहित के अनुवाद करने का प्रयोजन यह है कि स्तुति, निन्दा, या विधि का शेष ये सब जो विहित हैं उस के विषय में लिये जावें । लोक में तीन प्रकार के वाक्य देखने में आते हैं, जैसे 'अन्न पकाओ, (विधि या अनुज्ञा वाक्य हुआ) 'आयु, तेज, बल, सुख और फुरती ये सब अन्न में विद्यमान हैं', (अर्थवाद वाक्य हुआ) क्योंकि विधि वाक्य में अन्न पकाने की आज्ञा किया और इस से अन्न की स्तुति समझी गयी । 'आप पकाइये, पकाइये, शीघ्र पकाइये, ऐ प्यारे ' पकाओ' (अनुवाद वाक्य हुआ) क्योंकि विधि वाक्य से जो विधान किया गया, उसी का अनुवचन इस में है, जैसे लोक में वाक्यों का अर्थ ज्ञान विभाग से होता है । और वे प्रमाण समझे जाते, इसी प्रकार विभाग से अर्थ ज्ञान होने के कारण वेद वाक्यों का भी प्रामाण्य होना उचित है ॥ ६५ ॥

नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः ॥ ६६ ॥

पुनरुक्तमसाधु साधुरनुवाद इति अयं विशेषो नोपपद्यते । कस्मादुभयत्र हि प्रतीतार्थः शब्दोऽभ्यस्यते चरितार्थस्य शब्दस्याभ्यासादुभयमसाध्विति ॥

भा०: - (यदि यह कहो कि) पुनरुक्त तो ठीक नहीं है पर अनुवाद ठीक है, तो इन दोनों में कोई विशेषता नहीं दीखती क्योंकि दोनों ही में चरितार्थ शब्द के अभ्यास की उपपत्ति है । कहे हुए अर्थ और शब्द को वार वार पढ़ने से दोनों ही दोष युक्त हैं ॥ ६६ ॥

शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः ॥ ६७ ॥

नानुवादपुनरुक्तयोरविशेषः । कस्मात् अर्थवतोऽभ्यासस्यानुवादभावात् । समानेऽभ्यासे पुनरुक्तमनर्थकम् । अर्थवानभ्यासोऽनुवादः शीघ्रतरगमनोपदेशवत् । शीघ्रं शीघ्रं गम्यतामिति क्रियातिशयोऽभ्यासेनैवोच्यते । उदाहरणार्थं चेदम् । एवमन्योऽप्यभ्यासः पचति पचतीति क्रियानुपरमः । ग्रामो ग्रामो रमणीय इति व्याप्तिः । परि परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देव इति परिवर्जनम् । अध्यधिकुड्यं निषण्णमिति सामीप्यम् । तिक्तं तिक्तम् इति प्रकारः । एवमनुवादस्य स्तुतिनिन्दाशेषविधिष्वधिकारार्थता विहितानन्तरार्थता चेति । किं पुनः प्रतिषेधहेतूद्धारादेव शब्दस्य प्रमाणत्वं सिध्यति । अतश्च ॥

भा०:—(उत्तर—तो) 'पुनरुक्त' और 'अनुवाद' इन दोनों में विशेषता नहीं है—ऐसा कहना नहीं बनता क्योंकि अर्थ वाले अभ्यास को अनुवाद और अर्थ रहित अभ्यास को 'पुनरुक्त' कहते हैं। यही भेद है. जैसे किसी ने कहा कि 'जाओ' (पुनः कहा) 'जाओ,' (अर्थात् जल्दी जाओ) देर न करो' यह अभ्यास सार्थक है। (प्रश्न) तो क्या शब्द के प्रमाणत्व दूर करने वाले हेतुओं के खण्डन करने ही से शब्द की प्रमाणता सिद्ध होजावेगी ? ॥ ६७ ॥

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् ॥ ६८ ॥

किं पुनरायुर्वेदस्य प्रामाण्यं यत्तदायुर्वेदेनोपदिश्यते इदं कृत्वेष्टमधिगच्छतीदं वर्जयित्वाऽनिष्टं जहाति तस्यानुष्ठीयमानस्य तथाभावः सत्यार्थताऽविपर्ययः। मन्त्रपदानां च विष * भूताशनिप्रतिषेधार्थानां प्रयोगेऽर्थस्य तथाभाव एतत्प्रामाण्यम्। किंकृतमेतद् आप्तप्रामाण्यकृतम्। किं पुनराप्तानां प्रामाण्यं साक्षात्कृतधर्मता भूतदया यथाभूतार्थचिख्यापयिषेति। आप्ताः खलु साक्षात्कृतधर्माण इदं हातव्यमिदमस्य हानिहेतुरिदमस्याधिगन्तव्यमिदमस्याधिगमहेतुरिति भूतान्यनुकम्पन्ते। तेषां खलु वै प्राणभृतां स्वयमनवबुद्ध्यमानानां नान्यदुपदेशादवबोधकारणमस्ति। न चानवबोधे समीहा वर्जनं वा न वाऽकृत्वा स्वस्तिभावो नाप्यस्यान्य उपकारकोऽप्यस्ति। हन्त वयमेभ्यो यथादर्शनं यथाभूतमुपदिशामस्तइमे श्रुत्वा प्रतिपद्यमाना हेयं हास्यन्त्यधिगन्तव्यमेवाधिगमिष्यन्तीति। एवमाप्तोपदेशः। एतेन त्रिविधेनाप्तप्रामाण्येन परिगृहीतोऽनुष्ठीयमानोऽर्थस्य साधको भवति एवमाप्तोपदेशः प्रमाणम्। एवमाप्ताः प्रमाणम्। दृष्टार्थेनाप्तोपदेशेनायुर्वेदेनाऽदृष्टार्थो वेदभागोऽनुमातव्यः प्रमाणमिति। आप्तप्रामाण्यस्य हेतोः समानत्वादिति। अस्यापि चैकदेशो ग्रामकामो यजेतेत्येवमादिर्दृष्टार्थस्तेनानुमातव्यमिति लोके च भूयानुपदेशाश्रयो व्यवहारः। लौकिकस्याप्युपदेष्टुरुपदेष्टव्यार्थज्ञान परानुजिघृक्षया यथाभूतार्थचिख्यापयिषया च प्रामाण्यं तत्परिग्रहादाप्तोपदेशः प्रमाणमिति। द्रष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चानुमानं यएवाप्ता वेदार्थानां द्रष्टारः प्रवक्तारश्च तएवायुर्वेदप्रभृतीनाम् इत्यायुर्वेदप्रामाण्यवद्वेदप्रामाण्यमनुमातव्यमिति ‡। नित्यत्वाद् वेदवाक्यानां प्रमाणत्वे तत्प्रामाण्यमाप्तप्रा-

---

* विषयभूत ऐसा पाठ ३ पुस्तकों में है।

‡ अस्य प्रयोगः प्रमाणं वेदवाक्यानि वक्तृविशेषाभिहितत्वान्मन्त्रायुर्वेद वाक्यवत्। एककर्तृकत्वेन वा मन्त्रायुर्वेदवाक्यानि परोक्षीकृत्यालौकिकार्थप्रतिपादकत्वेन वैधर्म्यहेतुर्वक्तव्यः। न्या० वा०।

माण्यादित्ययुक्तम् । शब्दस्य वाचकत्वादर्थप्रतिपत्तौ प्रमाणत्वं न नित्यत्वात् । नित्यत्वे हि सर्वस्य सर्वेण वचनाच्छब्दार्थव्यवस्थानुपपत्तिः । नानित्यत्वे वाचकत्वमिति चेद् न लौकिकेष्वदर्शनात् । तेऽपि नित्या इति चेद् न । अनाप्तोपदेशादर्थविसंवादोऽनुपपन्नः । नित्यत्वाद्धि शब्दः प्रमाणमिति । अनित्यः स इति चेद् अविशेषवचनम् । अनाप्तोपदेशो लौकिको न नित्य इति कारणं वाच्यमिति । यथा योगं चार्थस्य प्रत्यायनाद् नामधेयशब्दानां लोके प्रामाण्यं नित्यत्वात्प्रामाण्यानुपपत्तिः । यत्रार्थे नामधेयशब्दो नियुज्यते लोके तत्र नियोगसामर्थ्यात्प्रत्यायको भवति न नित्यत्वात् । मन्वन्तरयुगान्तरेषु चातीतानागतेषु सम्प्रदायाभ्यासप्रयोगाविच्छेदो वेदानां नित्यत्वम् । आप्तप्रामाण्याच्च प्रामाण्यं लौकिकेषु शब्देषु चैतत्समानमिति ।

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये द्वितीयाध्यायस्याद्यमान्हिकम् ।

भाषा: (उत्तर) [illegible] मन्त्र (शब्द-शक्ति विशेष) और आयुर्वेद (वैद्यक) इन की प्रमाणता [illegible] प्रमाण [illegible] (आप्त के प्रमाणत्व से) सिद्ध है. (मन्त्र) जैसे [illegible] करने वाले मन्त्रों के प्रयोग करने से उन का फल [illegible] सर्प, बिच्छू आदि के काटने एवं [illegible] मन्त्र [illegible] जानने वाले के मन्त्र प्रयोग से [illegible] और [illegible] जाते हैं) इसी प्रकार वैद्यक

---

* वैदिक मन्त्र एवं आयुर्वेद [illegible] वेद का कर्ता ईश्वर है। मन्त्र और वैद्यक शास्त्र का [illegible] से मन्त्र और वैद्यक शास्त्र की प्रमाणता है। एक ही आप्त (ईश्वर) के उपदेश वाक्य होने से जिस प्रकार मन्त्र और आयुर्वेद का [illegible] होने से प्रामाण्य है, उसीप्रकार सम्पूर्ण वेद वाक्यों का भी प्रामाण्य [illegible] चाहिये क्योंकि भेद होने का कोई कारण नहीं होसकता। पूर्व [illegible] की प्रमाणता से प्रमाण होने का जो अर्थ कहा गया है, [illegible] से तुल्य है कि वेद में जो अर्थ है उस का ज्ञान आदि में (सृष्टि के) आप्त महर्षियों के हृदय में ईश्वर प्रकट करता है, ऐसा ज्ञान ईश्वर का महर्षियों के हृदय में प्रकट कर देना यही ईश्वर का उपदेश कर देना मानने योग्य है। भूत भविष्यत् काल में हुए और होने वाले मन्वन्तर और युगान्तरों में वेदों के सम्प्रदाय (पद्धति) का अभ्यास और प्रयोग चला आना एवं चला जाना सम्बन्ध का न टूटना यही वेदों का नित्य होना है।

शास्त्र में जिस रोग की निवृत्ति के लिये जो उपाय लिखे हैं । उन का फल ठीक उसी प्रकार देखने में आता। (जैसा शास्त्र में लिखा है।) आप्त उन्हें कहते हैं जो यथार्थ वक्ता, दूसरे के हित की इच्छा करने वाले, प्राणीमात्र पर दयावान, धर्म के तत्त्व जानने वाले हों। ऐसे लोग जीवों के हितार्थ त्यागने योग्य या ग्रहण करने योग्य पदार्थों का उपदेश करते हैं। जैसे आप्तों के उपदेश से दृष्टफल कहने वाले वैद्यकशास्त्र का प्रमाण होना सिद्ध होता उसी प्रकार आप्त लोगों के उपदेश से वेदादि सत्य शास्त्रों की भी प्रमाणता माननी चाहिये। और जो दृष्टफल वाले वैद्यकशास्त्र आदि के कर्त्ता ऋषि मुनि प्रामाणिक लोक हैं, वेही वेदार्थ के जानने वाले और व्याख्यान करने वाले हैं। इससे भी वेद का प्रमाण होना सिद्ध होता है। जिस प्रकार बटलो ही में एक चावल के टटोलने से सब चावल पक गये या कच्चे हैं, इस बात का ज्ञान केवल एक ही दो चावल के टटोलने से हो जाता है। इसी प्रकार दृष्टफल वाक्य के प्रमाण होने से अदृष्टार्थक (जिस का फल प्रत्यक्ष नदीख पड़े) वाक्य का भी प्रमाण होना अनुमान से सिद्ध होता है ॥ ६८ ॥

न्यायशास्त्र के द्वितीय अध्याय के प्रथम आन्हिक का अनुवाद पूरा हुआ।

—○:‡:*:‡:○—

अयथार्थः प्रमाणोद्देश इति मत्वाऽऽह ॥

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसंभवाऽभावप्रामाण्यात् ॥ १ ॥

न चत्वार्य्येव प्रमाणानि किं तर्ह्यैतिह्यमर्थापत्तिः संभवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि तानि कस्मान्नोक्तानि। इति होचुरित्यनिर्दिष्टप्रवक्तृकं प्रवादपारम्पर्यमैतिह्यम्। अर्थादापत्तिरर्थापत्तिः। आपत्तिः प्राप्तिः प्रसङ्गः यथाऽभिधीयमानेऽर्थे योऽन्योऽर्थः प्रसज्यते सोऽर्थापत्तिः। यथा मेघेष्वसत्सु वृष्टिर्न भवतीति किमत्र प्रसज्यते सत्सु भवतीति। सम्भवो नामाविनाभाविनोऽर्थस्य सत्ताग्रहणादन्यस्य सत्ताग्रहणम्। यथा द्रोणस्य सत्ताग्रहणादाढकस्य सत्ताग्रहणम् आढकस्य ग्रहणात्प्रस्थस्येति। अभावो विरोधी अभूतं भूतस्याविद्यमानं वर्षकर्म विद्यमानस्य वाय्वभ्रसंयोगस्य प्रतिपादकं विधारके हि वाय्वभ्रसंयोगे गुरुत्वादपां पतनकर्म न भवतीति। सत्यम् एतानि प्रमाणानि न तु प्रमाणान्तराणि। प्रमाणान्तरं च मन्यमानेन प्रतिषेध उच्यते। सोयम्।

भा०:—चार ही प्रमाण नहीं हैं (अ० १ । १ । ३) किन्तु ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव, और अभाव, ये चार और मिल कर आठ प्रमाण हैं। जिस का क-

हमें उस का मालूम नहीं, परन्तु परम्परा से प्रवाद चला आता है। मतलब यह है कि जिस का मुख्य वक्ता प्रसिद्ध न हो केवल एक से दूसरे ने, फिर दूसरे से तीसरे ने, इसीप्रकार से लोक में जो परम्परा से कहते चले आये उसे 'ऐतिह्यप्रमाण' कहते हैं जैसे किसी ने कह दिया कि 'इस बड़ के वृक्ष पर भूत रहता है' जो पूछो कि इस में क्या सबूत है? तो यही जवाब मिलेगा कि 'बड़े लोगों से सुनते चले आये हैं'। बस इसी का नाम ऐतिह्य है। अर्थ--(मतलब) से जो हासिल हो यानी एक अर्थ के कहने से दूसरे अर्थकी प्राप्ति अवश्य हो जाय उस को 'अर्थापत्ति' कहते हैं। जैसे किसी ने कहा कि यह देवदत्त (कोई शख्स) मोटा है और दिन में नहीं खाता, बस इतने कहने ही से रात को खाता है, यह बात सिद्ध होजायगी, क्योंकि विन भोजन के मोटा नहीं हो सकता। सम्भव-(मुमकिन) वह है जैसे मन (तौल) में पंसेरी और पंसेरी में सेर, यानी मन पंसेरी के बिना नहीं बन सकता, तो मन के होने से पंसेरी का होना 'सम्भव प्रमाण' से जाना जायगा। कारण के न होने से कार्य के न होने का ज्ञान 'अभाव' प्रमाण से होता है ॥१॥

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ २ ॥

अनुपपन्नः प्रतिषेधः। कथम् आप्तोपदेशः शब्द इति न च शब्दलक्षणमैतिह्याद् व्यावर्तते सोऽयं भेदः सामान्यात्संगृह्यत इति। प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य सम्बद्धस्य प्रतिपत्तिरनुमानम्। तथा चार्थापत्तिसम्भवाभावाः वाक्यार्थसम्प्रत्ययेनानभिहितस्यार्थस्य प्रत्यनीकभावाद्ग्रहणमर्थापत्तिरनुमानमेव। अविनाभाववृत्त्या च सम्बद्धयोः समुदायसमुदायिनोः समुदायेनेतरस्य ग्रहणं सम्भवः तदप्यनुमानमेव। अस्मिन्सतीदं नोपपद्यत इति विरोधित्वे प्रसिद्धे कार्यानुत्पत्त्या कारणस्य प्रतिबन्धकमनुमीयते। सोऽयं यथार्थ एव प्रमाणोद्देश इति। सत्यमेतानि प्रमाणानि न तु प्रमाणान्तराणीत्युक्तम् अत्रार्थापत्तेः प्रमाणभावाभ्यनुज्ञा उपपद्यते तथा ह्येवम् ॥

भाषा - चार प्रमाण होने का जो खण्डन किया है, सो ठीक नहीं। क्योंकि प्रत्यक्ष से सम्बद्ध अप्रत्यक्ष का ज्ञान अनुमान कहाता है। उसी तरह देवदत्त का मोटा होना जो प्रत्यक्ष देख पड़ता है उस से अप्रत्यक्ष रात्रि के भोजन का ज्ञान अनुमान से होता है। जब कहा कि 'देवदत्त मोटा है' और 'दिन में नहीं खाता' तब निस्सन्देह रात में खाता होगा, ऐसा अनु-

मान होता है । क्योंकि बिना भोजन मोटापन सिद्ध नहीं होता । सम्भव-प्रमाण से मन में पंसेरी का ज्ञान होता है, यह भी अनुमान ही है, क्योंकि पंसेरियों के समुदाय को मन कहते हैं। और बिन अवयवों (जुज़ के) के अवयवी (कुल) नहीं रह सकता तो जब अवयवी मौजूद है, तब उस के अवयवों के ज्ञान अनुमान से होने में क्या रुकावट है ? इसीप्रकार कारण के अभाव से कार्य्य का अभाव अनुमान ही से मालूम होता है । इसे अलग प्रमाण मानना आवश्यक नहीं । इतने प्रबन्ध से यह साबित हो गया कि ऐतिह्य आदि प्रमाण तो हैं, लेकिन चार प्रमाणों से अलग नहीं हैं ॥ २ ॥

अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ॥ ३ ॥

असत्सु मेघेषु वृष्टिर्न भवतीति सत्सु भवतीत्येतदर्थादापद्यते सत्स्वपि चैकदा न भवति सेयमर्थापत्तिरप्रमाणमिति । नानैकान्तिकत्वमर्थापत्तेः ॥

भा०:-(अर्थापत्ति का खण्डन) व्यभिचार होने से अर्थापत्ति प्रमाण नहीं होसकता, । जैसे किसी ने कहा कि मेघों के न रहने वर्षा नहीं होगी, तब इस से सिद्ध हुआ कि मेघों के रहने से वर्षा होती है-यह अर्थापत्ति का फल है। लेकिन कभी २ बद्दलों के रहने भी वृष्टि नहीं होती इसलिये अर्थापत्ति प्रमाण नहीं होसकता ॥ ३ ॥

अनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानात् ॥ ४ ॥

असति कारणे कार्यं नोत्पद्यत इति वाक्यात्प्रत्यनीकभूतोऽर्थः सति कारणे कार्यमुत्पद्यत इत्यर्थादापद्यते । अभावस्य हि भावः प्रत्यनीक इति । सोऽयं कार्योत्पादः सति कारणेऽर्थादापद्यमानो न कारणस्य सत्तां व्यभिचरति । न खल्वसति कारणे कार्यमुत्पद्यते तस्मान्नानैकान्तिकी । यत्तु सति कारणे निमित्तप्रतिबन्धात्कार्यं नोत्पद्यते इति कारणधर्मोऽसौ न त्वर्थापत्तेः प्रमेयम् । किं तर्ह्यस्याः प्रमेयं सति कारणे कार्यमुत्पद्यतइति योऽसौ कार्योत्पादः कारणसत्तां न व्यभिचरति तदस्याः प्रमेयम् । एवं तु सत्यनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानं कृत्वा प्रतिषेध उच्यते इति । दृष्टश्च कारणधर्मो न शक्यः प्रत्याख्यातुमिति ॥

भा०:—(उत्तर) अर्थापत्ति में व्यभिचार (दोष) नहीं आता, जो अर्थापत्ति नहीं है उसमें अर्थापत्ति होने का अभिमान होने से । कारण के न होने में कार्य की उत्पत्ति नहीं होती, इस वाक्य से विरोधी अर्थ कारण के विद्यमान रहते कार्य उत्पन्न होता है, यह (अर्थ से) सिद्ध होजाता है क्योंकि, अभाव

का विरोधी भाव, है इसलिये कारण की विद्यमानता में कार्य का होना कारण की विद्यमानता का व्यभिचार नहीं है। क्योंकि यह निश्चित है कि कारण के न रहते कार्य की उत्पत्ति कभी नहीं होती, इसलिये व्यभिचार नहीं है। और जो कारण के विद्यमान रहते, किसी निमित्त के प्रतिबन्ध से कार्य का न होना, यह तो कार्य का धर्म है। अर्थापत्ति का प्रमेयत्व नहीं, अर्थापत्ति का प्रमेय तो इतना ही है कि कारण के विद्यमान रहते कार्य होता है, इस से यह बात सिद्ध होगयी कि अनर्थापत्ति में अर्थापत्ति का अभिमान कर खण्डन किया गया है ॥ ४ ॥

प्रतिषेधाप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात् ॥ ५ ॥

अर्थापत्तिर्न प्रमाणम् अनैकान्तिकत्वादिति वाक्यं प्रतिषेधः। तेनानेनार्थापत्तेः प्रमाणत्वं प्रतिषिध्यते न सद्भावः एवमनैकान्तिको भवति। अनैकान्तिकत्वादप्रमाणेनानेन न कश्चिदर्थः प्रतिषिध्यत इति। अथ मन्यसे नियतविषयेष्वर्थेषु स्वविषये व्यभिचारो भवति न च प्रतिषेधस्य सद्भावो विषयः एवं तर्हि।

भा०:—'अर्थापत्ति प्रमाण नहीं है क्योंकि इस में 'व्यभिचार होता है' इस प्रकार निषेध किया गया है। इससे अर्थापत्ति के प्रमाण होने का खण्डन होता है न कि अर्थापत्ति की सत्ता का। तो यह खण्डन भी अनैकान्तिक (Defective) या दोष युक्त हुआ तो—अप्रमाणिक से किसी वस्तु का खण्डन नहीं हो सकता क्योंकि जो स्वयं अप्रमाण है, वह दूसरे का खण्डन क्योंकर कर सकेगा? यदि कहो कि जिन अर्थों का विषय नियत रहता, उन का अपने विषय में व्यभिचार होता और निषेध का विषय असद्भाव नहीं। यानी अर्थापत्ति की विद्यमानता का निषेधक नहीं ॥ ५ ॥

तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्त्यप्रामाण्यम् ॥ ६ ॥

अर्थापत्तेरपि कार्योत्पादेन कारणसत्ताया अव्यभिचारो विषयः। न च कारणधर्मो निमित्तप्रतिबन्धात् कार्यानुत्पादकत्वमिति ॥ अभावस्य तर्हि प्रमाणभावाभ्यनुज्ञा नोपपद्यते कथमिति।

भा०:—(प्रतिषेध को प्रमाणतः मानोगे, तो अर्थापत्ति का भी अप्रमाण सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि) कारण की विद्यमानता में कार्य के होने से अर्थापत्ति का भी अव्यभिचार विषय है। मतलब—यह है कि जो कहीं व्यभिचार आने पर भी निषेध को प्रमाण मानोगे, तो अर्थापत्ति प्रमाण क्यों नहीं ? ॥ ६ ॥

नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः ॥ ७ ॥

अभावस्य भूयसि प्रमेये लोकसिद्धे वैयात्यादुच्यते नाभावप्रामाण्य प्रमेयासिद्धेरिति । अथायमर्थबहुत्वादर्थैकदेश उदाह्रियते ।

भा०:-अभाव-का प्रमाण होना नहीं होसकता, प्रमेय के प्रसिद्ध न होने से, क्योंकि जिस का प्रमेय प्रसिद्ध नहीं, वह प्रमाण किस का ? (इस लिये इस का मानना व्यर्थ है) ॥ ७ ॥

लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धेः ॥ ८ ॥

तस्याभावस्य सिध्यति प्रमेयम् । कथं लक्षितेषु वासःसु अनुपादेयेषु उपादेयानामलक्षितानामलक्षणलक्षितत्वात् लक्षणाभावेन लक्षितत्वादिति । उभयसंनिधावलक्षितानि वासांस्यानयेति प्रयुक्तो येषु वासस्सु लक्षणानि न भवन्ति तानि लक्षणाभावेन प्रतिपद्यते प्रतिपद्य चानयति प्रतिपत्तिहेतुश्च प्रमाणमिति ।

भा:०-प्रमेय सिद्ध होने से अभाव प्रमाण है, जैसे कई कपड़े चिन्ह वाले (काला,पीला,नीला आदि चाहे कोई चिन्ह हो) और कई एक विना चिन्ह के हों, और एक ही जगह दोनों वस्त्रधरे हों, अब यदि किसी मनुष्य को यह कहा जावे कि "तू उन वस्त्रों में से विन चिन्ह वाले वस्त्र को लेआ" तो वह जिन वस्त्रों में चिन्ह नहीं देखेगा, उन्हीं को लावेगा । तो लक्षणों के अभाव से ज्ञान हुआ और जो ज्ञान का हेतु है, वह प्रमाण कहाता है ॥ ८ ॥

असत्यर्थे नाभाव इति चेद् नान्यलक्षणोपपत्तेः ॥ ९ ॥

यत्र भूत्वा किं चिन्न भवति तत्र तस्याभाव उपपद्यते अलक्षितेषु च वासस्सु लक्षणानि भूत्वा न भवन्ति। तस्मात्तेषु लक्षणाभावोऽनुपपन्न इति। नान्यलक्षणोपपत्तेः यथाऽयमन्येषु वासस्सु लक्षणानामुपपत्तिं पश्यति नैवमलक्षितेषु सोयं लक्षणाभावं पश्यन्नभावेनार्थं प्रतिपद्यते इति ।

भा०:-जहां पहिले होकर फिर कुछ न हो, वहां उस का अभाव कहा जाता जैसे किसी स्थान में पहिले घट रक्खा था और फिर वहां से वह हटा लिया गया, तो वहां के घड़े का अभाव होगया । विन चिन्ह वाले वस्त्रों में पहिले चिन्ह थे और फिर दूर कर दिये गये, ऐसा नहीं है, इस लिये उन में चिन्ह का रहना सिद्ध नहीं हो सकता, यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जैसे चिन्ह वाले वस्त्रों में चिन्हों की उपपत्ति देखता है उसी तरह अलक्षितों में लक्षणों के न रहने को देख कर वस्तु को जान लेता है ॥ ९ ॥

तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः ॥ १० ॥

तेषु वासस्सु लक्षितेषु सिद्धिर्विद्यमानता येषां भवति न तेषामभावो लक्षणानाम् । यानि च लक्षितेषु विद्यन्ते लक्षणानि तेषामलक्षितेष्वभाव इत्यहेतुः । यानि खलु भवन्ति तेषामभावो व्याहत इति ।

भा०:—लक्षण वाले वस्त्रों में जो लक्षण विद्यमान हैं. उन लक्षणों का अभाव नहीं हो सकता और जो लक्षितों में लक्षण विद्यमान हैं. उन का अलक्षितों में अभाव कहना बाधित है. क्योंकि जो विद्यमान है उस का अभाव वन्ध्या के पुत्र की नाईं है ॥ १० ॥

न लक्षणावस्थितापेक्षासिद्धेः ॥ ११ ॥

न ब्रूमो यानि लक्षणानि भवन्ति तेषामभाव इति किं तु केषुचिल्लक्षणान्यवस्थितानि अनवस्थितानि केषु चिदपेक्षमाणो येषु लक्षणानां भावं न पश्यति तानि लक्षणाभावेन प्रतिपद्यतइति ।

भा०:—ऐसा नहीं कहते कि जो लक्षण विद्यमान है उन का अभाव है, परन्तु कितनों में लक्षण विद्यमान और बहुतों में अविद्यमान हैं । अब जिन में लक्षणों की विद्यमानता नहीं देखता उन्हें लक्षणाभाव से जानता है ॥११॥

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ॥ १२ ॥

अभावद्वैतं खलु भवति प्राक् चोत्पत्तेरविद्यमानता उत्पन्नस्य चात्मनो हानादविद्यमानता। तत्रालक्षितेषु वासस्सु प्रागुत्पत्तेरविद्यमानतालक्षणो लक्षणानामभावो नेतर इति ।

आप्तोपदेशः शब्द इति प्रमाणभावे विशेषणं ब्रुवता नानाप्रकारः शब्द इति ज्ञाप्यते तस्मिन् सामान्येन विचारः किं नित्योऽथानित्य इति। विमर्शहेत्वनुयोगे च विप्रतिपत्तेः संशयः *। आकाशगुणः शब्दो विभुर्नित्योऽभिव्यक्तिधर्मक इत्येके। गन्धादिसहवृत्तिर्द्रव्येषु सन्निविष्टो गन्धादिवदवस्थितोऽभिव्यक्तिधर्मक इत्यपरे। अकाशगुणः शब्द उत्पत्तिनिरोधधर्मको बुद्धिवदित्यपरे। महाभूतसंक्षोभजः शब्दोऽनाश्रितः उत्पत्तिधर्मको निरोधधर्मक इत्यन्ये। अतः संशयः किमत्र तत्त्वमिति । अनित्यः शब्द इत्युत्तरम् । कथम् ?

भा०:—अभाव दो प्रकार का होता, है, एक जो उत्पत्ति होने के पहिले जैसे जब तक घट उत्पन्न नहीं हुआ, तब तक उस का अभाव है और

---

* इस को कलकत्ता आदि की छपी पुस्तकों में प्रमाद से सूत्र करके माना है।

दूसरा जब कोई वस्तु नष्ट हो जाती, तब उस का अभाव हो जाता है। अ-स्खलित वस्तुओं में १ प्रकार का अभाव होता है।

शब्द के प्रमाण होने में 'आप्तोपदेश', यह विशेषण दिया है। अर्थात् 'जो यथार्थ वक्ता का शब्द है, वह प्रमाण है' इस विशेषण से शब्द का अनेक प्रकार का होना जान पड़ता है। उस में सामान्यरूप से विचार किया जाता है कि शब्द नित्य है या अनित्य ?। ‡ शब्द आकाश का गुण नित्य औ अभिव्यक्ति धर्म वाला (क्रिया से शब्द का, केवल आविर्भाव होता, उस की उत्पत्ति नहीं होती) ऐसा कोई कहते हैं। ‡‡ कई एक लोग गन्ध आदि गुणों का सह चारी द्रव्य में प्रविष्ट अभिव्यक्ति धर्म वाला शब्द है ऐसा मानते हैं। * शब्द आकाश का गुण उत्पत्ति और विनाश वाला है किन्हीं लोगों का ऐसा मत है। और कोई लोग ऐसा कहते हैं कि + शब्द महाभूतों के क्षोभ से उत्पन्न होता किसी के आश्रित नहीं। उत्पत्ति और विनाश धर्म वाला है। अतएव सन्देह होता है, कि इस में तत्त्व क्या है? इस का उत्तर यह है कि शब्द अनित्य है ॥ १२ ॥ (क्योंकि)

आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात्कृतकवदुपचाराच्च ॥ १३ ॥

आदिर्योनिः कारणम् आदीयते अस्मादिति। कारणवदनित्यं दृष्टम्। संयोगविभागजश्च शब्दः कारणवत्त्वादनित्य इति। का पुनरियमर्थदेशना कारणवत्त्वादिति उत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यः शब्द इति भूत्वा न भवति विनाशधर्मक इति सांशयिकमेतत् किमुत्पत्तिकारणं संयोगविभागौ शब्दस्य आहो स्विदभिव्यक्तिकारणमित्यत आह। ऐन्द्रियकत्वात् इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्य ऐन्द्रियकः किमयं व्यञ्जकेन समानदेशोऽभिव्यज्यते रूपादिवत् अथ संयोगजाच्छब्दाच्छब्दसन्ताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नो गृह्यत इति।

* संयोगनिवृत्तौ शब्दग्रहणान्न व्यञ्जकेन समानदेशस्य ग्रहणम्।

दारुव्रश्चने दारुपरशुसंयोगनिवृत्तौ दूरस्थेन शब्दो गृह्यते। न च व्यञ्जकाभावे व्यङ्ग्यग्रहणं भवति तस्मान्न व्यञ्जकः संयोगः। उत्पादके तु संयोगे संयोगजाच्छब्दाच्छब्दसन्ताने सति श्रोत्रप्रत्यासन्नस्य ग्रहणम् इति युक्तं संयोगनिवृत्तौ शब्दस्य ग्रहणमिति। इतश्च शब्द उत्पद्यते नाभिव्यज्यते कृतकवदुपचारात्। तीव्रं मन्दमिति कृतकमुपचर्यते तीव्रं सुखं मन्दं सुखं तीव्रं दुःखं मन्दं दुःखमिति। उपचर्यते च तीव्रः शब्दो मन्दः शब्द इति।

---

‡ मीमांसा शास्त्र का मत है। ‡‡ सांख्य का मत है।

* वैशेषिक का मत है। + बौद्धों का मत है।

* व्यञ्जकस्य तथाभावाद् ग्रहणस्य तीव्रमन्दता रूपवदिति चेद् न अभिभवोपपत्तेः ।

संयोगस्य व्यञ्जकस्य तीव्रमन्दतया शब्दग्रहणस्य तीव्रमन्दता भवति न तु शब्दो भिद्यते यथाप्रकाशस्य तीव्रमन्दतया रूपग्रहणस्येति तच्च नैवम् अभिभवोपपत्तेः । तीव्रो भेरीशब्दो मन्दं तन्त्रीशब्दमभिभवति न मन्दः । न च शब्दग्रहणमभिभावकं शब्दश्च न भिद्यते शब्दे तु भिद्यमाने युक्तोऽभिभवः तस्मादुत्पद्यते शब्दो नाभिव्यज्यत इति ।

* अभिभवानुपपत्तिश्च व्यञ्जकसमानदेशस्याभिव्यक्तौ प्राप्त्यभावात् ।

व्यञ्जकेन समानदेशोऽभिव्यज्यते शब्द इत्येतस्मिन्पक्षे नोपपद्यतेऽभिभवः । न हि भेरीशब्देन तन्त्रीस्वनः प्राप्त इति ।

* अप्राप्तेऽभिभव इति चेच् शब्दमात्राभिभवप्रसङ्गः ।

अथ मन्येतासत्यां प्राप्तावभिभवो भवतीति । एवं सति यथा भेरीशब्दः कं चित्तन्त्रीस्वनमभिभवति एवमन्तिकस्थोपादानमिव दवीयःस्थोपादानानपि तन्त्रीस्वनानभिभवेद् अप्राप्तेरविशेषात् । तत्र क्व चिदेव भेर्यां प्रणादितायां सर्वलोकेषु समानकालास्तन्त्रीस्वना न श्रूयेरन् इति । नाना भूतेषु शब्दसन्तानेषु सत्सु श्रोत्रप्रत्यासत्तिभावेन कस्य चिच्छब्दस्य तीव्रेण मन्दस्याभिभवो युक्त इति । कः पुनरयमभिभवो नाम । ग्राह्यसमानजातीयग्रहणकृतमग्रहणम् अभिभवः । यथोल्काप्रकाशस्य ग्रहणार्हस्यादित्यप्रकाशेनेति ॥

भा०:—आदि नाम कारण का है। जो कारण युक्त है वह अनित्य देखा गया । शब्द संयोग और विभाग से उत्पन्न होता है, उत्पत्ति धर्मवाला होने से शब्द अनित्य हुआ । क्या संयोग और विभाग उत्पत्ति के कारण हैं, या अभिव्यक्ति के ? यह सन्देह हुआ इसलिये दूसरा हेतु दिखलाते हैं कि ऐन्द्रियकत्व से यानी इन्द्रिय के सम्बन्ध से ज्ञान होता है। अब यहां विचार योग्य बात है कि जिस देश में शब्द का व्यञ्जक (प्रकट करने वाला) स्थित है उस देश वाले शब्द का ज्ञान होता है, जैसे रूप का। या संयोग से एक शब्द उत्पन्न हुआ, उससे दूसरा, फिर तीसरा, चौथा, यों शब्द परम्परा से जो शब्द कर्ण इन्द्रिय से संयुक्त हुआ उसी का प्रत्यक्ष होता है। कान की झिल्ली से मिले शब्द ही का बोध होता है, इस में कोई सन्देह नहीं यदि जहां व्यञ्जक है,

वहीं शब्द की अभिव्यक्ति मानी जावे तो जिस स्थान में ढोल का संयोग हुआ है, वहीं शब्द प्रकट हुआ, फिर श्रोता दूर देश में खड़ा हो, तो वह शब्द उसे कैसे सुन पड़ेगा? क्योंकि शब्द का कारण दण्ड और ढोल का संयोग तो अब रहा ही नहीं। वह तो पहिले ही नष्ट हो गया। व्यञ्जक के अभाव में व्यङ्ग्य (प्रकट होने वाली चीज़) भी नहीं रहता। कृतकवत् उपचार से भी यही सिद्ध होता है कि शब्द की ‡उत्पत्ति होती है न कि *अभिव्यक्ति। शब्द अनित्य है कृतकवत् उपचार से "जैसे उत्तम सुख, मन्द सुख, कठिन दुःख, साधारण दुःख" ऐसा व्यवहार होता है। इसीप्रकार तीखा शब्द, मन्द शब्द ऐसा भी अनुभव में आता है इस कारण शब्द अनित्य हुआ। यदि कहो कि व्यञ्जक की तीव्रता या मन्दता से शब्द के जानने में तीव्रता या मन्दता मालूम पड़ती है जैसे जब प्रकाश की तीव्रता होती है तब रूप का ज्ञान विशेष होता है और जब प्रकाश मन्द होता है, तब रूप का ज्ञान भी मन्द ही होता है। यही हाल शब्द का जानो। तो नगाड़े का तीव्र शब्द वीने के मन्द शब्द को दबा देता अर्थात् वीना का नाद सुन नहीं पड़ता। यह बात सिद्ध न हो सकेगी। क्योंकि अभिव्यक्ति तो जहां नगाड़ा रक्खा है, वहां हुई और वीना की ध्वनी दूसरे स्थान में। फिर जब स्थान ही भिन्न २ हुए, फिर एक शब्द से दूसरे का दबाना कैसे बनेगा? यदि कहो कि शब्द की शक्ति विलक्षण है, बिन पहुंचते ही अपने घर बैठे दूर से शब्द को दबा देता है, तो फिर बड़ा ही गोलमाल होगा। जैसा नगाड़े का तीव्र शब्द पास के वीना नाद को दबा देता, उसी प्रकार दूर देश वीने के शब्द को दबा देगा। फिर एक ही नगाड़े के तीव्र शब्द से संसार भर के जितने मन्द शब्द एक काल में होंगे, कोई भी सुन न पड़ेंगे। और जब शब्द की परम्परा उत्पन्न होती है, यह सिद्धान्त मान लिया है, तो फिर कुछ अनुपपत्ति नहीं आती। कान के संयोग से किसी शब्द की तीव्रता से कोई मन्द शब्द दब जाता है इसलिये शब्द अनित्य है ॥ १३ ॥

‡ उत्पत्ति उस की होती है जो पहिले से विद्यमान न हो जैसे देवदत्त को पुत्र उत्पन्न हुआ तो यहां पहिले से पुत्र न था अब हुआ। यह उत्पत्ति कहावेगी। यही उत्पत्ति और अभिव्यक्ति में अन्तर (भेद) है।

* अभिव्यक्ति अर्थात्–जो वस्तु पहिले से विद्यमान है परन्तु किसी कारण से उस का ज्ञान नहीं होता जैसे कोई वस्तु अन्धकार में रक्खी है पर देख नहीं पड़ती, फिर दीपक देखाने से दीखने लगी इस को अभिव्यक्ति कहते हैं।

न घटाभावसामान्यनित्यत्वान्नित्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च ॥ १४

न खलु आदिमत्त्वादनित्यः शब्दः। कस्मात् व्यभिचारात्। आदिमतः खलु घटाभावस्य दृष्टं नित्यत्वम्। कथमादिमान् कारणविभागेभ्यो हि घटो न भवति। कथमस्य नित्यत्वं योऽसौ कारणविभागेभ्यो न भवति न तस्याभावो भावेन कदा चिन्निवर्त्यत इति। यदप्यैन्द्रियकत्वात् तदपि व्यभिचरति ऐन्द्रियकं च सामान्यं नित्यं चेति। यदपि कृतकवदुपचारादिति। एतदपि व्यभिचरति। नित्येष्वनित्यवदुपचारो दृष्टो यथा हि भवति वृक्षस्य प्रदेशः कम्बलस्य प्रदेशः एवमाकाशस्य प्रदेशः आत्मनः प्रदेश इति भवतीति ॥

भा०:-घट के अभाव की नित्यता से और नित्यों में भी अनित्य के तुल्य उपचार होने से व्यभिचार आता है इस लिये उक्त हेतुओं से शब्द का अनित्य होना सिद्ध नहीं होसकता, जैसे कहा था कि 'कारण वाला होने से शब्द अनित्य है' यह ठीक नहीं, क्योंकि घटाभाव भी कारण वाला है। जब तक घट विद्यमान है तब तक उस का अभाव नहीं, जब घट फूट गया, तब उस का अभाव हो गया। अब यह अभाव सदा वर्त्तमान रहेगा इसलिये नित्य है। पर आदिमान (कारण वाला) है। जो कहा था कि 'ऐन्द्रियक होने से शब्द अनित्य है' इस में भी व्यभिचार आता है, क्योंकि घटत्व, पटत्व और ब्राह्मणत्व आदि जातियों का भी ग्रहण इन्द्रियों ही से होता है। परन्तु जाति नित्य है. यह सिद्धान्त है, तो ऐन्द्रियकत्व में भी व्यभिचार आगया, इस से शब्द के अनित्यत्व सिद्ध होने की आशा कब हो सकती है? और जो 'कृतकवत् उपचार' दिखलाया था उस की भी यही हालत है। यानी उस में भी व्यभिचार आता है, क्योंकि नित्यों में भी अनित्य का ऐसा उपचार किया जाता है जैसे वृक्ष का प्रदेश, कम्बल का स्थान, इस प्रकार व्यवहार होता है। उसी प्रकार आकाश का प्रदेश, आत्मा का स्थान, यह व्यवहार होता है इसलिये उक्त हेतु भी सत्य हेतु नहीं हो सकता ॥१४॥

तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचारः ॥ १५ ॥

नित्यमित्यत्र किं तावत्तत्त्वम् आत्मान्तरस्यानुत्पत्तिधर्मकस्यात्महानानुपपत्तिर्नित्यत्वं तच्चाभावे नोपपद्यते। भाक्तं तु भवति यत्तत्रात्मानमहासीद्यद्भूत्वा न भवति न जातु तत्पुनर्भवति तत्रानित्य इव नित्यो घटाभाव इत्ययं पदार्थ इति तत्र यथाजातीयकः शब्दो न तथाजातीयकं कार्यं किं चिन्नित्यं दृश्यत इत्यव्यभिचारः। यदपि सामान्यनित्यत्वादिति इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्यमैन्द्रियकमिति ॥

भा०:—पारमार्थिक और गौण भेद के विवेक से दोष नहीं आता। नित्य वही है जिस की कभी उत्पत्ति और विनाश न हो। यानी जो सब समय में एकसां विद्यमान हो, जैसे आत्मा, आकाश आदि पदार्थ हैं। ठीक २ नित्यता इन्हीं में है। घटाभाव में उक्त प्रकार का नित्यत्व नहीं है, क्योंकि यह उत्पत्तिमान है इसलिये इस का नित्यत्व काल्पनिक (फर्जी) है। जिस जाति का जैसा शब्द होता, उस का अपनी जाति सा कुछ कार्य नित्य देखने में नहीं आता इस कारण व्यभिचार नहीं है ॥ १५ ॥

सन्तानानुमानविशेषणात् ॥ १६ ॥

नित्ये व्यभिचार इति प्रकृतम्। नेन्द्रियग्रहणसामर्थ्याच्छब्दस्यानित्यत्वं किं तर्हि इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्यत्वात् सन्तानानुमानं तेनानित्यत्वमिति। यदपि नित्येष्वप्यनित्यत्ववदुपचारादिति। न॥

भा०:—इन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होता है, केवल इसलिये हम शब्द को अनित्य नहीं कहते, किन्तु इन्द्रिय के संयोग से इस का ज्ञान होता है, तो संयोग होने के लिये एक शब्द से दूसरा, और उस से तीसरा, इसी रीति से शब्द की परम्परा का अनुमान किया जाता है। क्योंकि कर्ण इन्द्रिय तो शब्द के स्थान में जा नहीं सकता और संयोग जब तक न हो, तब तक शब्द का ज्ञान होना असम्भव है इस लिये शब्द अनित्य है। और जो कहा था कि 'नित्यों में भी अनित्य के ऐसा उपचार होता है' यह कहना ठीक नहीं ॥१६॥

कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्येष्वप्यव्यभिचार इति ॥ १७ ॥

एवमाकाशप्रदेशः आत्मप्रदेश इति नात्राकाशात्मनोः कारणद्रव्यमभिधीयते यथा कृतकस्य। कथं ह्यविद्यमानमभिधीयते। अविद्यमानता च प्रमाणतो ऽनुपलब्धेः। किं तर्हि तत्राभिधीयते संयोगस्याव्याप्यवृत्तित्वं परिच्छिन्नेन द्रव्येणाकाशस्य संयोगो नाकाशं व्याप्नोति अव्याप्य वर्त्तत इति तदस्य कृतकेन द्रव्येण सामान्यं न ह्यामलकयोः संयोग आश्रयं व्याप्नोति सामान्यकृता च भक्तिराकाशस्य प्रदेश इति अनेनात्मप्रदेशो व्याख्यातः। संयोगवच्च शब्दबुद्ध्यादीनाम् अव्याप्यवृत्तित्वमिति। परीक्षिता च तीव्रमन्दता शब्दतत्त्वं न भक्तिकृतेति। कस्मात्पुनः सूत्रकारस्यास्मिन्नर्थे सूत्रं न श्रूयते इति शीलमिदं भगवतः सूत्रकारस्य बहुष्वधिकरणेषु द्वौ पक्षौ न व्यवस्थापयति तत्र शास्त्रसिद्धान्तात्तत्त्वावधारणं प्रतिपत्तुमर्हतीति मन्यते। शास्त्रसिद्धान्तस्तु न्यायसमाख्यातम-

नुमतं बहुशाखमनुमानमिति । अथापि खल्विदमस्ति इदं नास्तीति कुत एतत्प्रतिपत्तव्यमिति प्रमाणत उपलब्धेरनुपलब्धेश्चेति। अविद्यमानस्तर्हि शब्दः ॥

भा०:—कारण द्रव्य का प्रदेश शब्द से कथन होने के कारण नित्यों में भी व्यभिचार नहीं हो सकता जैसे कहने में आता है कि 'आकाश का प्रदेश', 'आत्मा का प्रदेश', इस कथन से आकाश और आत्मा का कारण द्रव्य नहीं कहा जाता जैसा कि घटादि अनित्य पदार्थों का, तो फिर इस कथन से क्या सूचित होता है? उ०—संयोग का 'अव्याप्यवृत्तित्व' है क्योंकि परिच्छिन्न द्रव्य के साथ जो आकाश का संयोग है, वह आकाश का व्यापक नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश बहुत बड़ा है, उस का घटादि पदार्थों के साथ जो संयोग है, वह एक देश में रहता, सब देश में नहीं। यही समाधान 'आत्मा आदि का प्रदेश' इत्यादि वाक्यों का समझना चाहिये। जैसे संयोग 'अव्याप्यवृत्ति' है उसीप्रकार शब्द बुद्धि आदि भी अव्याप्यवृत्ति होते हैं। क्योंकि यह भी एकदेश में रहते हैं सब देश में नहीं। जो वस्तु किसी प्रदेश में हो और किसी में न हो, उसे अव्याप्यवृत्ति कहते हैं॥ १७॥

प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥ १८ ॥

प्रागुच्चारणान्नास्ति शब्दः । कस्मादनुपलब्धेः सतोऽनुपलब्धिरावरणादिभ्य एतन्नोपपद्यते । कस्माद् आवरणादीनामनुपलब्धिकारणानामग्रहणात् । अनेनावृतः शब्दो नोपलभ्यते असन्निकृष्टश्चेन्द्रियव्यवधानादित्येवमादि अनुपलब्धिकारणं न गृह्यतइति सोयमनुच्चारितो नास्तीति । उच्चारणमस्य व्यञ्जकं तदभावात्प्रागुच्चारणादनुपलब्धिरिति। किमिदमुच्चारणं नामेति । विवक्षाजनितेन प्रयत्नेन कोष्ठयस्य वायोः प्रेरितस्य कण्ठताल्वादिप्रतिघातः यथास्थानं प्रतिघाताद्वर्णाभिव्यक्तिरिति । संयोगविशेषो वै प्रतिघातः प्रतिषिद्धं च संयोगस्य व्यञ्जकत्वं तस्मान्न व्यञ्जकाभावादग्रहणम् । अपि स्वभावादेवेति । सोयमुच्चार्यमाणः श्रूयते श्रूयमाणश्च भूत्वा भवतीति अनुमीयते । ऊर्द्ध्वं चोच्चारणं श्रूयते स भूत्वा न भवति अभावान्न श्रूयतइति कथम् । आवरणाद्यनुपलब्धेरित्युक्तं तस्मादुत्पत्तितिरोभावधर्मकः शब्द इति । एवं च सति तत्त्वं पांशुभिरिवाकिरन्निदमाह ।

भा०:- उच्चारण‡ करने के पहिले शब्द नहीं रहता, यदि रहता तो सुन

‡ उच्चारण—वक्ता की इच्छा से उत्पन्न प्रयत्न (आभ्यन्तर और बाह्य) से प्रेरित कोष्ठ के वायु का जो कण्ठ, तालु आदि के साथ प्रतिघात (हरकत) होता है उस को उच्चारण कहते हैं।

पड़ता। यदि कहो कि उच्चारण के पहिले शब्द था, परन्तु आवरण आदि रुकावट रहने से सुनने में नहीं आता। यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि जहां किसी प्रकार की रोक नहीं, ऐसे मैदान में भी जब तक उच्चारण न करो, तब तक कोई शब्द सुन नहीं पड़ता इस्से सिद्ध होता है कि उच्चारण करने से पहिले शब्द न था पीछे उत्पन्न हुआ। जो उत्पन्न हो कर नष्ट हो, उस का नाम अनित्य है। इस सिद्धान्त पर आंखों में धूल भी डालते हुये कहते हैं ॥१८॥

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः ॥ १९ ॥

यद्यनुपलम्भादावरणं नास्ति आवरणानुपलब्धिरपि तर्ह्यनुपलम्भान्नास्तीति तस्या अभावादप्रतिषिद्धमावरणमिति। कथं पुनर्जानीते भवान्नावरणानुपलब्धिरुपलभ्यतइति। किमत्र ज्ञेयं प्रत्यात्मवेदनीयत्वात् समानम्। अयं खल्वावरणम् अनुपलभमानः प्रत्यात्ममेव संवेदयते नावरणमुपलभइति यथा कुड्येनावृतस्यावरणमुपलभमानः प्रत्यात्ममेव संवेदयते सेयमावरणोपलब्धिवदावरणानुपलब्धिरपि संवेद्यैवेति। एवं च सत्यपहृतविषयमुत्तरवाक्यमस्तीति अभ्यनुज्ञावादेन तूच्यते जातिवादिना।

भा०:—जैसे अनुपलम्भ अर्थात् अज्ञान से छिपा नहीं है, तो आवरण (परदा) की अनुपलब्धि भी अनुपलम्भ से नहीं है, अनुपलब्धि के अभाव से आवरण का निषेध नहीं हो सकता। जैसे कोई वस्तु दीवार की आड़ में रक्खी है यह जानने और दीवार की आड़ से देख न पड़ने से यह आत्मा में ज्ञान होता है कि यह आवरण है। इसीप्रकार आवरण के ज्ञान की नाईं अज्ञान का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। प्रत्यक्ष न होने से आवरण का होना सिद्ध होता है ॥ १९ ॥

अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भावान्नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भात् ॥ २० ॥

यथाऽनुपलभ्यमानाप्यावरणानुपलब्धिरस्ति एवमनुपलभ्यमानमप्यावरणमस्तीति यद्यभ्यनुजानाति भवान् नानुपलभ्यमानावरणानुपलब्धिरस्तीति अभ्यनुज्ञाय च वदति नास्त्यावरणमनुपलम्भादित्येतद् एतस्मिन्नप्यभ्यनुज्ञावादे प्रतिपत्तिनियमो नोपपद्यतइति।

भा०:—जिस प्रकार अनुपलभ्यमान भी आवरण की अनुपलब्धि है, उसी प्रकार अनुपलभ्यमान भी आवरण है। अर्थात् जो यह कहो कि आवरण की

अनुपलब्धि की उपलब्धि नहीं होती है, तो भी अनुपलब्धि है। तो इस का उत्तर यह है कि आवरण की उपलब्धि नहीं भी हो तथापि आवरण है ॥२०॥

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥ २१ ॥

यदुपलभ्यते तदस्ति यन्नोपलभ्यते तन्नास्ति इति अनुपलम्भात्मकमसदिति व्यवस्थितम्। उपलब्ध्यभावश्चानुपलब्धिरिति। सेयमभावत्वान्नोपलभ्यते सच्च खल्वावरणं तस्योपलब्ध्या भवितव्यं न चोपलभ्यते तस्मान्नास्तीति। तत्र यदुक्तं नावरणानुपपत्तिरनुपलम्भादित्ययुक्तमिति। अथ शब्दस्य नित्यत्वं प्रतिजानानः कस्माद्धेतोः प्रतिजानीते।

भा०:—जो ज्ञान का विषय होता है, वह है और जिस का ज्ञान नहीं होता, वह नहीं है, यह सिद्धान्त है। उपलब्धि के अभाव को अनुपलब्धि कहते हैं अभाव रूप होने से इस की उपलब्धि नहीं होती है। आवरण तो भावरूप पदार्थ है। इस की उपलब्धि होनी चाहिये और उपलब्धि तो होती ही नहीं इसलिये आवरण नहीं है। अब जो शब्द को नित्य मानता उस का हेतु यह है कि ॥ २१ ॥

अस्पर्शत्वात् ॥ २२ ॥

अस्पर्शमाकाशं नित्यं दृष्टमिति तथा च शब्द इति। सोयमुभयतः सव्यभिचारः स्पर्शवांश्चाणुर्नित्यः। अस्पर्शं च कर्मानित्यं दृष्टम्। अस्पर्शत्वादित्येतस्य साध्यसाधर्म्येणोदाहरणम्।

भा०:—आकाश का स्पर्श नहीं होता और वह नित्य है, इसीप्रकार शब्द का भी स्पर्श नहीं होता अतएव शब्द भी नित्य है॥ अब इस का साध्य के साधर्म्य के साथ उदाहरण देते हैं॥ २२॥

न कर्मानित्यत्वात् ॥ २३ ॥

साध्यवैधर्म्येणोदाहरणम्।

भा०:—व्यभिचारी होने से अस्पर्शत्व हेतु ठीक नहीं है, क्योंकि क्रिया का स्पर्श नहीं होता पर वह अनित्य है। अब वैधर्म्य का उदाहरण यह है कि ॥ २३ ॥

नाणुनित्यत्वात् ॥ २४ ॥

उभयस्मिन्नुदाहरणे व्यभिचारान्न हेतुः। अयं तर्हि हेतुः।

भा०—परमाणु का स्पर्श होता, पर नित्य है इसलिये अस्पर्शत्व हेतु से शब्द का नित्यत्व सिद्ध नहीं हो सकता। दो उदाहरणों में व्यभिचार (दोष)

आजाने से अस्पर्शत्व हेतु दुष्ट है। अर्थात् जिस २ पदार्थ का स्पर्श नहीं होता वह २ नित्य होता जैसे आकाश। इस प्रकार पूर्व पक्ष (शङ्का) करने वाला कहता है। परन्तु सिद्धान्ती शब्द का नित्यत्व कह कर खण्डन करता है कि "क्रिया का स्पर्श नहीं होता परन्तु अनित्य है"। यानी यह कोई नियम नहीं है कि जिस का स्पर्श न हो वह नित्य ही हो ॥ २४ ॥

सम्प्रदानात् ॥ २५ ॥

सम्प्रदीयमानमवस्थितं दृष्टं सम्प्रदीयते च शब्द आचार्येणान्तेवासिने तस्मादवस्थित इति।

भा०:—शब्द का सम्प्रदान होता है इसलिये (शब्द) नित्य है, क्योंकि जो पदार्थ दिया जाता है वह पहिले से विद्यमान रहता है। आचार्य शिष्य को शब्द देता है (पढ़ाता है) इसलिये पहिले से शब्द विद्यमान है. यह मानना ही पड़ेगा ॥ २५ ॥

तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः ॥ २६ ॥

येन सम्प्रदीयते यस्मै च तयोरन्तरालेऽवस्थानमस्य केन लिङ्गेनोपलभ्यते। सम्प्रदीयमानो ह्यवस्थितः सम्प्रदातुरपैति सम्प्रदानं च प्राप्नोति इत्यवर्जनीयमेतत्।

भा०:—देने वाले और लेने वाले के बीच में शब्द की उपलब्धि नहीं होती इसलिये उक्त हेतु भी ठीक नहीं। जो वस्तु विद्यमान रहती, वह देने वाले से अलग होके लेने वाले के पास पहुंचती है. इस प्रकार शब्द में नहीं होता कि जिस शब्द को पढ़ाने वाले ने शिष्य को दिया (पढ़ाया) तो अब वह शब्द आचार्य के पास रहा ही नहीं ॥ २६ ॥

अध्यापनादप्रतिषेधः ॥ २७ ॥

अध्यापनं लिङ्गमसति सम्प्रदानेऽध्यापनं न स्यादिति। उभयोः पक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः समानमध्यापनमुभयोः पक्षयोः संशयानतिवृत्तेः किमाचार्यस्थः शब्दोऽन्तेवासिनमापद्यते तदध्यापनम् आहो स्विन्नृत्योपदेशवद्गृहीतस्यानुकरणमध्यापनमिति। एवमध्यापनमलिङ्गं सम्प्रदानस्येति। अयं तर्हि हेतुः ॥

भा०:—पढ़ाये जाने से खण्डन नहीं हो सकता है। जो सम्प्रदान न होता, तो पढ़ना नहीं बन सकता इसलिये शब्द का देना स्वीकार करना चाहिये।

सन्देह की निवृत्ति न होने से दोनों पक्षों में पढ़ाना समान है। क्या गुरु उपदिष्ट शब्द शिष्य में पहुंचता है या नृत्य के समान होता है? जैसे नाच का सिखाने वाला, हाथ, पैर, आदि चलाता, है उसी प्रकार सीखने वाला उस की नक़ल करता है। इसी तरह शिष्य भी गुरु को जैसा शब्द बोलते देखता है उसी प्रकार वह भी उच्चारण करता है इस लिये पढ़ाना सम्प्रदान का हेतु नहीं हो सकता ॥ २७ ॥ अच्छा तो यह हेतु है:-

अभ्यासात् ॥ २८ ॥

अभ्यस्यमानमवस्थितं दृष्टम्। पञ्चकृत्वः पश्यतीति रूपमवस्थितं पुनः पुनर्दृश्यते। भवति च शब्देऽभ्यासः दशकृत्वोऽधीतोऽनुवाको विंशतिकृत्वोऽधीत इति तस्मादवस्थितस्य पुनः पुनरुच्चारणमभ्यास इति।

भा०:-जिस का अभ्यास किया जाता वह स्थिर देखा गया है जैसे पांच वार देखता है, स्थिर रूप फिर २ देखा जाता है इसीप्रकार शब्द में भी अभ्यास होता है। दश वार वाक्य पढ़ा, बीश वार पढ़ा इसलिये स्थित शब्द का वार २ उच्चारण करना ही अभ्यास है ॥ २८ ॥

नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् ॥ २९ ॥

अनवस्थानेऽप्यभ्यासस्याभिधानं भवति द्विर्नृत्यतु भवान् त्रिर्नृत्यतु भवानिति द्विरनृत्यत् त्रिरनृत्यद् द्विरग्निहोत्रं जुहोति द्विर्भुङ्क्ते एवं व्यभिचारात् प्रतिषिद्धहेतावन्यशब्दस्य प्रयोगः प्रतिषिध्यते ॥

भा०:--स्थिर न रहते भी अभ्यास का व्यवहार होता है जैसे 'तुम दो वार नाचो,' 'तीन वार नाचो,' 'दो वार अग्निहोत्र करता,' 'तीन वार होम करता', 'दो वार भोजन करता' इसप्रकार व्यभिचार आने से उक्त खण्डन ठीक नहीं। क्योंकि उदाहरण से सिद्ध हो गया कि नाचना आदि क्रिया पृथक् २ हैं तथापि अभ्यास का उपचार होता है. इसीप्रकार भिन्न २ शब्दों का अभ्यास होता है ॥ २९ ॥

अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताभावः ॥ ३० ॥

यदिदमन्यदिति मन्यसे तत् स्वार्थेनानन्यत्वादन्यन्न भवति एवमन्यताया अभावः तत्र यदुक्तमन्यत्वेऽप्यभ्यासोपचारादित्येतदयुक्तमिति शब्दप्रयोगं प्रतिषेधतः शब्दान्तरप्रयोगः प्रतिषिध्यते ॥

भा०:--उक्त खण्डन में जो 'अन्य' शब्द प्रयोग किया गया है-उसका उत्तर यह है कि अन्य जिस को कहते हो, वह अपने साथ अनन्य होने से अनन्य नहीं हो सकता अतएव अन्यता का अभाव हुआ। आशय यह है कि

अन्य (भिन्न) तो दूसरे का भेद इस में हो सकता है, अपने साथ तो भेद नहीं है, तो अनन्य हुआ। और जो अनन्य है, वह अन्य नहीं हो सकता इस लिये अन्यत्व का अभाव सिद्ध होता है ॥ ३० ॥

तदभावे नास्त्यनन्यता तयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः ॥ ३१ ॥

अन्यस्मादन्यतामुपपादयति भवान् उपपाद्य चान्यत् प्रत्याचष्टे अनन्यदिति च शब्दमनुजानाति प्रयुङ्क्ते चानन्यदिति । एतत् समासपदमन्यशब्दोऽयं प्रतिषेधेन सह समस्यते यदि चात्रोत्तरं पदं नास्ति कस्यायं प्रतिषेधेन सह समासः । तस्मात्तयोरनन्यान्यशब्दयोरितरोऽनन्यशब्द इतरमन्यशब्दमपेक्षमाणः सिद्धयतीति तत्र यदुक्तमन्यताया अभाव इत्येतदयुक्तमिति अस्तु तर्हीदानीं शब्दस्य नित्यत्वम् ॥

भा०:–सिद्धान्ती कहता है कि अन्यत्र का अभाव जो मानोगे तो अनन्यता भी न बनेगी, क्यों कि इन दोनों की सिद्धि परस्पर सापेक्ष है। जैसे कहा कि अनन्य तो यह समस्त पद है। इस का अर्थ यह है कि जो अन्य नहीं वह अनन्य कहाता, जो उत्तर पद अन्य न होगा तो किस का निषेध किया जायेगा। इस लिये अनन्य शब्द दूसरे अन्य शब्द की अपेक्षा करके सिद्ध होता है। इस में जो कहा था कि ' अन्यत्व का अभाव है ' यह कहना यथार्थ नहीं है। अच्छा तो अब शब्द का नित्य होना इस हेतु से सिद्ध [illegible] ॥ ३१ ॥

विनाशकारणानुपलब्धेः ॥ ३२ ॥

यदनित्यं तस्य विनाशः कारणाद्भवति यथा लोष्टस्य कारणद्रव्यविभागाच्च शब्दश्चेदनित्यस्तस्य विनाशो यस्मात्कारणाद्भवति तदुपलभ्येत न चोपलभ्यते तस्मान्नित्य इति ॥

भा०:--शब्द के नाश का कारण नहीं जान पड़ता इसलिये शब्द नित्य है। जो पदार्थ अनित्य होता है उस का नाश किसी कारण से होता है। जैसे वस्त्र का कारण सूत वा डोरों का संयोग जब डोरे अलग हो गये तब वस्त्र भी नष्ट हो जाता है। यदि शब्द अनित्य होता तो उस का नाश जिस कारण से होता वह जान पड़ता इसलिये शब्द नित्य है ॥ ३२ ॥

अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः ॥ ३३ ॥

यथा विनाशकारणानुपलब्धेरविनाशप्रसङ्गः एवमश्रवणकारणानुपलब्धेः सततं श्रवणप्रसङ्गः व्यञ्जकाभावादश्रवणमिति चेत् प्रतिषिद्धं व्यञ्जकम् । अथाविद्यमानस्य निर्निमित्तं श्रवणमिति विद्यमानस्य निर्निमित्तो विनाश इति

समानश्च दृष्टविरोधो निमित्तमन्तरेण विनाशे चाश्रवणे चेति ॥

भा०:—जैसे नाश के कारण की अनुपलब्धि से नाश का अभाव सिद्ध होता है, उसी प्रकार न सुनने के कारण के अभाव से सर्वदा श्रवण का प्रसंग हो जावेगा। अर्थात् जब शब्द के न सुनाई देने का कोई कारण देखने में नहीं आता तब इस का श्रवण सर्वदा होना चाहिये, क्योंकि शब्द तो नित्य है।३३।

उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्त्वादनपदेशः ॥३४॥

अनुमानाच्चोपलभ्यमाने शब्दस्य विनाशकारणे विनाशकारणानुपलब्धेरसत्त्वादित्यनपदेशः यस्माद्विषाणी तस्मादश्व इति। किमनुमानमिति चेत् सन्तानोपपत्तिः। उपपादितः शब्दसन्तानः संयोगविभागजाच्छब्दाच्छब्दान्तरं ततोऽप्यन्यत्ततोऽप्यन्यदिति। तत्र कार्यः शब्दः कारणशब्दमभिरुणद्धि प्रतिघातिद्रव्यसंयोगस्त्वन्त्यस्य शब्दस्य निरोधकः। दृष्टं हि तिरःप्रतिकुड्यमन्तिकस्थेनाप्यश्रवणं शब्दस्य श्रवणं दूरस्थेनाप्यसति व्यवधाने इति। घण्टायामभिहन्यमानायां तारस्तारतरो मन्दो मन्दतर इति श्रुतिभेदान्नाना शब्दसन्तानोऽविच्छेदेन श्रूयते तत्र नित्ये शब्दे घण्टास्थमन्यगतं वाऽवस्थितं सन्तानवृत्तिरभिव्यक्तिकारणं वाच्यं येन श्रुतिसन्तानो भवतीति शब्दभेद (चासति श्रुतिभेद) उपपादयितव्य इति। अनित्ये तु शब्दे घण्टास्थं सन्तानवृत्ति संयोगसहकारि निमित्तान्तरं संस्कारभूतं पटुमन्दमनुवर्तते तस्यानुवृत्त्या शब्दसन्तानानुवृत्तिः पटुमन्दभावाच्च तीव्रमन्दता शब्दस्य तत्कृतश्च श्रुतिभेद इति। न वै निमित्तान्तरं संस्कार उपलभ्यते अनुपलब्धेर्नास्तीति ॥

भा०:- शब्द के नाश का कारण अनुमान से जाना जाता है इसलिये अनुपलब्धि नहीं हो सकती। किसी वस्तु के संयोग या विभाग से शब्द उत्पन्न होता है उससे दूसरा फिर तीसरा शब्द उत्पन्न होता है। कार्यशब्द कारणशब्द का प्रतिबन्धक होता है और इसीप्रकार प्रतिघातक द्रव्य का संयोग पिछले शब्द का रोकने वाला होता है। ऐसा देखने में आता है कि दीवार की आड़ से पास का भी शब्द सुन नहीं पड़ता और बीच में रोक न रहने से दूर का भी शब्द सुन पड़ता है। घण्टा के बजाने से ऊंचे से ऊंचा और नीचे से नीचा शब्द सुन पड़ता है। सुनने के भेद से अनेक शब्दसन्तान लगातार सुन पड़ता है, यह बात नित्य शब्द में नहीं घटती। जब शब्द अनित्य माना जाता है, तब घण्टा में स्थित शब्द सन्तान (लगातार) वृत्ति संयोग का सहायक अन्य संस्काररूप तीखा और मन्द होता है। संस्कार की

तीव्रता या मन्दता से शब्द का तीखापन या धीमापन होता है और इस कारण सुनने में भेद होता है ॥ ३४ ॥

पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावे नानुपलब्धिः ॥३५॥

पाणिकर्मणा पाणिघण्टाप्रश्लेषो भवति तस्मिंश्च सति शब्दसन्तानो नोपलभ्यते अतः श्रवणानुपपत्तिः । तत्र प्रतिघातिद्रव्यसंयोगः शब्दस्य निमित्तान्तरं संस्कारभूतं निरुणद्धीत्यनुमीयते तस्य च निरोधाच्छब्दसन्तानो नोत्पद्यते। अनुत्पत्तौ श्रुतिविच्छेदः यथा प्रतिघातिद्रव्यसंयोगादिषोः क्रियाहेतौ संस्कारे निरुद्धे गमनाभाव इति कम्पसन्तानस्य स्पर्शनेन्द्रियग्राह्यस्य चोपरमः कांस्यपात्रादिषु पाणिसंश्लेषो लिङ्गं संस्कारसन्तानस्येति । तस्मान्निमित्तान्तरस्य संस्कारभूतस्य नानुपलब्धिरिति ॥

भा०:—जब घंटा बजाओ और उसी समय यदि उस में हाथ लगा दो, तब शब्द लगातार उत्पन्न नहीं होगा इसलिये शब्द सुन नहीं पड़ता । वहां प्रतिघातक द्रव्य का संयोग शब्द के दूसरे निमित्त संस्कार को रोकता, ऐसा अनुमान होता है और उस के रुकने से शब्द सन्तान नहीं होता फिर सुनने में विछेद पड़ता है. जैसे रोकने वाले पदार्थ के संयोग से बाण की क्रिया के कारण गमन नहीं होता । स्पर्श इन्द्रिय से शब्द की कम्प-परम्परा का ज्ञान होता है। जब कांसे के पात्र में हाथ लगाओ तब संस्कार संतान प्रकट होता है उस से संस्कार रूप अन्य निमित्त की अनुपलब्धि नहीं होती ॥३५॥

* विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः ॥३६॥

यदि यस्य विनाशकारणं नोपलभ्यते तदवतिष्ठते अवस्थानाच्च तस्य नित्यत्वं प्रसज्यते एवं यानि खल्विमानि शब्दश्रवणानि शब्दाभिव्यक्तय इति मतं न तेषां विनाशकारणं भवतोपपाद्यते अनुपपादनादनवस्थान मनवस्थानात् तेषां नित्यत्वं प्रसज्यत इति । अथ नैवं तर्हि विनाशकारणानुपलब्धेः शब्दस्यावस्थानान्नित्यत्वमिति । कम्पसमानाश्रयस्य च नादस्य पाणिप्रश्लेषात् कम्पवत् कारणोपरमादभावः । वैयधिकरण्ये हि प्रतिघातिद्रव्यप्रश्लेषात् समानाधिकरणस्यैवोपरमः स्यादिति ।

भा०:—जिस वस्तु के भाव का कारण न जान पड़े, वह स्थिर रहती है स्थिर रहने से नित्यत्व की आपत्ति होती है फिर जो शब्द के श्रवण या शब्द की अभिव्यक्ति है इन के नाश का कारण आप ने सिद्ध नहीं किया । फिर

* सिंहावलोकितन्यायेन पूर्वोक्तं हेतुं दूषयति । ना०टी०

स्थिति और उस के होने से शब्द नित्य हो जावेगा और पिछला दोष गले पड़ेगा कि 'शब्द का श्रवण सदा होना चाहिये' ॥ ३६ ॥

अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः ॥ ३७ ॥

यदिद माकाशगुणः शब्द इति प्रतिषिद्धयते अयमनुपपन्नः प्रतिषेधः । अस्पर्शत्वाच्छब्दाश्रयस्य रूपादिसमानदेशस्याग्रहणे शब्दसन्तानोपपत्तेरस्पर्श-व्यापिद्रव्याश्रयः शब्द इति ज्ञायते न (च) कम्पसमानाश्रय इति । प्रतिद्रव्यं रूपादिभिः सह सन्निविष्टः शब्दसमानदेशो व्यज्यतइति नोपपद्यते कथम् ।

भा०:-शब्द आकाश का गुण है इस का निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द का आश्रय स्पर्शवान् नहीं होता। रूप,रस आदि गुणों की नांई शब्द के आश्रय का ग्रहण नहीं होता,तो शब्द परम्परा की उपपत्ति के लिये स्पर्श र-हित द्रव्य शब्द का आधार है इसप्रकार अनुमान होता है ॥ ३७ ॥

विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ॥ ३८ ॥

सन्तानोपपत्तेश्चेति चार्थः । तद्व्याख्यातम् । यदि रूपादयः शब्दाश्च प्रति द्रव्यं समस्ताः समुदितास्तस्मिन्समाससमुदाये यो यथाजातीयकः सन्निविष्ट-स्तस्य तथाजातीयस्यैव ग्रहणेन भवितव्यं शब्द रूपादिवत् । तत्र योऽयं वि-भाग एकद्रव्ये नानारूपा भिन्नश्रुतयो विधर्माणः शब्दाः शब्दे अभिव्यज्यमा-नाः श्रूयन्ते यच्च विभागानन्तरं सरूपाः समानश्रुतयः सधर्माणः शब्दास्तीव्रम-न्दधर्मतया भिन्नाः श्रूयन्ते तदुभयं नोपपद्यते नानाभूतानामुत्पद्यमानानामयं धर्मो नैकस्य व्यज्यमानस्येति । अस्ति चायं विभागो विभागानन्तरं च तेन विभा-गोपपत्तेर्मन्यामहे न प्रतिद्रव्यं रूपादिभिः सह शब्दः सन्निविष्टो व्यज्यतइति । द्विविधश्चायं शब्दो वर्णात्मको ध्वनिमात्रश्च । तत्र वर्णात्मनि तावत् ।

भा०:-(क्योंकि) जो रूप रस आदि और शब्द प्रत्येक द्रव्य में इकट्ठे रहते तो उस समुदाय में जाति का शब्द होता उसी जाति के शब्द का सर्वदा श्र-वण होना चाहिये. जैसे रूप, रस आदि गुण एक द्रव्य में एक ही प्रकार के प्रतीत होते हैं, परन्तु शब्द एक ही द्रव्य में अनेक प्रकार का सुन पड़ता है। श्रुति वाले एक से कई शब्द तीव्र या मन्द भिन्न २ सुनने में आते हैं, ये दोनों बातें सिद्ध होंगी । जब भिन्न २ बहुत से शब्द उत्पन्न होते हैं तो उन का यह धर्म हो सकता है । एक शब्द की अभिव्यक्ति होती तो उक्त विभाग नहीं बनता, इस लिये रूप रस आदि गुणों की भांति शब्द प्रत्येक द्रव्य में स्थित नहीं रहता, किन्तु शब्द का आधार आकाश ही है । शब्द दो प्रकार का है । एक वर्ण-रूप, दूसरा ध्वनिरूप । इन में से वर्णात्मक के विषय में विचार करते हैं ॥ ३८ ॥

विकारादेशोपदेशात्संशयः ॥ ३९ ॥

दध्यत्रेति केचिद् इकार इत्वं हित्वा यत्वमापद्यतइति विकारं मन्यन्ते। केचिदिकारस्य प्रयोगे विपर्यकृते यदिकारः स्थानं जहाति तत्र यकारस्य प्रयोगं ब्रुवते। संहितायां विषये इकारो न प्रयुज्यते तस्य स्थाने यकारः प्रयुज्यते स आदेश इति उभयमिदमुपदिश्यते। तत्र न ज्ञायते किं तत्त्वमिति। आदेशोपदेशस्तत्त्वम्।

*विकारोपदेशे ह्यन्वयस्याग्रहणाद्विकारानुमानम्।

सत्यन्वये किंचिन्निवर्तते किंचिदुपजायतइति शक्येत विकारोऽनुमातुम्। न चान्वयो गृह्यते। तस्माद्विकारो नास्तीति।

*भिन्नकरणयोश्च वर्णयोरप्रयोगे प्रयोगोपपत्तिः।

विवृतकरण इकार ईषत्स्पृष्टकरणो यकारः ताविमौ पृथक्करणाख्येन प्रयत्नेनोच्चारणीयौ तयोरेकस्याप्रयोगेऽन्यतरस्य प्रयोग उपपन्न इति।

*अविकारे चाविशेषः।

यत्रेमाविकारयकारौ न विकारभूतौ यतते यच्छति प्रायंस्त इति इकार इदमिति च यत्र च विकारभूतौ इदं व्याहरति उभयत्र प्रयोक्तुरविशेषो यत्नः श्रोतुश्च श्रुतिरित्यादेशोपपत्तिः।

*प्रयुज्यमानाग्रहणाच्च।

न खलु इकारः प्रयुज्यमानो यकारतामापद्यमानो गृह्यते किं तर्हीकारस्य प्रयोगे यकारः प्रयुज्यते। तस्मादविकार इति।

*अविकारे च न शब्दान्वाख्यानलोपः।

न विक्रियन्ते वर्णा इति। न चैतस्मिन्पक्षे शब्दान्वाख्यानस्यासम्भवो येन वर्णविकारं प्रतिपद्येमहीति। न खलु वर्णस्य वर्णान्तरं कार्यं न हि इकाराद्यकार उत्पद्यते यकाराद्वाइकारः। पृथक् स्थानप्रयत्नोत्पाद्या हीमे वर्णास्तेषामन्योऽन्यस्य स्थाने प्रयुज्यतइति युक्तम्। एतावच्चैतत्परिणामो विकारः स्यात् कार्यकारणभावो वा उभयं च नास्ति तस्मान्न सन्ति वर्णविकाराः।

*वर्णसमुदायविकारानुपपत्तिवच्च वर्णविकारानुपपत्तिः।

अस्तेर्भूः ब्रुवो वचिरिति यथा वर्णसमुदायस्य धातुलक्षणस्य क्वचिद्विषये वर्णान्तरसमुदायो न परिणामो न कार्यं शब्दान्तरस्य स्थाने शब्दान्तरं प्रयुज्यते तथा वर्णस्य वर्णान्तरमिति। इतश्च न सन्ति विकाराः॥

भा०:--'विकार' और 'आदेश' में संशय होता है (कि 'इकोयणचि' व्याकरण सूत्र में) जो 'इ'कार आदि के स्थान में 'य'कार आदि होने का उपदेश किया गया है, जैसे 'दधि+अत्र' पद में इकार के स्थान में यकार होने से 'दध्यत्र' ऐसा बनता है, इत्यादि में उपदेश के अनुसार इकारादि का यकारादि किया जाता है। इस में कोई यह कहते हैं कि इकार, इकारभाव को छोड़ के यकारत्व को प्राप्त होता है। अर्थात् इकार का विकार कार्य्य यकार है। और किसी का यह मत है कि 'विकार' नहीं है किन्तु 'आदेश' है। अर्थात् इकार उच्चारण करने के बदले यकार उच्चारण करना है। 'आदेश' उसे कहते हैं जो अन्य वर्ण के स्थान में अन्य वर्ण का नियमानुसार उच्चारण किया जावे। उक्त दो प्रकार के मतों से यह संशय होता है कि दोनों में ठीक या तत्त्व क्या है ? ('विकार' या 'आदेश' ?)

यह जानना चाहिये कि कारण द्रव्य से उस द्रव्य के सर्वथा स्वरूप नाश होने या स्वरूप नाश न होने पर अन्य कार्य रूप पदार्थ के उत्पन्न होने को 'विकार' कहते हैं। जैसे बीज कारण के स्वरूप नाश होने पर वृक्ष कार्य रूप विकार होता है। इसीप्रकार दूध से दही आदि जानना। विकार और आदेश, दोनों में विचार करने से आदेश ही उपदेश ठीक ज्ञात होता है। विकार का मानना ठीक नहीं, क्योंकि जो विकार होता तो कुछ निवृत्त होता और कुछ उत्पन्न होता, ऐसा प्रतीत नहीं होता है। इस से विकार नहीं है और यह भेद विकार न होने के ज्ञान पड़ते हैं कि प्रकृति एवं विकार के 'करण' या 'प्रयत्न' में भेद होता है, जैसे इकार विवृत करण है और यकार ईषत् स्पृष्ट करण है। दोनों भिन्न २ प्रयत्न से उच्चारणीय हैं। इन में परस्पर सम्बन्ध नहीं है। विना एक के प्रयोग, दूसरे का प्रयोग होना सिद्ध होता है और ऐसा ज्ञात नहीं होता कि इकार का प्रयोग किया जावे (इकार यकार होजावे) केवल यह होता है कि बोलने वाले की इच्छा पर निर्भर है कि चाहे वह इकार के बदले यकार बोले या इकार ही बोले। और इकार से यकार, या यकार से इकार उत्पन्न नहीं होता। केवल यही समझना चाहिये कि जैसे 'अस्' धातु के स्थान में 'भू' धातु और 'ब्रुव्' के स्थान में 'वच्' धातु का आदेश होता है और माना जाता है। इसी प्रकार एक वर्ण के स्थान में दूसरे वर्ण का प्रयोग किया जाता है। इस में कारण कार्य्य भाव सम्बन्ध नहीं है, इसमे जैसे बैल के स्थान में घोड़ा, स्थापन करने

या लगा देने से घोड़ा, बैल का विकार नहीं होता। इसी प्रकार कोई वर्ण किसी वर्ण का विकार नहीं होता, एक के स्थान में दूसरे का प्रयोग मात्र किया जाता है ॥ ३९ ॥

प्रकृतिविवृद्धौ विकारवृद्धेः ॥ ४० ॥

प्रकृत्यनुविधानं विकारेषु दृष्टं यकारे ह्रस्वदीर्घानुविधानं नास्ति येन विकारत्वमनुमीयतइति ॥

भा०ः—विकार पक्ष ठीक नहीं, क्योंकि प्रकृति का अनुविधान विकारों में देखा जाता है जैसे छोटे अवयवों का विकार छोटा और बड़ों का बड़ा होता है इसीप्रकार यहां भी प्रकृति की विधि से विकार की वृद्धि होनी चाहिये। यकार में ह्रस्व दीर्घ का विधान होता नहीं, ह्रस्व इकार को जैसा यकार होता, दीर्घ ईकार को भी वैसा ही यकार होता है, कुछ भेद देखने में नहीं आता इसलिये विकार पक्ष ठीक नहीं है ॥ ४० ॥

न्यूनसमाधिकोपलब्धेर्विकाराणामहेतुः ॥ ४१ ॥

द्रव्यविकारा न्यूनाः समाः अधिकाश्च गृह्यन्ते। तद्वदयं विकारो न्यूनः स्यादिति। द्विविधस्यापि हेतोरभावादसाधनं दृष्टान्तः अत्र नोदाहरणसाधर्म्याद्धेतुरस्ति न वैधर्म्यात्। अनुपसंहृतश्च हेतुना दृष्टान्तो न साधक इति ॥

*प्रतिदृष्टान्ते चाऽनियमः प्रसज्येत।

यथाऽनडुहः स्थानेऽश्वो वोढुं नियुक्तो न तद्विकारो भवति एवमिवर्णस्य स्थाने यकारः प्रयुक्तो न विकार इति न चात्र नियमहेतुरस्ति दृष्टान्तः साधको न प्रतिदृष्टान्त इति। द्रव्यविकारोदाहरणं च ॥

भा०ः—वर्ण के विकार न्यून, सम और अधिक देखने में आते हैं इसी प्रकार यह विकार न्यून होगा, जैसे अधिक रुई के परिमाण से छोटा सूत, बड़ के छोटे बीज से बड़ा वृक्ष और केला के बड़े बीज से छोटा वृक्ष। ऐसा नहीं होता कि बड़ के बीज से केला का बीज बड़ा है, तो बड़ के वृक्ष से केला का वृक्ष भी बड़ा हो। सम का दृष्टान्त यह है कि जितना सोना होगा, उतने ही वजन का जेवर बनेगा, इससे कम न ज्यादे इसलिये उक्त हेतु तुम्हारे पक्ष का साधक नहीं होसकता ॥ ४१ ॥

नातुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् ॥ ४२ ॥

अतुल्यानां द्रव्याणां प्रकृतिभावोऽवकल्पते विकारश्च प्रकृतीरनुविधीयते। न त्विवर्णमनुविधीयते यकारः तस्मादनुदाहरणं द्रव्यविकार इति ॥

भा०:-भिन्न २ प्रकृतियों के विकारों की विलक्षणता कही गयी है, कुछ चीज आदि की बड़ाई छोटाई से गरज नहीं है। यानी प्रकृति के भेद से विकार में भेद होता है। यह भेद तुम ने जो उदाहरण दिखलाये वहां भी विद्यमान है। यकार प्रकृति का अनुसरण नहीं करता है, द्रव्य के विकार दृष्टान्त नहीं हो सकते ॥ ४२ ॥

द्रव्यविकारे वैषम्यवद् वर्णविकारविकल्पः ॥ ४३ ॥

यथा द्रव्यभावेन तुल्यायाः प्रकृतेर्विकारवैषम्यम् एवं वर्णभावेन तुल्यायाः प्रकृतेर्विकारविकल्प इति ॥

भा०:-द्रव्य के विकार की विषमता की नाईं वर्णविकार की विलक्षणता हो जावेगी अर्थात् जैसे द्रव्य रूप से समान प्रकृतियों के विकार भिन्न २ होते हैं, उसीप्रकार वर्णत्व रूप से तुल्य प्रकृतियों के विकार भी विलक्षण हो जायंगे ॥ ४३ ॥

न विकारधर्मानुपपत्तेः ॥ ४४ ॥

अयं विकारधर्मो द्रव्यसामान्ये यदात्मकं द्रव्यं मृद्वा सुवर्णं वा तस्यात्मनोऽन्वये पूर्वो व्यूहो निवर्त्तते व्यूहान्तरं चोपजायते तं विकारमाचक्षते न वर्णसामान्ये कश्चिच्छब्दात्माऽन्वयी य इत्वं जहाति यत्वं चापद्यते। तत्र यथा सति द्रव्यभावे विकारवैषम्येनाऽनडुहोऽश्वो विकारो विकारधर्मानुपपत्तेः एवमिवर्णस्य न यकारो विकारो विकारधर्मानुपपत्तेरिति। इतश्च न सन्ति वर्णविकाराः ॥

भा०:-विकार धर्म के न साबित होने से य कार, इकार का विकार नहीं हो सका। अर्थात् सब चीजों में विकार का धर्म यह है कि जिस प्रकार का धर्म होगा मिट्टी या सोना आदि उस का स्वरूप पहिली रचना को छोड़कर दूसरी रूप में हो जावेगा। सब वर्णों में कोई एक शब्द का आत्मा नहीं, जो इ-भाव को छोड़कर य-भाव को धारण करे। जैसे बैल की जगह घोड़ा लगा दो। यहां घोड़ा बैल का विकार नहीं होसकता क्योंकि विकार का धर्म उस में नहीं है, इसलिये वर्ण विकार नहीं होता ॥ ४४ ॥

विकारप्राप्तानामपुनरापत्तेः ॥ ४५ ॥

अनुपपन्ना पुनरापत्तिः। कथं पुनरापत्तेरननुमानादिति। इकारो यकारत्वमापन्नः पुनरिकारो भवति न पुनरिकारस्य स्थाने यकारस्य प्रयोगोऽप्रयोगश्चेत्यत्रानुमानं नास्ति ॥

भा०:-विकार-भाव को जो पाते हैं उन की फिर आवृत्ति नहीं होती, पर इकार य-भाव को पाकर पुनः इकार हो जाता है ॥ ४५ ॥

सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः ॥ ४६ ॥

अननुमानादिति न । इदं ह्यनुमानं सुवर्णं कुण्डलत्वं हित्वा रुचकत्वमापद्यते रुचकत्वं हित्वा पुनः कुण्डलत्वमापद्यते एवमिकारो यणि यकारत्वमापन्नः पुनरिकारो भवतीति व्यभिचाराद्ननुमानम् । यथा पयो दधिभावमापन्नं पुनः पयो भवति किमेवं वर्णानां पुनरापत्तिः अथ सुवर्णवत् पुनरापत्तिरिति सुवर्णोदाहरणोपपत्तिश्च न ॥

*तद्विकाराणां सुवर्णभावाव्यतिरेकात् ।

अवस्थितं सुवर्णं हीयमानेन धर्मेण धर्मि भवति नै [illegible]ध्वदात्मा हीयमानेन इत्वेनोपजायमानेन यत्वेन धर्मी गृह्यते तस्मात्सुवर्णोदाहरणं नोपपद्यते इति ॥

*वर्णत्वाव्यतिरेकाद्वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ।

वर्णविकारा अपि वर्णत्वं न व्यभिचरन्ति यथा सुवर्णविकारः सुवर्णत्वमिति ॥

*सामान्यवतो धर्मयोगो न सामान्यस्य ।

कुण्डलरुचकौ सुवर्णस्य धर्मौ न सुवर्णत्वस्य एवमिकारयकारौ कस्य वर्णात्मनो धर्मौ वर्णत्वं वर्णधर्मयोगो न सामान्यस्येमौ धर्मौ भवितुमर्हतः । न च निवर्तमानो धर्म उपजायमानस्य प्रकृतिस्तत्र निवर्तमान इकारो न यकारस्योपजायमानस्य प्रकृतिरिति । इतश्च वर्णविकारानुपपत्तिः ॥

भा०:-सुवर्ण आदि द्रव्यों की फिर आवृत्ति होती है इस लिये तुम्हारा हेतु-ठीक नहीं । जैसे सोना कुण्डल-रूप को छोड़ कर कंगन-रूप को धारण कर पुनः कुण्डल बन जाता है। उसी प्रकार 'इ'-भी 'य'-हो जाता है । यहां विकार के विषय में दो प्रकार के दृष्टान्त हैं, एक तो विकारपन को पाकर फिर अपने असली रूप में नहीं आते, जैसे दूध का दही बनकर फिर उस का दूध नहीं हो सकता । दूसरा जैसे सोना कुण्डल बनकर अपनी असली सूरत में आ जाता है । सिद्धान्ती ने पहिला [illegible] लेकर दोष दिया-इस पर पूर्व पक्षी (शंका वाला) करता है कि सुवर्ण का नज़ीर हमारे दावे को साबित करता है । अब सिद्धान्ती फिर उस का खण्डन करता है ।

विद्यमान सोना नष्ट होने वाले और उत्पन्न होने वाले धर्मों से युक्त होता है ऐसा कोई शब्द स्वरूप स्थिर नहीं है, जो नाश होने वाले इ-भाव और उत्पन्न होने वाले य-भाव से संयुक्त होसके इसलिये सोने का नजीर ठीक नहीं। पुन॰ (शंका) जैसे सुवर्ण के विकार कुण्डल आदि सोनापन को नहीं छोड़ते उसी प्रकार वर्ण के विकार भी वर्ण-भाव को नहीं छोड़ते हैं। कुण्डल, मुन्दरी आदि सोने के धर्म हैं, सोनेपन के नहीं। इसीप्रकार इ-कार, य-कार किस वर्ण के धर्म होंगे? यदि कहो कि वर्ण-भाव के तो कहना कभी सम्भव नहीं, क्योंकि वर्ण-भाव तो आप धर्म रूप है। तब इ-कार, य-कार भला क्योंकर 'उस के' धर्म हो सकते हैं। निवृत्त होने वाला धर्म उत्पन्न होने वाले की प्रकृति कैसे होगी? जाने वाला इ-कार, उत्पन्न होने वाले य-कार की प्रकृति कभी नहीं हो सकता इसलिये वर्ण विकार पक्ष ठीक नहीं ४६

नित्यत्वे ऽविकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ॥ ४७ ॥

नित्या वर्णा इत्येतस्मिन्पक्षे इकारयकारौ वर्णौ इत्युभयोर्नित्यत्वाद्विकारानुपपत्तिः। नित्यत्वे ऽविनाशित्वात् कः कस्य विकार इति। अथानित्या वर्णा इति पक्षः एवमप्यनवस्थानं वर्णानां किमिदमनवस्थानं वर्णानाम्। उत्पद्य निरोधः उत्पद्य निरुद्धे इकारे यकार उत्पद्यते यकारे चोत्पद्य निरुद्धे इकार उत्पद्यते कः कस्य विकारः। तदेतदवगृह्य सन्धाने सन्धाय चावग्रहे वेदितव्यमिति। नित्यपक्षे तु तावत्समाधिः।

भा०:—वर्ण नित्य हैं। इस पक्ष में इ-कार, य-कार ये दोनों ही वर्ण हैं तो नित्यत्व होने से विकार की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यदि कहो कि वे अनित्य हैं, तो विनाशी होने से कौन किसका विकार होगा? और अनित्य पक्ष में वर्णों की स्थिति नहीं रहती। अर्थात् इ-कार की उत्पत्ति होके नष्ट होजाने के पीछे य-कार उत्पन्न होता है, इसी प्रकार यकार की उत्पत्ति और नाश के अनन्तर इकार की उत्पत्ति होती है। तब कहो कौन किसका विकार होगा? यह बात वहां की है जब कि 'अवग्रह' करके सन्धि करते या 'सन्धि' के पीछे अवग्रह करते हैं। एक पद का उच्चारण करके कुछ ठहर कर दूसरे पद के उच्चारण को 'अवग्रह' (वेद में होता है) कहते हैं ॥ ४७ ॥

नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्णविकारा-णामप्रतिषेधः ॥ ४८ ॥

नित्या वर्णा न विक्रियन्त इति विप्रतिषेधः । यथा नित्यत्वे सति किं चिदतीन्द्रियमिन्द्रियग्राह्याश्च वर्णा एवं नित्यत्वे सति किं चिन्न विक्रियते वर्णास्तु विक्रियन्त इति विरोधादहेतुस्तद्धर्मविकल्पः नित्यं नोपजायते नापैति अनुपजनापायधर्मकं नित्यमनित्यं पुनरुपजनापाययुक्तं न चान्तरेणोपजनापायौ विकारः सम्भवति । तद्यदि वर्णा विक्रियन्ते नित्यत्वमेषां निवर्त्तते अथ नित्या विकारधर्मत्वमेषां निवर्त्तते अथ नित्या विकारधर्मत्वमेषां निवर्त्तते । सोयं विरुद्धो हेत्वाभासो धर्मविकल्प इति । अनित्यपक्षे समाधिः ।

भा०:—नित्यत्व पक्ष में शङ्का करने वाला जवाब देना है कि जैसे नित्य होकर कोई पदार्थ इन्द्रिय के विषय नहीं होते जैसे आकाश आदि कोई इन्द्रियों से जाने जाते हैं जैसे गोत्व आदि । इसी प्रकार कोई नित्य पदार्थ विकार युक्त नहीं होता । वर्ण तो विकार-भाव को प्राप्त होते हैं । अर्थात नित्य पदार्थ सब एक ही से नहीं होते, किन्तु उन में भेद रहता है, तो वर्ण नित्य भी हैं और उन के स्थान मे विकार होते है ॥ ४८ ॥

अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत्तद्विकारोपपत्तिः ॥ ४९ ॥

यथाऽनवस्थायिनां वर्णानां श्रवणं भवत्येवमेषां विकारो भवतीति असंबन्धादसमर्था अर्थप्रतिपादिका वर्णोपलब्धिर्न विकारेण सम्बन्धादसमर्था या गृह्यमाणा वर्णविकार मनुत्पाद्येदिति । तत्र यादृगिदं यथा गन्धगुणा पृथिव्येवं शब्दसुखादिगुणापीति तादृगेतद्भवतीति । न च वर्णोपलब्धिर्वर्णनिवृत्तौ वर्णान्तरं प्रयोगस्य निवर्त्तिका योयमिवर्णनिवृत्तौ यकारस्य प्रयोगो यद्ययं वर्णोपलब्ध्या निवर्त्तते तदा तत्रोपलभ्यमान इवर्णो यत्वमापद्यते इति गृह्यते तस्माद्वर्णोपलब्धिरहेतुर्वर्णविकारस्येति ।

भा०:—सम्बन्ध रहित होने से अर्थ की प्रतिपादिका जो वर्णों की उपलब्धि है, वह अर्थ प्रतिपादन में असमर्थ होगी और विकार के साथ सम्बन्ध रहित होने से असमर्थ नहीं होती , जिससे वर्ण की उपलब्धि वर्ण विकारत्व को सिद्ध करे । दोनों में भेद होने पर भी वर्णों की उपलब्धि के समान वर्ण विकार की सिद्धि या उपलब्धि कहना, ऐसा कहना है जैसे कोई कहे कि गन्ध गुण वाली पृथिवी है इसीप्रकार शब्द और सुखवाली भी है । और वर्ण की निवृत्ति होने पर वर्ण का ज्ञान अन्य वर्ण के प्रयोग की प्रवृत्त करने वाली नहीं होती । इ-वर्ण के निवृत्त होने पर जो य-वर्ण का प्रयोग होता है । जो यह इ-वर्ण की उपलब्धि से प्रवृत्त होता तो उस में उपलभ्यमान

इ-वर्ण य-त्व को प्राप्त होता । तात्पर्य्य यह है कि जैसे अस्थिर वर्णों का श्रवण होता है, उसी प्रकार वर्णों की उपपत्ति हो जायगी ॥ ४९ ॥

विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥ ५० ॥

तद्धर्मविकल्पादिति न युक्तः प्रतिषेधः । न खलु विकारधर्मकं किंचिन्नित्यमुपलभ्यतइति वर्णोपलब्धिवदिति न युक्तः प्रतिषेधः । अवग्रहे हि दधि अत्रेति प्रयुज्य चिरं स्थित्वा ततः संहितायां प्रयुङ्क्ते दध्यत्रेति चिरनिवृत्ते चायमिवर्णे यकारः प्रयुज्यमानः कस्य विकार इति प्रतीयते कारणाभावात् कार्याभाव इति अनुयोगः प्रसज्यत इति । इतश्च वर्णविकारानुपपत्तिः ।

भा०:— उक्त खण्डन नहीं हो सकता, क्योंकि कोई विकारी पदार्थ नित्य देखने में नहीं आता इसी लिये वर्ण की उपलब्धि की नाईं यह खण्डन ठीक नहीं, क्योंकि अवग्रह में 'दधि+अत्र' ऐसा प्रयोग करके थोड़ी देर बाद फिर संहिता में 'दध्यत्र' [illegible] प्रयोग करते हैं, तो इतने समय से निवृत्त इ-कार में प्रयुक्त+य-कार किस (वर्ण) का विकार प्रतीत होगा । कारण के अभाव से कार्य्य का न होना गले पड़ेगा ॥ ५० ॥

प्रकृत्यनियमाद्वर्णविकाराणाम् ॥ ५१

इकारस्थाने यकारः श्रूयते यकारस्थाने खल्विकारो विधीयते विध्यति तद्यदि स्यात् प्रकृतिविकारभावो वर्णानां तस्य प्रकृतिनियमः स्यात् । दृष्टो विकारधर्मित्वे प्रकृतिनियम इति ।

भा०:—प्रकृति के अनियम से वर्ण विकार की उपपत्ति नहीं हो सकती । इ-कार के स्थान में य-कार सुना जाता और य-कार के स्थान में इकार का विधान होता है । (य-कार का उदाहरण कहा गया) इ-कार का 'विध्यति' उदाहरण है । 'व्यध'-प्रकृति है, इस के य-कार को-इ-कार होता है । यदि वर्णों का प्रकृति, विकृति भाव होता, तो प्रकृति का नियम होता । अर्थात् जिस वर्ण के स्थान में जो होता वही उस के स्थान में हुआ करता ऐसा नहीं होता कि कहीं तो इ-कार के स्थान में य-कार और य-कार के स्थान में इ-कार हो जाय । विकार भाव में प्रकृति का नियम देखने में आता है ॥ ५१ ॥

अनियमे नियमान्नानियमः ॥ ५२ ॥

योयं प्रकृतेरनियम उक्तः स नियतो यथाविषयं व्यवस्थितो नियतत्वान्नि-

यम इति भवत्येवं सत्यनियमो नास्ति तत्र यदुक्तं प्रकृत्यनियमादित्येतदयुक्तमिति ॥

भा०:—प्रकृति का जो अनियम दिखलाया गया वह नियत विषय के साथ व्यवस्थित रहता है। अनियम के नियम होने से अनियम नहीं हो सकता ॥ ५२ ॥

नियमानियमविरोधादनियमे नियमाच्चाप्रतिषेधः ॥ ५३ ॥

नियम इत्यत्रार्थाभ्यनुज्ञा अनियम इति तस्य प्रतिषेधः। अनुज्ञातनिषिद्धयोश्च व्याघातादनर्थान्तरत्वं न भवति अनियमश्च नियतत्वान्नियमो न भवतीति नात्रार्थस्य तथाभावः प्रतिषिध्यते किं तर्हि तथाभूतस्यार्थस्य नियमशब्देनाभिधीयमानस्य नियतत्वान्नियमशब्द एवोपपद्यते। सोऽयं नियमादनियमे प्रतिषेधो न भवतीति। न चेयं वर्णविकारोपपत्तिः परिणामात् कार्यकारणभावाद्वा किं तर्हि।

भा०:—नियम और अनियम का परस्पर विरोध है, इसलिये अनियम में नियम होने से प्रतिषेध मुनासिब नहीं। क्योंकि नियम के अभाव को अनियम कहते हैं। जब नियम होगा, तब नियम का होना असम्भव है। इस प्रकार वर्णों के प्रकृति विकार-भाव का खण्डन करके अपने पक्ष में वर्ण-विकार की उपपत्ति करते हैं ॥ ५३ ॥

गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वर्णविकाराः ॥ ५४ ॥

स्थान्यादेशभावादप्रयोगे प्रयोगो विकारशब्दार्थः। स भिद्यते गुणान्तरापत्तिः उदात्तस्यानुदात्त इत्येवमादिः। उपमर्दो नाम एकरूपनिवृत्तौ रूपान्तरोपजनः। ह्रासो दीर्घस्य ह्रस्वः। वृद्धिर्ह्रस्वस्य दीर्घः तयोर्वा प्लुतः। लेशो लाघवं स्त इत्यस्तेर्विकारः। श्लेष आगम प्रकृतेः प्रत्ययस्य वा। एतएव विशेषा विकारा इति एतएवादेशाः एते चेद्विकारा उपपद्यन्ते तर्हि वर्णविकारा इति।

भा०:—एक धर्म्म के रहते दूसरे धर्म्म की उत्पत्ति को 'गुणान्तरापत्ति' कहते हैं जैसे 'उदात्त स्वर' में 'अनुदात्त धर्म्म' का होना। और जहां एकरूप की निवृत्ति हो कर अन्य रूप की उत्पत्ति होती है उसे 'उपमर्द' कहते हैं जैसे 'अस्' के स्थान में 'भू' आदेश होता है। दीर्घ का ह्रस्व हो जाना 'ह्रास' है और ह्रस्व का दीर्घ होना या ह्रस्व दीर्घ के स्थान में 'प्लुत' होना 'वृद्धि' है। 'लेश' का अर्थ लाघव है जैसे 'अस्' (धातु) का 'स्त' (विकार)

हुआ। 'आगम' उसे कहते हैं जो प्रकृति या प्रत्यय का आगम होता है। प्रकृति का आगम जैसे 'अर्च' इस प्रकृति का 'आनर्च' होता है। यहां न-कार का आगम हुआ। अर्थात् प्रकृति में न-कार न था वह आगया। 'बभूविथ' यहां 'थ'-प्रत्यय है इस को इकार का आगम होने से 'इथ' होगया. इन्हीं गुणान्तरापत्ति आदि धर्मों को विकार कहते हैं ये ही आदेश और आगम हैं ॥५४॥

ते विभक्त्यन्ताः पदम् ॥ ५५ ॥

यथादर्शनं विकृता वर्णा विभक्त्यन्ताः पदसंज्ञा भवन्ति। विभक्तिर्द्वयी नामिक्याख्यातिकी च ब्राह्मणः पचतीत्युदाहरणम्। उपसर्गनिपातास्तर्हि न पदसंज्ञाः लक्षणान्तरं वाच्यम् इति। शिष्यते च खलु नामिक्या विभक्तेरव्ययाल्लोपः तयोः पदसंज्ञार्थमिति। पदेनार्थसंप्रत्यय इति प्रयोजनम्। नामपदं चाधिकृत्य परीक्षा गौरिति पदं खल्विदमुदाहरणम्।

भा०:-इन वर्णों के अन्त में यथा शास्त्रानुसार विभक्ति होने से इन का नाम 'पद' होता है। विभक्ति दो प्रकार की होती है, एक 'नामिकी' और दूसरी 'आख्यातिकी'। जो संज्ञा किये जाती उस का नाम 'नामिकी' है जैसे 'ब्राह्मणः' यहां ब्राह्मण नाम (Noun) है और विसर्ग (':') विभक्ति है। जो धातु के आगे आती वह 'आख्यातिकी' विभक्ति कही जाती है जैसे 'पचति'। यहां 'पच्' धातु से 'ति' प्रत्यय हुआ है। इस वाक्य का अर्थ, 'ब्राह्मण पकाता है' हुआ। इस पर शङ्का करते हैं कि जो 'विभक्त्यन्त' को पद कहोगे, तो 'उपसर्ग,' 'निपात' की 'पद संज्ञा' न होगी। क्योंकि इन के अन्त में विभक्ति नहीं रहती है। 'उपसर्ग'-जैसे 'प्र', 'परा,' 'अप' इत्यादि। 'निपात'-जैसे 'च' 'वा,' 'ह' इत्यादि। इस का उत्तर यह है कि इन के अन्त में भी पहिले विभक्ति रहती है। पर उस का अव्यय से परे होने के कारण लोप हो जाता है। नहीं तो इन की पद संज्ञा कैसे हो? अर्थ का बोध पद से होता है अतएव 'पद' संज्ञा का होना आवश्यक है ॥ ५५ ॥

तदर्थे व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात्संशयः ॥५६॥

अविनाभाववृत्तिः सन्निधिः। अविनाभावेन वर्त्तमानासु व्यक्त्याकृतिजातिषु गौरिति प्रयुज्यते तत्र न ज्ञायते किमन्यतमः पदार्थ उत सर्व इति शब्दस्य प्रयोगसामर्थ्यात् पदावधारणं तस्मात्।

भा०:-'गौः' इस पद के अर्थ में 'व्यक्ति,' 'आकृति' और 'जाति'

इन के सन्निधान होने से सन्देह होता है कि इन तीनों में से कोई एक 'गो' पद का अर्थ है या सब ? ॥ ५६ ॥

याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्युपचयवर्णसमासानुबन्धानांव्यक्तावुपचाराद्व्यक्तिः ॥ ५७ ॥

व्यक्तिः पदार्थः। कस्माद् याशब्दप्रभृतीनां व्यक्तावुपचारात्। उपचारः प्रयोगः या गौस्तिष्ठति या गौर्निषण्णेति नेदं वाक्यं जातेरभिधायकमभेदात्। भेदात्तु द्रव्याभिधायकम्। वैद्याय गां ददातीति द्रव्यस्य त्यागो न जातेरमूर्त्तत्वात् प्रतिक्रमानुक्रमानुपपत्तेश्च। परिग्रहः स्वत्वेनाभिसंबन्धः कौण्डिन्यस्य गौर्ब्राह्मणस्य गौरिति द्रव्याभिधाने द्रव्यभेदात् सम्बन्धभेद इति उपपन्नम्। अभिन्ना तु जातिरिति। संख्या दश गावो विंशतिर्गाव इति भिन्नं द्रव्यं संख्यायते न जातिरभेदादिति। वृद्धिः कारणवतो द्रव्यस्यावयवोपचयः अवर्द्धत गौरिति निरवयवा तु जातिरिति। एतेनापचयो व्याख्यातः। वर्णः शुक्ला गौः कपिला गौरिति। द्रव्यस्य गुणयोगो न सामान्यस्य। समासः गोहितं गोसुखमिति द्रव्यस्य सुखादियोगो न जातेरिति। अनुबन्धः सरूपप्रजननसन्तानो गौर्गां जनयतीति उत्पत्तिधर्मत्वाद् द्रव्ये युक्तं न तु जातौ विपर्ययादिति। द्रव्यं व्यक्तिरिति हि नार्थान्तरम्। अस्य प्रतिषेधः।

भा०:—पहिले जो व्यक्ति में पद की शक्ति मानते हैं उन का मत लिखते हैं। शब्द आदिकों का व्यवहार व्यक्ति में होने से व्यक्ति पदार्थ का अर्थ है। गौ खड़ी है, गौ बैठी है, ये वाक्य जाति के बोधक नहीं किन्तु व्यक्ति के बोधक हैं। गौओं का झुण्ड, वेद पाठी को गौ देता है। यहां द्रव्य का दान होता है जाति का नहीं। क्योंकि जाति अमूर्त्त पदार्थ है। परिग्रह—वस्तु के साथ सम्बन्ध जो ब्राह्मण की गाय। द्रव्य के भेद से सम्बन्ध का भेद हो सकता है। संख्या, दश गाय, बीस गाय, भिन्न द्रव्य गिनी जाती न कि जाति। वृद्धि—बढ़ना, गौ बढ़ती है, द्रव्य के अवयव बढ़ते हैं जाति तो निरवयव है, इसलिये उस की वृद्धि नहीं हो सकती। इसी प्रकार गौ दुर्बल हो गई, सफेद गाय, पीली गाय, द्रव्य को वर्ण का योग होता है, जाति को नहीं। समास 'गो-सुख,' गो-हित, इत्यादि द्रव्य को सुख आदि का सम्बन्ध होता, जाति को नहीं। अनुबन्ध—एक रूप सन्तान उत्पन्न करना। गाय, गाय को जनती है। ये सब व्यवहार व्यक्ति में देख पड़ते हैं। इस से पद की शक्ति व्यक्ति में सिद्ध होती है जाति में नहीं, द्रव्य और व्यक्ति दोनों का एक ही अर्थ है। अब इस का प्रतिषेध करते हैं ॥ ५७ ॥

न तदनवस्थानात् ॥ ५८॥

न व्यक्तिः पदार्थः कस्मादनवस्थानात् । याशब्दप्रभृतिभिर्यो विशे-ष्यते स गोशब्दार्थो या गौस्तिष्ठति या गौर्निषण्णेति न द्रव्यमात्रमविशिष्टं जात्या विनाऽभिधीयते । किं तर्हि जातिविशिष्टम् । तस्मान्न व्यक्तिः पदार्थः । एवं समूहादिषु द्रष्टव्यम् । यदि न व्यक्तिः पदार्थः कथं तर्हि व्यक्तावुपचार इति निमित्तादतद्भावेपि तदुपचारो दृश्यते खलु ॥

भा०:–अनवस्थित होने से व्यक्ति नहीं है अर्थात् व्यक्ति अनेक हैं। तब पद का अर्थ किस २ में शक्ति कहोगे ? अनुगम नहीं हो सकता। 'गाय खड़ी है', 'गाय बैठी है' इत्यादि वाक्यों से जाति को छोड़ केवल व्यक्ति नहीं कही जाती, किन्तु जाति सहित व्यक्ति। इस लिये व्यक्ति, पद का अर्थ नहीं इसीप्रकार 'समूह' आदिकों में जान लेना। जो व्यक्ति, पद का अर्थ नहीं है, तो उस में व्यवहार कैसे होता है ? ॥ ५८ ॥

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाटकान्नपुरुषेष्वतद्भावे ऽपि तदुपचारः ॥ ५९ ॥

अतद्भावेऽपि तदुपचार इत्यतच्छब्दस्य तेन शब्देनाभिधानमिति। सहचरणाद्यष्टिकां भोजयेति यष्टिकासहचरितो ब्राह्मणोऽभिधीयतइति* । स्थानाद् मञ्चाः क्रोशन्तीति मञ्चस्थाः पुरुषा अभिधीयन्ते । तादर्थ्यात् कटार्थेषु वीरणेषु व्यूह्यमानेषु कटं करोतीति भवति । वृत्ताद् यमो राजा कुबेरो राजेति तद्वद्वर्त्तते इति । मानाद् आढके निमिताः स[illegible] इति । धारणात् तुलायां धृतं चन्दनं तुलाचन्दनमिति । सामीप्याद् गङ्गायां गावश्चरन्तीति देशोऽभिधीयते सन्निकृष्टः । योगात् कृष्णेन रागेण युक्तः शाटकः कृष्ण इत्यभिधीयते । साधनाद् अन्नं प्राणा इति । आधिपत्याद् अयं पुरुषः कुलम् अयं गोत्रमिति । तत्रायं सहचरणाद्योगाद्वा जातिशब्दो व्यक्तौ प्रयुज्यतइति । यदि गौरित्यस्य पदस्य न व्यक्तिरर्थोऽस्तु तर्हि ।

भा०:–'सहचारी' आदि कारणों से 'तद्भाव' न रहते भी व्यवहार होता है जैसे किसी ने कहा कि 'लाठी को खिलाओ' तो यहां लाठी के

*साहचर्यात्संयुक्तसमवेतां जातिं ब्राह्मणेऽध्यारोप्य ब्राह्मणं यष्टिकेत्याह । एवं शेषाण्युपचारबीजानि स्वयमुत्प्रेक्षितव्यानि । न्या० वा० ।

संग से लाठी वाला ब्राह्मण समझा जाता जिस के पास बहुधा लाठी रहा करती है। स्थान से जैसे 'मंचान चिल्लाते हैं' इस से मंचानो पर बैठे पुरुषों का बोध होता है। तादर्थ्य-उस के लिये-जैसे 'चटाई के लिये रचना युक्त तृणों में चटाई बनाता है' यह व्यवहार होता है। वृत्त-'दण्ड देने से राजा को यम कहना,' अधिक द्रव्य वाला होने से 'कुबेर कहना'। मान-नापने से जैसे 'सेर भर सत्तुओं को सेर भर सत्तु,' 'मन भर गेहूं को मन भर गेहूं'। धारण करने से-जैसे 'तराजू में धरे चन्दन में तुला चन्दन'। यह व्यवहार होता है। सामीप्य-पास रहने से 'जैसे गंगा में गौयें चरतीं हैं,' अर्थात् गंगा के पास गाय चरती हैं। इस से गंगा के निकट का गांव समझा जाता है। योग से-जैसे 'काले रंग से रंगी हुई साड़ी काली कहाती है'। साधन होने से-जैसे प्राण के साधन अन्न को अन्न प्राण हैं' ऐसा कहते हैं। आधिपत्य से-'यह पुरुष कुल या गोत्र स्वरूप है,' ऐसा कहने पर कुल के अधिपति का ज्ञान होता है। इसी प्रकार सहचार या योग से जाति शब्द का व्यक्तियों में व्यवहार होता है। आकृति पद की 'शक्ति' है। यानी पद की शक्ति आकृति में है इस का उपपादन करते हैं ॥ ५९ ॥

आकृतिस्तदपेक्षत्त्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः ॥ ६० ॥

आकृतिः पदार्थः। कस्मात् तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः। सत्त्वावयवानां तदवयवानां च नियतो व्यूह आकृतिः तस्यां गृह्यमाणायां सत्त्वव्यवस्थानं सिध्यति अयं गौरयमश्व इति नागृह्यमाणायाम्। यस्य ग्रहणात् सत्त्वव्यवस्थानं सिध्यति तं शब्दोऽभिधातुमर्हति सोऽस्यार्थ इति। नैतदुपपद्यते यस्य जात्या योगस्तदत्र जातिविशिष्टमभिधीयते गौरिति। न चावयवव्यूहस्य जात्या योगः कस्य तर्हि नियतावयवव्यूहस्य द्रव्यस्य। तस्मान्नाकृतिः पदार्थः। अस्तु तर्हि जातिः पदार्थः॥

भा०:-प्राणियों की व्यवस्था को आकृति के आधीन होने से आकृति पद का अर्थ है। जीवों के अङ्ग तथा प्रत्यङ्गों की नियत रचना को 'आकृति' कहते हैं। उस के ज्ञान से प्राणियों की व्यवस्था सिद्ध होती, जैसे 'यह घोड़ा है.' 'वह गाय है,'। आकृति के ज्ञान के विना यह व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता इससे सिद्ध हुआ कि जिस के ज्ञान से व्यवहार सिद्ध हो, उसी को शब्द कहेंगे और वही शब्द का अर्थ है। इस पक्ष का खण्डन करके पद का अर्थ 'जाति है'। यह सिद्ध करते हैं ॥ ६० ॥

व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसङ्गात् प्रोक्षणादीनांमृद्गवके जातिः ॥६१॥

जातिः पदार्थः कस्माद्व्यक्त्याकृतियुक्तेऽपि मृद्गवके प्रोक्षणादीनामप्रसङ्गादिति । गां प्रोक्षय गामानय गां देहीति नैतानि मृद्गवके प्रयुज्यन्ते कस्माज्जातेरभावात् । अस्ति हि तत्र व्यक्तिः अस्त्याकृतिः यदभावात्तत्रासम्प्रत्ययः स पदार्थ इति ॥

भा०ः—जाति पद का अर्थ है क्योंकि व्यक्ति और आकृति से युक्त भी मट्टी की गौ में, 'गौ को स्नान कराओ,' 'गौ को लाओ,' 'गौ को देखो,' इत्यादि व्यवहार नहीं होते । जाति के न रहने से बोध नहीं होता इसलिये पद की शक्ति जाति में माननी चाहिये ॥ ६१ ॥

नाकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः ॥ ६२ ॥

जातेरभिव्यक्तिराकृतिव्यक्ती अपेक्षते नागृह्यमाणायामाकृतौ व्यक्तौ जातिमात्रं शुद्धं गृह्यते तस्मान्न जातिः पदार्थ इति । न वै पदार्थेन न भवितुं शक्यं कः खल्विदानीं पदार्थ इति ।

भा०—जाति पद का अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि जाति की 'अभिव्यक्ति' 'आकृति' और 'व्यक्ति' की अपेक्षा रखती है । व्यक्ति और आकृति के ज्ञान के विना शुद्ध जाति मात्र का ज्ञान नहीं होता इसलिये जाति पदार्थ नहीं. तो फिर अब पदार्थ किसे कहते हैं ? ॥ ६२ ॥

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ॥ ६३ ॥

तु-शब्दो विशेषणार्थः । किं विशिष्यते प्रधानाङ्गभावस्यानियमेन पदार्थत्वमिति । यदा हि भेदविवक्षा विशेषगति (श्च) तदा व्यक्तिः प्रधानमङ्गं तु जात्याकृती । यदा तु भेदोऽविवक्षितः सामान्यगतिस्तदा जातिः प्रधानमङ्गं तु व्यक्त्याकृती । तदेतद्बहुलं प्रयोगेषु । आकृतेस्तु प्रधानभाव उत्पादितव्यः । कथं पुनर्ज्ञायते नाना व्यक्त्याकृतिजातय इति लक्षणभेदात् । तत्र तावत् ।

भा०ः—'व्यक्ति' 'आकृति' और 'जाति' ये सब मिल कर पद का अर्थ होता है । अर्थात् इन तीनों में पद की शक्ति है । 'तु' शब्द से प्रधान और अङ्गभाव के अनियम से पदार्थत्व ज्ञात होता है । जब भेद की विवक्षा और विशेष का ज्ञान अभीष्ट होता है तब व्यक्ति प्रधान, जाति और आकृति अप्रधान होती हैं । जब भेद की विवक्षा नहीं और सामान्य का बोध इष्ट होता है तब जाति प्रधान और व्यक्ति और आकृति अङ्ग

व्यवहार में ऐसा ही देखने में आता है आकृति की प्रधानता विचारणीय है ६३

व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्तिः ॥ ६४ ॥

व्यज्यत इति व्यक्तिरिन्द्रियग्राह्येति न सर्वं द्रव्यं व्यक्तिः। यो गुणविशेषाणां स्पर्शान्तानां गुरुत्वघनत्वद्रवत्वसंस्काराणामव्यापिनः परिमाणस्याश्रयो यथासम्भवं तद् द्रव्यं मूर्तिः मूर्छितावयवत्वादिति।

भा०:—इन्द्रियों से ग्रहण करने योग्य गुरुता, कठिनाई, द्रवत्व और स्पर्श आदि विशेष गुणों की आश्रय रूप मूर्त्ति को व्यक्ति कहते हैं। इसी का दूसरा नाम द्रव्य है। घट, वस्त्र आदि द्रव्य हैं ॥ ६४ ॥

आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या ॥ ६५ ॥

यया जातिर्जातिलिङ्गानि च प्रख्यायन्ते तामाकृतिं विद्यात्। सा च नान्यासत्त्वावयवानां तदवयवानां च नियताद् व्यूहादिति। नियतावयवव्यूहाः खलु सत्त्वावयवा जातिलिङ्गं शिरसा पादेन गामनुमिन्वन्ति। नियते च सत्त्वावयवानां व्यूहे सति गोत्वं प्रख्यायत इति। अनाकृतिव्यङ्ग्यायां जातौ मृत्सुवर्णं रजतम् इत्येवमादिष्वाकृतिर्निवर्तते जहाति पदार्थत्वमिति।

भा०:—जिस से जाति और उस के लिङ्ग प्रसिद्ध किये जायं उसे आकृति कहते और उक के अङ्गों की नियत रचना जाति का चिन्ह है। शिर, और पादों से गाय को पहिचानते हैं। अवयवों के नियत होने से 'गोत्व' प्रसिद्ध होता है। कि "यह गौ है" इत्यादि ॥ ६५ ॥

समानप्रसवात्मिका जातिः ॥ ६६ ॥

या समानां बुद्धिं प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु यया बहूनीतरेतरतो न व्यावर्तन्ते योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्तिनिमित्तं तत्सामान्यम्। यच्च केषांचिदभेदं कुतश्चिद्भेदं करोति तत् सामान्यविशेषो जातिरिति।

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

भा०:—द्रव्यों के आपस में भेद रहते भी जिससे समान बुद्धि उत्पन्न हो उसे 'जाति' कहते हैं, जैसे घटों का परस्पर भेद है, पर घटत्व रूप से सब एक हैं। इसी लिये 'घट', 'घट' यह एक रूप से बोध होता है। अनेक व्यक्तियों के एक नाम पड़ने का यही कारण है। सब घटों का पट आदि वस्तुओं से इसी जातिरूप भेदक धर्म के रहने से भेद होता है, नहीं तो सब एक ही नाम से पुकारे जाते ॥ ६६ ॥

न्यायशास्त्र के द्वितीय अध्याय के द्वितीय आन्हिक का अनुवाद
पूरा हुआ और दूसरा अध्याय भी समाप्त हुआ ॥ २ ॥

परीक्षितानि प्रमाणानि प्रमेयमिदानीं परीक्ष्यते। तत्रात्मादीत्यात्मा विविच्यते किं देहेन्द्रियमनोबुद्धिवेदनासंघातमात्रमात्मा आहो स्वित्तद्व्यतिरिक्त इति। कुतः संशयः।

व्यपदेशस्योभयथा सिद्धेः क्रियाकरणयोः कर्त्रा संबन्धस्याभिधानं व्यपदेशः। स द्विविधः अवयवेन समुदायस्य मूलैर्वृक्षस्तिष्ठति स्तम्भैः प्रासादो ध्रियतइति अन्येनान्यस्य व्यपदेशः परशुना वृश्चति प्रदीपेन पश्यति। अस्ति चायं व्यपदेशः चक्षुषा पश्यति मनसा विजानाति बुद्ध्या विचारयति शरीरेण सुखदुःखमनुभवतीति। तत्र नावधार्यते किमवयवेन समुदायस्य देहादिसंघातस्य अथान्येनान्यस्य तद्व्यतिरिक्तस्येति। अन्येनायमन्यस्य व्यपदेशः। कस्मात्—

भा०:—प्रमाणों की परीक्षा हो चुकी। अब (अ० ३ में) प्रमेय की परीक्षा किये जायगी. वे प्रमेय आत्मा आदि हैं इसलिये प्रधान प्रमेय रूप आत्मा ही की पहिले परीक्षा करनी चाहिये। क्या देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, इन सब का समुदाय मात्र अर्थात् देहादि पदार्थों के समूह को ही आत्मा कहते हैं, या आत्मा इन से भिन्न ही पदार्थ है? व्यवहार की सिद्धि दो प्रकार से होती है इसलिये सन्देह होता है। क्रिया और करण के कर्त्ता के साथ सम्बन्ध के कथन को "व्यपदेश" कहते हैं और वह 'व्यपदेश' दो प्रकार का है। एक वह है जो अवयव से समुदाय का, 'जैसे जड़ों से वृक्ष खड़ा है,' 'स्तम्भों ने घर को थांभ रक्खा है' इत्यादि। दूसरे से दूसरे का जैसे 'कुल्हाड़ी से काटता,' 'दीपक से देखता' इत्यादि, यह 'व्यपदेश' है कि 'आंख से देखता,' 'मन से जानता,' 'बुद्धि से विचार करता और शरीर से सुख दुःख भोगता है।' अब यहां यह निश्चय नहीं होता कि यह व्यपदेश किस प्रकार का है?। अवयव से समुदाय का, या अन्य से देहादि समुदाय से भिन्न वस्तु का है। अर्थात् 'आंख से देखता है,' यह व्यवहार 'जड़ से वृक्ष खड़ा है' इस के तुल्य है। यदि ऐसा हो तो, देह, इन्द्रिय, आदि वस्तुओं का समुदाय आत्मा है, इससे भिन्न वस्तु नहीं। क्योंकि 'जड़ से वृक्ष खड़ा है'। यहां जड़, शाखा, आदि वस्तुओं के समुदाय का ही बोध होता है, इन्हीं के समुदाय का नाम 'वृक्ष' है। और जो 'दीपक से देखता है' इस के ऐसा 'आंख से देखता है' यह व्यवहार हो, तो देहादि पदार्थों से आत्मा, भिन्न पदार्थ है, यही सिद्ध होगा। क्योंकि दृष्टान्त में देखने वाला दीपक से भिन्न है। अब पीछले पक्ष को सिद्ध करते हैं।

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ॥ १ ॥

दर्शनेन कश्चिदर्थो गृहीतः स्पर्शनेनापि सोऽर्थो गृह्यते यमहमद्राक्षं चक्षुषा तं स्पर्शनेनापि स्पृशामीति यं चास्प्राक्षं स्पर्शनेन तं चक्षुषा पश्यामीति। एकविषयौ चेमौ प्रत्ययावेककर्तृकौ प्रतिसन्धीयेते न च संघातकर्तृकौ नेन्द्रियेणैककर्तृकौ। तद्योऽसौ चक्षुषा त्वगिन्द्रियेण चैकार्थस्य ग्रहीता भिन्ननिमित्तावनन्यकर्तृकौ प्रत्ययौ समानविषयौ प्रतिसन्दधाति सोऽर्थान्तरभूत आत्मा। कथं पुनर्नेन्द्रियेणैककर्तृकौ इन्द्रियं खलु स्वस्वविषयग्रहणमनन्यकर्तृकं प्रतिसन्धातुमर्हति नेन्द्रियान्तरस्य विषयान्तरग्रहणमिति। कथं न संघातकर्तृकौ एकः खल्वयं भिन्ननिमित्तौ स्वात्मकर्तृकौ प्रतिसंहितौ वेदयते न संघातः। कस्मात् अनिवृत्तं हि संघाते प्रत्येकं विषयान्तरग्रहणस्याप्रतिसन्धानमिन्द्रियान्तरेणेवेति।

भा०:—' आंख से देखता. ' ' कान से सुनता. ' इत्यादि व्यवहार ' दीपक से देखता, ' ' छुरी से काटता. ' आदि व्यवहारों की नाईं हैं। क्योंकि देखने और स्पर्श करने से एक विषय का ज्ञान होता है. देखने से किसी विषय का ज्ञान हुआ: वही विषय स्पर्श से भी जाना जाता है। 'जो वस्तु मैं ने आंख से देखी थी.' ' उसी को मैं हाथ से छूता हूं. '। 'जिस स्पर्श इन्द्रिय से छूआ था उसी को आंख से देखता हूं. '। ये दोनों ज्ञान एक विषय और एक कर्तृक हैं। न तो इन का कर्त्ता देहादिकों का समुदाय है और न इन्द्रिय, इसलिये आंख और त्वचा से एक विषय से अनुभव करने वाला है, वह देह इन्द्रियादि से भिन्न. आत्मा है ॥ १ ॥

न विषयव्यवस्थानात् ॥ २ ॥

न देहादिसंघातादन्यश्चेतनः। कस्माद्विषयव्यवस्थानात्। व्यवस्थितविषयाणीन्द्रियाणि चक्षुष्यसति रूपं न गृह्यते सति च गृह्यते। यच्च यस्मिन्नसति न भवति सति भवति तस्य तदिति विज्ञायते। तस्माद्रूपग्रहणं चक्षुषः चक्षू रूपं पश्यति। एवं घ्राणादिष्वपीति। तानीन्द्रियाणीमानि स्वस्वविषयग्रहणाच्चेतनानि इन्द्रियाणां भावाभावयोर्विषयग्रहणस्य तथाभावात्। एवं सति किमन्येन चेतनेन ॥

* सन्दिग्धत्वादहेतुः।

योऽयमिन्द्रियाणां भावाभावयोर्विषयग्रहणस्य तथाभावः स किमयं चेतनत्वादाहो स्विच्चेतनोपकरणानां ग्रहणनिमित्तत्वादिति सन्दिह्यते। चेत-

नोपकरणत्वेऽपीन्द्रियाणां ग्रहणनिमित्तत्वाद्भवितुमर्हति। यच्चोक्तं विषयव्यवस्थानादिति॥

भा०:—देहादि से भिन्न कोई चेतन नहीं है। विषय की व्यवस्था होने में इन्द्रियों के विषय नियत हैं। आंख के रहते रूप का ज्ञान होता है और उस के अभाव में रूप का बोध नहीं होता और यह नियम है कि जिस के विद्यमान रहते जो होता और उस के अभाव में नहीं रहता, वह उस को कहा जाता है इसलिये रूप का ज्ञान नेत्र का है, नेत्र रूप को देखता है। यही वृत्तांत बाकी इन्द्रियों का जान लेना। ये इन्द्रियां अपने २ विषय के ग्रहण करने में चेतन हैं। इन्द्रियों के भाव और अभाव से विषयों का भाव और अभाव होते हैं। फिर इन से भिन्न किसी चेतन के मानने की क्या आवश्यकता है॥ २॥

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः॥ ३॥

यदि खल्वेकमिन्द्रियमव्यवस्थितविषयं सर्वज्ञं सर्वविषयग्राहि चेतनं स्यात् कस्ततोऽन्यं चेतनमनुमातुं शक्नुयात्। यस्मात्तु व्यवस्थितविषयाणीन्द्रियाणि तस्मात्तेभ्योऽन्यश्चेतनः सर्वज्ञः सर्वविषयग्राही विषयव्यवस्थितिमतीतोऽनुमीयते। तत्रेदं प्रत्यभिज्ञानमप्रत्याख्येयं चेतनवृत्तमुदाह्रियते। रूपदर्शी खल्वयं रसं गन्धं वा पूर्वगृहीतमनुमिनोति। गन्धप्रतिसंवेदी च रूपरसावनुमिनोति एवं विषयशेषेऽपि वाच्यम्। रूपं दृष्ट्वा गन्धं जिघ्रति घ्रात्वा च गन्धं रूपं पश्यति। तदेवमनियतपर्यायं सर्वविषयग्रहणमेकचेतनाधिकरणमनन्यकर्तृकं प्रतिसन्धत्ते प्रत्यक्षानुमानागमसंशयान् प्रत्ययांश्च नानाविषयान् स्वात्मकर्तृकान् प्रतिसन्दधाति प्रतिसन्धाय वेदयते। सर्वविषयं च शास्त्रं प्रतिपद्यते अर्थमविषयभूतं श्रोत्रस्य क्रमभाविनो वर्णान् श्रुत्वा पदवाक्यभावेन प्रतिसन्धाय शब्दार्थव्यवस्थां च बुध्यमानोऽनेकविषयमर्थजातमग्रहणीयमेकैकेनेन्द्रियेण गृह्णाति। सेयं सर्वज्ञस्य ज्ञेयाव्यवस्थाऽनुपदं न शक्या परिक्रमितुम्। आकृतिमात्रं तूदाहृतम्। तत्र यदुक्तमिन्द्रियचैतन्ये सति किमन्येन चेतनेन तदयुक्तं भवति। इतश्च देहादिव्यतिरिक्त आत्मा न देहादिसंघातमात्रम्॥

भा०:—इन्द्रियों की व्यवस्था ही से आत्मा की सत्ता होने से प्रतिषेध नहीं होसक्ता। जो एक इन्द्रिय सर्वज्ञ और सब विषयों का ग्राहक चेतन होता, तो कौन उस से अन्य चेतन का अनुमान कर सक्ता? जिस लिये इन्द्रियों के विषय नियत हैं इसी कारण उन से भिन्न सर्वज्ञ सब नियमों का

ज्ञाता चेतन आत्मा अनुमान किया जाता है। यहां कुछ चेतन वृत्तांत का उदाहरण लिखते हैं। रूप का देखने वाला पहिले अनुभव किये रस और गन्ध का अनुमान करता है। ऐसे ही गन्ध का ज्ञाता रूप और रस का अनुमान करता है ऐसे ही अन्य विषयों का भी वृत्तान्त जानना चाहिये। इस से सिद्ध हुआ कि सब नियमों का ज्ञाता कोई एक चेतन है, इसलिये जो कहा था कि 'इन्द्रियों को चेतन मानलेंगे फिर इन से भिन्न चेतन मानने की क्या आवश्यकता है' यह बात खण्डित होगई ॥ ३ ॥

शरीरदाहे पातकाभावात् ॥ ४ ॥

शरीरग्रहणेन शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनासंघातः प्राणिभूतो गृह्यते। प्राणिभूतं शरीरं दहतः प्राणिहिंसाकृतपापं पातकमित्युच्यते। तस्याभावः तत्फलेन कर्तुरसम्बन्धात्। अकर्तुश्च सम्बन्धात् शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनाप्रबन्धे खल्वन्यः सङ्घात उत्पद्यतेऽन्यो निरुध्यते। उत्पादनिरोधसन्ततिभूतः प्रबन्धो नान्यत्वं बाधते देहादिसङ्घातस्यान्यत्वाधिष्ठानत्वात्। अन्यत्वाधिष्ठानो ह्यसौ प्रख्यायत इति। एवं सति यो देहादिसंघातः प्राणिभूतो हिंसां करोति नासौ हिंसाफलेन सम्बध्यते सम्बध्यते यश्च न तेन हिंसा कृता। तदेवं सत्त्वभेदे कृतहानमकृताभ्यागमः प्रसज्यते। सति च सत्त्वोत्पादे सत्त्वनिरोधे चाकर्मनिमित्तः सत्त्वसर्गःप्राप्नोति तत्र मुक्त्यर्थो ब्रह्मचर्यवासो न स्यात्। तद्यदि देहादिसङ्घातमात्रं सत्त्वं स्याच्च शरीरदाहे पातकं न भवेत्। अनिष्टं चैतत् तस्माद्देहादिसङ्घातव्यतिरिक्त आत्मा नित्य इति।

भा०:—शरीर कहने से देह, इन्द्रिय, बुद्धि, वेदना, का समूह समझना चाहिये। जैसे शरीर के जलाने वाले को प्राणिहिंसा का पाप लगता है। यदि शरीर से भिन्न कोई आत्मा न मानोगे, तो पाप का अभाव हो जायगा। अर्थात् उस के फल से कर्त्ता का कुछ सम्बन्ध न रहेगा, क्योंकि जिस शरीर ने हिंसा कियी। वह तो नष्ट हो जायगा और उस के स्थान में दूसरा उत्पन्न होगा, उसने तो हत्या कियी नहीं। यदि कहो कि पाप का फल, वह शरीर भोगेगा, तो 'कृतहानि' और 'अकृताभ्यागम' रूप दोष गले पड़ेगा। अर्थात् जिस देहादि समुदाय ने हत्या किया, उस को तो हत्या का फल मिला नहीं और जिस ने न किया था उस को मिला; इसलिये देहादि समुदाय से भिन्न नित्य आत्मा मानना चाहिये ॥ ४ ॥

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् ॥ ५ ॥

यस्यापि नित्येनात्मना सात्मकं शरीरं दह्यते तस्यापि शरीरदाहे पातकं न भवेद्दग्धुः । कस्मान्नित्यत्वादात्मनः । न जातु कश्चिन्नित्यं हिंसितुमर्हति अथ हिंस्यते नित्यत्वमस्य न भवति । सेयमेकस्मिन्पक्षे हिंसा निष्फलाऽन्यस्मिंस्त्वनुपपन्नेति ।

भा०:—जो नित्य आत्मा मानता है, उस के मत में भी आत्मा सहित शरीर जलाया जाता है, उस के मत में भी जलाने वाले को पाप न होगा, क्योंकि आत्मा नित्य है और ऐसी किसी की शक्ति नहीं जो नित्य का नाश कर सके। जो कहो कि आत्मा की हिंसा होती है, तो आत्मा नित्य न हुआ। पहिले पक्ष में हिंसा निष्फल होती और दूसरे पक्ष में हिंसा सिद्ध नहीं होती। पूर्व पक्ष करने वाले का अभिप्राय यह है कि जो दोष दोनों के मत में समान है उस का देना योग्य नहीं ॥ ५ ॥

न कार्याश्रयकर्तृवधात् ॥ ६ ॥

न ब्रूमो नित्यस्य सत्त्वस्य वधो हिंसा अपि त्वनुच्छित्तिधर्मकस्य सत्त्वकार्याश्रयस्य शरीरस्य स्वविषयोपलब्धेश्च कर्तृणामिन्द्रियाणामुपघातः पीडा वैकल्यलक्षणः प्रबन्धोच्छेदो वा प्रमापणलक्षणो वा वधो हिंसेति । कार्यं तु सुखदुःखसंवेदनं तस्यायतनमधिष्ठानमाश्रयः शरीरं कार्याश्रयस्य शरीरस्य स्वविषयोपलब्धेश्च कर्तृणामिन्द्रियाणां वधो हिंसा न नित्यस्यात्मनः । तत्र यदुक्तं तदभावः सात्मकप्रदाहेपि तन्नित्यत्वादित्येतदयुक्तम् । यस्य सत्त्वोच्छेदो हिंसा तस्य कृतहानमकृताभ्यागमश्चेति दोषः । एतावच्चैतत्स्यात् सत्त्वोच्छेदो वा हिंसानुच्छित्तिधर्मकस्य सत्त्वस्य कार्याश्रयकर्तृवधो वा न कल्पान्तरमस्ति । सत्त्वोच्छेदश्च प्रतिषिद्धः तत्र किमन्यच्छेषं यथाभूतमिति । अथ वा कार्याश्रयकर्तृवधादिति कार्याश्रयो देहेन्द्रियबुद्धिसङ्घातो नित्यस्यात्मनस्तत्र सुखदुःखप्रतिसंवेदनं तस्याधिष्ठानमाश्रयः तदायतनं तद्भवति न ततोन्यदिति स एव कर्ता । तन्निमित्ता हि सुखदुःखसंवेदनस्य निर्वृत्तिः न तमन्तरेणेति । तस्य वध उपघातः पीडा प्रमापणं वा हिंसा न नित्यत्वेनात्मोच्छेदः । तत्र यदुक्तं तदभावः सात्मकप्रदाहेपि तन्नित्यत्वादेतन्नेति । इतश्च देहादिव्यतिरिक्त आत्मा ।

भा०:-(सिद्धान्ती कहता है कि) नित्य आत्मा के वध को हम हिंसा नहीं कहते, किन्तु कार्याश्रय शरीर और अपने विषय के ज्ञान हेतु इन्द्रियों के घात को हिंसा कहते हैं। सुख, दुःख का ज्ञान कार्य है, उस के आश्रय को 'शरीर' कहते हैं उस की और स्वविषय के ग्राहक इन्द्रियों की हिंसा होती है, नित्य

आत्मा की नहीं इसलिये उक्त दोष हमारे मत में कभी नहीं आसकता है ॥ ६ ॥

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ ७ ॥

पूर्वपरयोर्विज्ञानयोरेकविषये प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानं तमेवैतर्हि पश्यामि यमज्ञासिषं स एवायमर्थ इति सव्येन चक्षुषा दृष्टमथेतरेणापि चक्षुषा प्रत्यभिज्ञानाद् यमद्राक्षं तमेवैतर्हि पश्यामीति। इन्द्रियचैतन्ये तु नान्यदृष्टमन्यः प्रत्यभिजानातीति प्रत्यभिज्ञानुपपत्तिः। अस्ति त्विदं प्रत्यभिज्ञानं तस्मादिन्द्रियव्यतिरिक्तश्चेतनः।

भा०: बाईं आंख से देखी वस्तु का, दाहिनी आंख से प्रत्ययभिज्ञान होने से देहादिकों से अलग 'आत्मा' सिद्ध होता है। आगे पीछे होने वाले दो ज्ञानों का, एक विषय में मेल को 'प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। जैसे 'अब मैं उस वस्तु को देख रहा हूं, जिसे पहिले देखा था, यह वही पदार्थ है'। इन्द्रियों में चेतनता मानोगे, तो प्रत्यभिज्ञान की उपपत्ति न हो सकेगी, क्योंकि यह नहीं हो सक्ता कि देखे कोई और प्रत्यभिज्ञान किसी और ही को हो। इसलिये इन्द्रियों से पृथक् कोई चेतन अवश्य मानना चाहिये, नहीं तो प्रत्यभिज्ञा की उपपत्ति न हो सकेगी ॥ ७ ॥

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ॥ ८ ॥

एकमिदं चक्षुर्मध्ये नासास्थिव्यवहितं तस्यान्तौ गृह्यमाणौ द्वित्वाभिमानं प्रयोजयतो मध्यव्यवहितस्य दीर्घस्येव।

भा०:-(ऊपर जो दोष दिया गया है वह ठीक नहीं, क्योंकि) चक्षु इन्द्रिय एक ही है। नाक की हड्डी के बीच में आजाने से दो हैं। ऐसा जान पड़ता है, जैसे किसी तालाब के बीच में पुल बांधने से दो तालाब जान पड़ें, तब बाईं आंख से देखी वस्तु का दाहिनी से प्रत्यभिज्ञान न होगा यह दोष नहीं आसकता है ॥ ८ ॥

एकविनाशे द्वितीयाविनाशान्नैकत्वम् ॥ ९ ॥

एकस्मिन्नुपहते चोद्धृते वा चक्षुषि द्वितीयमवतिष्ठते चक्षुर्विषयग्रहणे लिङ्गं तस्मादेकस्य व्यवधानानुपपत्तिः।

भा०-एक आंख के नष्ट होने से दूसरे का नाश नहीं होता, इसलिये नेत्र इन्द्रिय एक नहीं, अन्यथा काने को देख न पड़ना चाहिये और यह प्रत्यक्ष है कि काना मनुष्य भलीभांति देख सक्ता है ॥ ९ ॥

अवयवनाशे ऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ॥ १० ॥

एकविनाशे द्वितीयाविनाशादित्यहेतुः । कस्माद् वृक्षस्य हि कासु चिच्छाखासु छिन्नासूपलभ्यतएव वृक्षः ।

भा०:—अवयव के नाश होने पर भी अवयवी की उपलब्धि होने से, तुम्हारा हेतु ठीक नहीं, क्योंकि वृक्ष की कई एक शाखाओं के काटे जाने पर भी वृक्ष बना रहता है ऐसे ही एक आंख के फूट जाने पर भी दूसरी आंख बनी ही रहती है ॥ १० ॥

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥ ११ ॥

न कारणद्रव्यविभागे कार्यद्रव्यमवतिष्ठते नित्यत्वप्रसङ्गात् । बहुष्ववयविषु यस्य कारणानि विभक्तानि तस्य विनाशः येषां कारणान्यविभक्तानि तानि अवतिष्ठन्ते । अथ वा दृश्यमानार्थविरोधो दृष्टान्तविरोधः । मृतस्य हि शिरःकपाले द्वाववटौ नासास्थिव्यवहितौ चक्षुषः स्थाने भेदेन गृह्येते न चैतदेकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते सम्भवति। अथ चैकविनाशस्याऽनियमाद् द्वाविमावर्थौ तौ च पृथगावरणोपघातौ अनुमीयेते विभिन्नाविति । अवपीडनाच्चैकस्य चक्षुषो रश्मिविषयसन्निकर्षस्य भेदाद्दृश्यभेद इव गृह्यते तच्चैकत्वे विरुध्यते । अवपीडननिवृत्तौ चाभिन्नप्रतिसन्धानमिति तस्मादेकस्य व्यवधानानुपपत्तिः । अनुमीयते चायं देहादिसंघातव्यतिरिक्तश्चेतन इति ।

भा०—दृष्टान्त के विरोध से प्रतिषेध नहीं हो सकता। कारण द्रव्य के विभाग होने पर, कार्य द्रव्य ठहर नहीं सकता। नहीं तो नित्य हो जायगा। या दृश्यमान अर्थ के विरोध को दृष्टान्त विरोध कहते हैं । मरे मनुष्य के कपाल में दो छेद स्पष्ट देख पड़ते हैं और उन के बीच में नाक की हड्डी रहती है। जो एक ही चक्षु होता, तो उस के बीच में नाक की हड्डी कभी न रह सकती, इस से सिद्ध हुआ कि एक वस्तु में व्यवधान नहीं हो सकता ॥ ११ ॥

इन्द्रियान्तरविकारात् ॥ १२ ॥

कस्यचिदम्लफलस्य गृहीततद्रससाहचर्ये रूपे गन्धे वा केनचिदिन्द्रियेण गृह्यमाणे रसनस्येन्द्रियान्तरस्य विकारः रसानुस्मृतौ रसगर्धिप्रवर्तितो दन्तोदकसंप्लवभूतो गृह्यते । तस्येन्द्रियचैतन्येऽनुपपत्तिः नान्यदृष्टमन्यः स्मरति ।

भा०—किसी खट्टे फल के रूप या गन्ध के किसी इन्द्रिय से ज्ञान होने पर दूसरी इन्द्रिय रसना का विकार रस के स्मरण होने से उत्पन्न होता है । अर्थात् उस [illegible] इच्छा से मुख में पानी भर आता है । इन्द्रियों को चेतन

मानने से यह बात सिद्ध नहीं हो सकती. क्योंकि दूसरे से दृष्ट पदार्थ का अन्य को स्मरण नहीं होता ॥ १२ ॥

न स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ॥ १३ ॥

स्मृतिर्नाम धर्मो निमित्तादुत्पद्यते तस्याः स्मर्तव्यो विषयः तत्कृत इन्द्रियान्तरविकारो नात्मकृत इति ॥

भा०:—स्मृतिरूप धर्म निमित्त से उत्पन्न होता है और उस का कारण स्मरण योग्य विषय है। उस का किया हुआ इन्द्रियान्तर का विकार है, आत्मा का किया नहीं ॥ १३ ॥

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ॥ १४ ॥

तस्या आत्मगुणत्वे सति सद्भावादप्रतिषेध आत्मनः। यदि स्मृतिरात्मगुणः एवं सति स्मृतिरुपपद्यते नान्यदृष्टमन्यः स्मरतीति। इन्द्रियचैतन्ये तु नानाकर्तृकाणां विषयग्रहणानामप्रतिसन्धानं प्रतिसन्धाने वा विषयव्यवस्थानुपपत्ति। एकस्तु चेतनोऽनेकार्थदर्शी भिन्ननिमित्तः। पूर्वदृष्टमर्थं स्मरतीति एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानात्। स्मृतेरात्मगुणत्वे सति सद्भावः विपर्यये चानुपपत्तिः। स्मृत्याश्रयाः प्राणभृतां सर्वे व्यवहाराः। आत्मलिङ्गमुदाहरणमात्रमिन्द्रियान्तरविकार इति।

भा०:—स्मृति, आत्मा का गुण है इसलिये इस का प्रतिषेध नहीं होसक्ता। जब स्मृति आत्मा का गुण माना जाता है तभी यह सिद्ध होता कि और की देखी वस्तु का और को स्मरण नहीं हो सकता। इन्द्रियों को चेतन मानोगे तो अनेक जिन के कर्त्ता हैं ऐसे विषयों के ज्ञानों का प्रतिसन्धान न हो सकेगा। जब 'एक चेतन अनेक विषयों का देखने वाला भिन्न २ कारणों से पहिले अनुभव किये विषयों का स्मरण करता है' यह सिद्धान्त मानोगे, तब अनेक विषयों के द्रष्टा को दर्शन प्रतिसन्धान से स्मृति का होना सिद्ध होगा, अन्यथा नहीं, क्योंकि प्राणियों के सारे व्यवहार स्मृति के आधीन हैं ॥ १४ ॥

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य ॥ १५ ॥

अपरिसंख्याय च स्मृतिविषयमिदमुच्यते न स्मृतेः स्मर्तव्यविषयत्वादिति। येयं स्मृतिरगृह्यमाणेऽर्थेऽज्ञासिषमहममुमर्थमिति एतस्या ज्ञातृज्ञानविशिष्टः पूर्वज्ञातोऽर्थो विषयो नार्थमात्रं ज्ञातवानहममुमर्थम् असावर्थो मया ज्ञातः अस्मिन्नर्थे मम ज्ञानमभूदिति। चतुर्विधमेतद्वाक्यं स्मृतिविषयज्ञापकं समानार्थम्। सर्वत्र खलु ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयं च गृह्यते। अथ प्रत्यक्षेऽर्थे या स्मृति-

स्तया त्रीणि ज्ञानानि एकस्मिन्नर्थे प्रतिसन्धीयन्ते समानकर्तृकाणि न नानाकर्तृकाणि नाकर्तृकाणि किं तर्ह्येककर्तृकाणि। अद्राक्षममुमर्थं यमेवैतर्हि पश्यामि अद्राक्षमिति दर्शनं दर्शनसंविच्च न खल्वसंविदिते स्वे दर्शने स्यादेतदद्राक्षमिति। ते खल्वेते द्वे ज्ञाने। यमेवैतर्हि पश्यामीति तृतीयं ज्ञानमेवमेकोऽर्थस्त्रिभिर्ज्ञानैर्युज्यमानो नाकर्तृको न नानाकर्तृकः किं तर्ह्येककर्तृक इति। सोयं स्मृतिविषयोऽपरिसंख्यायमानो विद्यमानः प्रज्ञातोर्थः प्रतिषिध्यते। नास्त्यात्मा स्मृतेः स्मर्तव्यविषयत्वादिति। न चेदं स्मृतिमात्रं स्मर्तव्यमात्रविषयम् इदं खलु ज्ञानप्रतिसन्धानवत्स्मृतिप्रतिसन्धानमेकस्य सर्वविषयत्वात्। एकोयं ज्ञाता सर्वविषयः स्वानि ज्ञानानि प्रतिसन्धत्ते अमुमर्थं ज्ञास्यामि अमुमर्थं विजानाम्यमुमर्थमज्ञासिषममुमर्थं जिज्ञासमानश्चिरमज्ञात्वाऽध्यवस्यत्यज्ञासिषमिति। एवं स्मृतिमपि त्रिकालविशिष्टां सुस्मूर्षाविशिष्टां च प्रति सन्धत्ते। संस्कारसन्ततिमात्रे तु सत्त्वे उत्पद्योत्पद्य संस्कारास्तिरोभवन्ति स नास्त्येकोपि संस्कारो यस्त्रिकालविशिष्टं ज्ञानं स्मृतिं चानुभवेत्। न चानुभवमन्तरेण ज्ञानस्य स्मृतेश्च प्रतिसन्धानमहं ममेति चोत्पद्यते देहान्तरवत्। अतोनुमीयते अस्त्येकः सर्वविषयः प्रतिदेहं स्वज्ञानप्रबन्धं स्मृतिप्रबन्धं च प्रतिसन्धत्ते इति। यस्य देहान्तरेषु वृत्तेरभावान्न प्रतिसन्धानं भवतीति॥

भा०:-और स्मृति विषय की गणना न करके तुम ने उक्त बात कही इस लिये ठीक नहीं। 'परोक्ष अर्थ में इस विषय को मैं ने जाना' यह जो स्मृति है इसका ज्ञाता और ज्ञान युक्त विषय है केवल अर्थ ही नहीं। 'इस अर्थ को मैं ने जाना.' 'इस विषय में मुझ से जाना गया,' 'इस विषय का मुझ को ज्ञान हुआ'। ये चार प्रकार के स्मृति विषय के बोधक तुल्यार्थक हैं। निस्सन्देह इन सब वाक्यों से ज्ञाता, ज्ञान और विषय जाने जाते हैं। अब प्रत्यक्ष विषय में जो स्मरण होता है, उस से तीन ज्ञान एक विषय में प्रतीत होते हैं, उन सब ज्ञानों का कर्त्ता एक ही है, उन के अनेक कर्त्ता नहीं और न वह ज्ञान विना कर्त्ता के हैं। जिस अर्थ को मैं ने देखा, उसी को अब देख रहा हूं। इस में दर्शन और ज्ञान दो हैं, 'उसी को अब देखता हूं' यह तीसरा ज्ञान। इस प्रकार एक ही अर्थ तीन ज्ञानों से युक्त हुआ, इसलिये यह स्मृति का विषय विद्यमान ज्ञात अर्थ का प्रतिषेध किया जाता कि 'आत्मा नहीं.' यह केवल स्मरण योग्य विषयक ही नहीं, किन्तु ज्ञानों के प्रतिसन्धान की नाईं एक को सर्व विषय होने से स्मृति का प्रति सन्धान होता है। एक

ज्ञाता अपने ज्ञानों का विचार करता है, कि 'इस विषय को जानूंगा,' 'इस को जानता हूं' और इसे जाना', 'अमुक अर्थ के जानने की इच्छा करता हुआ बहुत काल तक न जान कर फिर मैं ने जाना,' ऐसा निश्चय करता है ऐसे ही त्रिकाल युक्त स्मरणेच्छा विशिष्ट स्मृति की भी चिन्ता करता है, इस से अनुमान होता है कि देहादिकों से भिन्न कोई ज्ञाता (आत्मा) है ॥ १५ ॥

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् ॥ १६ ॥

न (देहादि) संघातव्यतिरिक्त आत्मा । कस्मात् आत्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात् । दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादित्येवमादीनामात्मप्रतिपादकानां हेतूनां मनसि सम्भवो यतः मनो हि सर्वविषयमिति तस्मान्न शरीरेन्द्रियमनो (बुद्धिसंघात) व्यतिरिक्त आत्मेति ॥

भा०:—देह आदि समुदाय से भिन्न आत्मा नहीं है, क्योंकि आत्मा के साधक जितने हेतु हैं उन का मन में सम्भव है । अर्थात् दर्शन और स्पर्श से एक विषय का ज्ञान होना इत्यादि जो आत्मा के सिद्ध करने वाले हेतु दिखलाये हैं, वे सब मन में घट सकते हैं, क्योंकि मन सर्व विषयक है ॥ १६ ॥

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम् ॥ १७ ॥

ज्ञातुः खलु ज्ञानसाधनान्युपपद्यन्ते चक्षुषा पश्यति घ्राणेन जिघ्रति स्पर्शनेन स्पृशति (एवं मन्तुः सर्वविषयस्य मतिसाधन मन्तःकरणभूतं सर्वविषयं विद्यते येनायं मन्यतइति ।) एवं सति ज्ञातर्यात्मसंज्ञा न मृष्यते मनःसंज्ञाभ्यनुज्ञायते । मनसि च मनःसंज्ञा न मृष्यते मतिसाधनं त्वभ्यनुज्ञायते । तदिदं संज्ञाभेदमात्रं नार्थे विवाद इति । प्रत्याख्याने वा सर्वेन्द्रियविलोपप्रसङ्गः । अथ मन्तुः सर्वविषयस्य मतिसाधनं सर्वविषयं प्रत्याख्यायते नास्तीति एवं रूपादिविषयग्रहणसाधनान्यपि न सन्ति इति सर्वेन्द्रियविषयलोपः प्रसज्यतइति ॥

भा०:—ज्ञाता के ज्ञान के साधक पाये जाते हैं, जैसे आंख से देखता, नाक से सूंघता, और त्वक्इन्द्रिय से छूता है, इसी प्रकार सब विषयों के मनन करने वाले का मतिसाधन सब विषयक भीतरी इन्द्रिय है, जिसके द्वारा आत्मा विचार करता है । जब यह बात सिद्ध हो गई तब तो यही ठहरा कि 'ज्ञाता' का 'आत्मा' यह नाम नहीं माना । उस का 'मन' यह नाम रक्खा और मन का मन यह नाम न रक्खकर मतिसाधन कहते हो, तो यह केवल नाम का भेद हुआ, वस्तु में विवाद नहीं । और जो सब विषय का विचार करने वाला है, उस के लिये सर्वविषय के विचार का साधक न मा-

जोगे. तो रूप आदि विषयों के ज्ञानसाधक भी न माने जायंगे और फिर सब इन्द्रियों का अभाव हो जायगा ॥ १७ ॥

नियमश्च निरनुमानः ॥ १८ ॥

योयं नियम इष्यते रूपादिग्रहणसाधनान्यस्य सन्ति मतिसाधनं सर्वविषयं नास्तीति । अयं नियमो निरनुमानो नात्रानुमानमस्ति येन नियमं प्रतिपद्यामहइति । रूपादिभ्यश्च विषयान्तरं सुखादयस्तदुपलब्धौ करणान्तर सद्भावः । यथा चक्षुषा गन्धो न गृह्यतइति करणान्तरं घ्राणमेवं चक्षुर्घ्राणाभ्यां रसो न गृह्यत इति करणान्तरं रसनम् एवं शेषेष्वपि । तथा चक्षुरादिभिः सुखादयो न गृह्यन्तइति करणान्तरेण भवितव्यं तच्च ज्ञानायौगपद्यलिङ्गम् । यच्च सुखाद्युपलब्धौ करणं तच्च ज्ञानायौगपद्यलिङ्गम् तस्येन्द्रियमिन्द्रियं प्रति सन्निधेरसन्निधेः न युगपज् ज्ञानान्युत्पद्यन्ते इति तत्र यदुक्तमात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवादिति तदयुक्तम् । किं पुनरयं देहादिसंघातादन्यो नित्य उतानित्य इति । कुतः संशयः उभयथा दृष्टत्वात् संशयः । विद्यमानमुभयथा भवति नित्यमनित्यं च । प्रतिपादिते चात्मसद्भावे संशयानिवृत्तेरिति । आत्मसद्भावहेतुभिरेवास्य प्राग् देहभेदादवस्थानं सिद्धमूर्ध्वमपि देहभेदादवतिष्ठते कुतः ॥

भा०:-'रूपादि के ज्ञान साधन इन्द्रिय हैं' और 'सर्वविषयक मति साध- नहीं '। इस नियम के मानने में कोई तर्क नहीं देख पड़ता । और रूपादि विषयों से सुख दुःख आदि भिन्न हैं इसलिये उन के ज्ञान का साधन नेत्र आदि इन्द्रियों से पृथक् कोई अवश्य मानने पड़ेगा । जैसे आंख से गन्ध का ज्ञान नहीं होता इसलिये दूसरा इन्द्रिय घ्राण माना गया. ऐसे ही नेत्र और घ्राण इन दोनों ही से रस का ज्ञान नहीं होता, तब रसना इन्द्रिय मानना ही पड़ा। ऐसे ही अन्य इन्द्रियों के विषय में भी जानना। वैसे ही आंख आदि इन्द्रियों से सुख आदिकों का ज्ञान नहीं हो सकता तो दूसरा इन्द्रिय अवश्य मानना चाहिये, एक समय अनेक ज्ञानों का न होना ही उस का साधक है, उसका प्रत्येक इन्द्रिय के साथ संयोग होने से ज्ञान उत्पन्न होता है । और उस के संयोग न रहने से ज्ञान नहीं होता । जब मनुष्य का मन कहीं अन्यत्र लगा रहता तब आंख के सामने आई वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता यह अनुभव सिद्ध है । इस में किसी का विवाद नहीं, तब जो कहा था कि ' आत्मा के सिद्ध करने वाले जितने हेतु हैं ' उन का मन में संभव है । यह

ठीक नहीं, क्योंकि जैसे नेत्रादि इन्द्रिय ज्ञान के साधन हैं, वैसे ही मन भी ज्ञाता इन सबसे भिन्न ही है। अब यह विचार किया जाता है कि जो देहादि से भिन्न आत्मा सिद्ध हुआ, वह नित्य है या अनित्य? विद्यमान वस्तु नित्य और अनित्य दो प्रकार की होती है आत्मा की विद्यमानता सिद्ध होने पर भी 'आत्मा नित्य है या अनित्य'? इस संदेह की निवृत्ति नहीं हुई। देह से पृथक् होने के पहिले तो आत्मा का होना जिन हेतुओं से उसे सिद्ध किया उन्हीं से सिद्ध होगया। अब देह के नष्ट होने पर भी आत्मा विद्यमान रहता है इस पक्ष को सिद्ध करते हैं ॥ १८ ॥

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्यहर्षभयशोकसम्प्रतिपत्तेः॥१९॥

जातः खल्वयं कुमारकोऽस्मिन् जन्मन्यगृहीतेषु * हर्षभयशोकहेतुषु हर्षभयशोकान् प्रतिपद्यते लिङ्गानुमेयान्। ते च स्मृत्यनुबन्धादुत्पद्यन्ते नान्यथा। स्मृत्यनुबन्धश्च पूर्वाभ्यासमन्तरेण न भवति पूर्वाभ्यासश्च पूर्वजन्मनि सति नान्यथेति सिद्ध्यत्येतदवतिष्ठते अयमूर्द्ध्वं शरीरभेदादिति।

भा०:–उत्पन्न हुये बालक को इस जन्म के अज्ञात आनन्द, भय, और शोक के कारणों से आनन्द, भय, और शोक, देखने में आते हैं और यह स्मरण की परम्परा से उत्पन्न होते हैं, अन्यथा नहीं। स्मरण की परम्परा पहिले अभ्यास के विना हो ही नहीं सक्ती: और पहिला अभ्यास पूर्व जन्म के होने ही से होगा। तब यह सिद्ध होगया कि यह आत्मा देह छूटने के अनन्तर भी रहता है, नहीं तो तत्काल जन्मे हुये बालक को आनन्द आदि होने का क्या कारण कहोगे? ॥ १९ ॥

पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवत्तद्विकारः ॥ २० ॥

यथा पद्मादिष्वनित्येषु प्रबोधः सम्मीलनं विकारो भवति एवमनित्यस्यात्मनो हर्षभयशोकसम्प्रतिपत्ति (विकारः) स्यात्। हेत्वभावादयुक्तम्।

---

*'जन्म' निकायविशिष्टाभिः शरीरेन्द्रियबुद्धिवेदनाभिः सम्बन्धः। अभिप्रेतविषयकप्रार्थनाप्राप्तौ सुखानुभवो 'हर्षः'। अनिष्टविषयसाधनोपनिपाते तज्जिहासोर्हानाशक्यता 'भयम्'। इष्टविषयवियोगे सति तत्प्राप्त्यशक्यप्रार्थना 'शोकः'। तदनुभवः 'सम्प्रतिपत्तिः'। एकत्रिविषयानेकविज्ञानोत्पादोऽभ्यासः। प्रत्यक्षबुद्धिनिरोधे तदनुसंन्धानविषयः प्रत्ययः 'स्मृतिः'। तदनुगृहीतस्तदनुसंन्धानविषयः प्रत्ययस्तद्भावविषयः 'प्रत्यभिज्ञानम्'। अनुबन्धो भावनास्मृतिहेतुः 'संस्कारः'। न्या० वा।

अनेन हेतुना पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकारवदनित्यस्यात्मनो हर्षादिसम्प्रतिपत्तिरिति नात्रोदाहरणसाधर्म्यात्साध्यसाधनं हेतुर्न वैधर्म्यादस्ति हेत्वभावात् । असम्बद्धार्थकमपार्थकमुच्यते इति । दृष्टान्ताच्च हर्षादिनिमित्तस्यानिवृत्तिः या चेयमासेवितेषु विषयेषु हर्षादिसम्प्रतिपत्तिः स्मृत्यनुबन्धकृता प्रत्यात्मं गृह्यते सेयं पद्मादिसम्मीलनदृष्टान्तेन न निवर्त्यते। यथा चेयं न निवर्तते तथा जातस्यापीति । क्रियाजातश्च पर्णविभागः संयोगप्रबोधसम्मीलने क्रियाहेतुश्च क्रियानुमेयः। एवं च सति किं दृष्टान्तेन प्रतिषिध्यते। अथ निर्निमित्तः पद्मादिषु प्रबोधसम्मीलनविकार इति मतमेवमात्मनोपि हर्षादिसम्प्रतिपत्तिरिति। तन्न ।

भा०:—जैसे कमल आदि अनित्य वस्तुओं में खिलना और बन्द होना आदि विकार होते हैं, वैसे ही अनित्य आत्मा को भी हर्ष शोक और भय की प्राप्ति रूप विकार हो सकते हैं। अतएव आत्मा नित्य नहीं है। इस उदाहरण में सम्बन्ध और विरोध दोनों न होने से न साधर्म्य से साध्य का साधन हेतु है और न वैधर्म्य के हेतु के अभाव से साध्य का साधन होता है। और दृष्टान्त से हर्ष आदि का निमित्त का खण्डन नहीं होता ॥ २० ॥

नोष्णशीतवर्षकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मकविकाराणाम् ॥२१॥

उष्णादिषु सत्सु भावादसत्स्वभावात्तन्निमित्ताः पञ्चभूतानुग्रहेण निर्वृत्तानां पद्मादीनां प्रबोधसम्मीलनविकारा इति न निर्निमित्ताः। एवं हर्षादयोपि विकारा निमित्ताद्भवितुमर्हन्ति न निमित्तमन्तरेण। न चान्यत्पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धान्निमित्तमस्तीति। न चोत्पत्तिनिरोधकारणानुमानमात्मनो दृष्टान्तात्। न हर्षादीनां निमित्तमन्तरेणोत्पत्तिः नोष्णादिवन्निमित्तान्तरोपादानं हर्षादीनां तस्मादयुक्तमेतत्। इतश्च नित्य आत्मा।

भा०:—पांच भूतों से उत्पन्न कमल आदिकों के खिलना,बन्द होना आदि विकार कारणों से उत्पन्न होते, विना कारण के नहीं। गर्मी, शीत और वर्षाकाल, उक्त विकारों के कारण हैं। ऐसे ही तत्काल जन्मे बालक के हर्षादिकों का कारण, पहिले जन्म में अभ्यास के स्मरण की परम्परा ही है,दूसरा निमित्त नहीं हो सक्ता इसलिये आत्मा नित्य है ॥ २१ ॥

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात् ॥ २२ ॥

जातमात्रस्य वत्सस्य प्रवृत्तिलिङ्गः स्तन्याभिलाषो गृह्यते स च नान्तरेणा-

हाराभ्यासम् । कयायुक्त्या दृश्यते हि शरीरिणां क्षुधा पीड्यमानानामाहारा-भ्यासकृतात्स्मरणानुबन्धादाहाराभिलाषः । न च पूर्वशरीराभ्यासमन्तरेणासौ जातमात्रस्योपपद्यते । तेनानुमीयते भूतपूर्वं शरीरं यत्रानेनाहारोऽभ्यस्त इति । स खल्वयमात्मा पूर्वशरीरात्प्रेत्य शरीरान्तरमापन्नः क्षुत्पीडितः पूर्वाभ्यस्तमा-हारमनुस्मरन् स्तन्यमभिलषति । तस्मान्न देहभेदादात्मा भिद्यते भवत्येवोर्ध्वं देहभेदादिति ।

भा०:—जात मात्र (तुरन्त के उत्पन्न) बछड़े को दूध पीने में प्रवृत्ति देखने से, दूध की इच्छा जानी जाती है। और वह भोजन के अभ्यास विन हो नहीं स-कती, क्योंकि ऐसा देखने में आता है कि भूख से विकल प्राणियों को आहार के अभ्यास से उत्पन्न स्मृति के योग से भोजन की इच्छा होती है और पूर्व श-रीर के विना यह इच्छा उसी काल जन्मे को हो नहीं सकती, इससे अनुमान होता है कि पहिले इस का शरीर था जिस में इस ने भोजन का अभ्यास किया था। यह जीवात्मा मर कर, प्रथम शरीर से दूसरे शरीर में आया, भूख से दुःखी होकर, पहिले अभ्यास किये हुए आहार की स्मृति से दूध की इच्छा करता है, इस से यह सिद्ध होता है कि देह के नाश से आत्मा का नाश नहीं होता है ॥ २२ ॥

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम् ॥ २३ ॥

यथा खल्वयो ऽभ्यासमन्तरेणायस्कान्तमुपसर्पति एवमाहाराभ्यासमन्तरेण बालः स्तन्यमभिलषति । किमिदमयसोऽयस्कान्ताभिसर्पणं निर्निमित्तमथ निमि-त्तादिति । निर्निमित्तं तावत् ।

भा०:—जैसे लोहा अभ्यास के विना ही चुम्बक के पास जाता है उसी प्र-कार बालक भी अभ्यास के विना दूध की इच्छा करता है, इसलिये उक्त हेतु से देह छूटने के पीछे आत्मा की विद्यमानता सिद्ध नहीं हो सकती है ॥ २३ ॥

नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात् ॥ २४ ॥

यदि निर्निमित्तं लोष्टादयोऽप्ययस्कान्तमुपसर्पेयुर्न जातु नियमे कारणम-स्तीति । अथ निमित्तात्तत्केनोपलभ्यतइति । क्रियालिङ्गः क्रियाहेतुः क्रियानि-यमलिङ्गश्च क्रियाहेतुनियमः । तेनान्यत्र प्रवृत्त्यभावः बालस्यापि नियतमुपस-र्पणक्रियोपलभ्यते न च स्तन्याभिलाषलिङ्गमन्यदाहाराभ्यासकृतात्स्मरणानुब-न्धात् । निमित्तं दृष्टान्तेनोपपाद्यते न चासति निमित्ते कस्य चिदुत्पत्तिः । न च दृष्टान्तो दृष्टमभिलाषहेतुं बाधते तस्मादयसोऽयस्कान्ताभिगमनमदृष्टान्त

इति । अयसः खल्वपि नान्यत्र प्रवृत्तिर्भवति न जात्वयोलोष्टमुपसर्पति किंकृतोस्य नियम इति यदि कारणनियमात्स च क्रियानियमलिङ्ग एवं बालस्यापि नियतविषयोभिलाषः कारणनियमाद्भवितुमर्हति । तच्च कारणमभ्यस्तस्मरणमन्यद्वेति दृष्टेन विशिष्यते । दृष्टो हि शरीरिणामभ्यस्तस्मरणादाहाराभिलाष इति । इतश्च नित्य आत्मा । कस्मात् ।

भा०:—लोहा और चुम्बक का जो दृष्टान्त दिया, वह ठीक नहीं है, क्योंकि यदि लोहा बिना कारण चुम्बक की ओर जाता हो, तो मट्टी का ढेला क्यों नहीं जाता? इससे यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि लोहे का चुम्बक की ओर सरकना बिन कारण नहीं होता। क्रिया के देखने से उसके कारण का अनुमान होता है। क्रिया के हेतु का नियम है, इसलिये अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं होती। बालक की भी नियत क्रिया देखने में आती है और दुग्ध पीने की इच्छा का कारण भोजन के अभ्यास से उत्पन्न स्मृति के योग बिना दूसरा हो नहीं सकता। दृष्टान्त से निमित्त की उपपत्ति होती है। बिना निमित्त के किसी वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो सकती। दृष्ट इच्छा के कारण का बाधक दृष्टान्त हो नहीं सकता, इसलिये लोहे का चुम्बक की ओर जाना, दृष्टान्त नहीं, क्योंकि लोहे की भी प्रवृत्ति और स्थान में देखी नहीं जाती। कभी भी लोहा ढेले की ओर सरकता देखने में नहीं आता। यह नियम किस का किया हुआ है। यदि कहो कि कारण के नियम का, तो बालक की भी नियत विषयक इच्छा कारण के नियम से होनी चाहिये। अब रह गया यह विचार कि उस का कारण आहार के अभ्यास का स्मरण, या और ही कुछ है, तो इसका उत्तर यही है कि जीवों की भोजन में प्रवृत्ति आहार के अभ्यास की स्मृति से देखने में आती है, तो फिर जब तक दृष्ट कारण मिले तो अदृष्ट की कल्पना करनी उचित नहीं, इसलिये आत्मा नित्य है ॥ २४ ॥ क्योंकि:—

वीतरागजन्मादर्शनात् ॥ २५ ॥

सरागो जायतइत्यर्थादापद्यते । अयं जायमानो रागानुबद्धो जायते रागस्य पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनं योनिः । पूर्वानुभवश्च विषयाणामन्यस्मिन् जन्मनि शरीरमन्तरेण नोपपद्यते । सोयमात्मा पूर्वशरीरानुभूतान् विषयान् अनुस्मरन् तेषु तेषु रज्यते तथा चायं द्वयोर्जन्मनोः प्रतिसन्धिः एवं पूर्वशरीरस्य पूर्वतरेण पूर्वतरस्य पूर्वतमेनेत्यादिनाऽनादिश्चेतनस्य शरीरयोगः । अनादिश्च रागानुबन्ध इति सिद्धं नित्यत्वमिति । कथं पुनर्ज्ञायते पूर्वविषयानुचिन्तनजनितो जातस्य रागो न पुनः ।

भा०:—वीतराग पुरुष का जन्म नहीं होता, इस से सिद्ध होता है कि राग-युक्त पुरुष उत्पन्न होता है। पूर्व अनुभव किये विषयों की चिन्तन ही राग का कारण है और विषयों का पूर्व अनुभव दूसरे जन्म में विना शरीर के हो नहीं सकता, यह आत्मा पहिले शरीर में भोगे विषयों का स्मरण करता, उन विषयों में आसक्त होता है। यह दो जन्मों का मेल है। इसप्रकार प्रथम शरीर का उससे पहिले शरीर के साथ, और वैसेही उस का भी उससे पहिले शरीर के साथ सम्बन्ध जान लेना, इसी भांति चेतन आत्मा का शरीर के साथ अनादि सम्बन्ध है और अनादि राग की परम्परा है इससे आत्मा का नित्यत्व सिद्ध हुआ ॥ २५ ॥

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः ॥ २६ ॥

यथोत्पत्तिधर्मकस्य द्रव्यस्य गुणाः कारणत उत्पद्यन्ते तथोत्पत्तिधर्मकस्यात्मनो रागः कुतश्चिदुत्पद्यते। अत्रायमुदितानुवादी निदर्शनार्थः।

भा०:—जैसे उत्पत्ति धर्मवाले द्रव्य के गुण उसके कारण ही से उत्पन्न होते, उसी प्रकार उत्पत्ति धर्मवान् आत्मा की इच्छा भी किसी से प्रगट होती है, जैसे वस्त्र के गुण काले, पीले, आदि उस के कारण भूत से उत्पन्न होते अर्थात् काले सूत से काला, और पीले से पीला, वस्त्र बनता है इसी प्रकार आत्मा के गुण भी समझना चाहिये ॥ २६ ॥

न संकल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् ॥ २७ ॥

न खलु सगुणद्रव्योत्पत्तिवदुत्पत्तिरात्मनो रागस्य च। कस्मात्सङ्कल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम्। अयं खलु प्राणिनां विषयानासेवमानानां संकल्पजनितो रागो गृह्यते संकल्पश्च पूर्वानुभूतविषयानुचिन्तनयोनिः। तेनानुमीयते जातस्यापि पूर्वानुभूतार्थचिन्तनकृतो राग इति। आत्मोत्पादाधिकरणा रागोत्पत्तिर्भवन्ती सङ्कल्पादन्यस्मिन् रागकारणे सति वाच्या कार्यद्रव्यगुणवत्। न चात्मोत्पादः सिद्धो नापि संकल्पादन्यद्रागकारणमस्ति। तस्मादयुक्तं सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तयोरुत्पत्तिरिति। अथापि संकल्पादन्यद्रागकारणं धर्माधर्मलक्षणमदृष्टमुपादीयते तथापि पूर्वशरीरयोगोऽप्रत्याख्येयः। तत्र हि तस्य निर्वृत्तिः नास्मिन् जन्मनि। तन्मयत्वाद्राग इति विषयाभ्यासः खल्वयं भावनाहेतुः तन्मयत्वमुच्यतइति जातिविशेषाच्च रागविशेष इति। कर्मखल्विदं जातिविशेषनिर्वर्तकं तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यम्। तस्मादनुपपन्नं संकल्पादन्यद्रागकारणमिति। अनादिश्चेतनस्य शरीरयोग इत्युक्तं स्वकृतकर्मनिमित्तं चास्य शरीर सुखदुःखाधिष्ठानं तत्परीक्ष्यते किं घ्राणादिवदेकप्रकृतिकमुत नानाप्रकृतीति। कुतः संशयः।

विप्रतिपत्तेः संशयः । पृथिव्यादीनि भूतानि संख्याविकल्पेन शरीरप्रकृतिरिति प्रतिज्ञानत इति । किं तत्र तत्त्वम् ?

भा०ः—सगुण द्रव्य की उत्पत्ति की भांति आत्मा के राग की उत्पत्ति कभी नहीं हो सकती,क्योंकि रागादिकों का कारण संकल्प है। विषयों के भोगने वाले प्राणियों का राग संकल्प से उत्पन्न हुआ देखने में आता है । और संकल्प का कारण पहिले अनुभव किये विषयों का चिन्तन है,इस से अनुमान होता है कि जन्मे बालक का राग पहिले जन्म में अनुभव किये विषयों के विचार से उत्पन्न हुआ है । आत्मा की उत्पत्ति के कारण से राग की उत्पत्ति होती, तो संकल्प से भिन्न राग का कारण रहते कही जाती । अनित्य द्रव्य गुणों की भांति, आत्मा की उत्पत्ति तथा संकल्प से भिन्न राग का कारण सिद्ध ही नहीं होता, इस लिये तुम्हारा कहना ठीक नहीं है । और यदि संकल्प से भिन्न राग का कारण कहोगे, तो भी धर्म और अधर्म इन से पृथक् दूसरा क्या होगा ? पर ऐसा कहने से भी आत्मा का पहिले शरीर के साथ संयोग मानना ही पड़ेगा, क्योंकि विन शरीर के धर्म या अधर्म हो नहीं सकता । स्वकृत कर्म निमित्तक आत्मा का शरीर, सुख दुःख भोग का आधार है । अब उस की परीक्षा की जाती है ॥ २७ ॥

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ॥ २८

तत्र मानुषं शरीरं पार्थिवम् । कस्मात् गुणान्तरोपलब्धेः । गन्धवती पृथिवी गन्धवच्च शरीरम् । अबादीनामगन्धत्वात् तत्प्रकृत्यगन्धं स्यात् । न त्विदमबादिभिरसंपृक्तया पृथिव्यारब्धं चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयभावेन कल्पते इत्यतः पञ्चानां भूतानां संयोगे सति शरीरं भवति । भूतसंयोगो हि मिथः पञ्चानां न निषिद्ध इति । आप्यतैजसवायव्यानि लोकान्तरे शरीराणि तेष्वपि भूतसंयोगः पुरुषार्थतन्त्र इति । स्थाल्यादिद्रव्यनिष्पत्तावपि निःसंशया नाबादिसंयोगमन्तरेण निष्पत्तिरिति । पार्थिवाप्यतैजसं तद्गुणोपलब्धेः निःश्वासोच्छ्वासोपलब्धेश्चातुर्भौतिकं गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकं तइमे सन्दिग्धा हेतव इत्युपेक्षितवान्सूत्रकारः । कथं सन्दिग्धाः सति च प्रकृतिभावे भूतानां धर्मोपलब्धिरसति च संयोगाप्रतिषेधात् सन्निहितानामिति । यथा स्थाल्यामुदकतेजो वाय्वाकाशानामिति । तदिदमनेकभूतप्रकृति शरीरमगन्धमरसमरूपमस्पर्शं च प्रकृत्यनुविधानात्स्यात् । न त्विदमित्थंभूतं तस्मात्पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ।

भा०:—मनुष्य का शरीर पार्थिव पृथ्वी का विकार है। गुणान्तर की उपलब्धि होने से। क्योंकि पृथिवी गन्धवाली है और शरीर में भी गन्ध है। जो जल, अग्नि, आदि भूत शरीर के कारण होते, तो शरीर निर्गन्ध होता, क्योंकि जल आदिकों में गन्ध नहीं है, किन्तु जलादि से मिली हुई पृथ्वी से यह उत्पन्न हुई है इन के मेल विन उत्पन्न नहीं हो सकता। पांच भूतों के संयोग से शरीर बनता है, क्योंकि भूतों का संयोग वियोग परस्पर विरोधी नहीं, किन्तु जलादि निमित्त कारण हैं। जल, तेज, और वायु सम्बन्धी शरीर अन्य लोकों में हैं, उन में भी और और भूतों का संयोग विद्यमान ही है ॥ २८ ॥

श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥ २९ ॥

'सूर्यं ते चक्षुर्गच्छता' दित्यत्र मन्त्रे, 'पृथिवीं ते शरीरमिति' श्रूयते। तदिदं प्रकृतौ विकारस्य प्रलयाभिधानमिति। 'सूर्यं ते चक्षुः स्पृणोमि' इत्यत्र मन्त्रान्तरे 'पृथिवीं ते शरीरं स्पृणोमीति' श्रूयते। सेयं कारणाद्विकारस्य स्पृत्तिरभिधीयते इति। स्थाल्यादिषु च तुल्यजातीयानामेककार्यारम्भदर्शनाद् भिन्नजातीयानामेककार्यारम्भानुपपत्तिः। अथेदानीमिन्द्रियाणि प्रमेयक्रमेण विचार्यन्ते किमाव्यक्तिकान्याहो स्विद् भौतिकानीति। कुतः संशयः?

भा०:—वेद के प्रमाण से भी मनुष्य का शरीर पार्थिव सिद्ध होता है। (वेदमें लिखा है कि) 'तेरा चक्षु सूर्य को प्राप्त होवे' और शरीर पृथ्वी में मिले' ऐसा वेद के मन्त्र से स्पष्ट प्रतीत होता है, उस मन्त्र में जिस का जो विकार है, उस का लय उस के कारण में दिखलाया गया है ॥ २९ ॥
अब 'प्रमेय' के क्रम से इन्द्रियों की परीक्षा कियी जाती है।

कृष्णसारे सत्युपलम्भाद्व्यतिरिच्य चोपलम्भात्संशयः ॥३०॥

कृष्णसारं भौतिकं तस्मिन्ननुपहते रूपोपलब्धिः उपहते चानुपलब्धिरिति। व्यतिरिच्य कृष्णसारमवस्थितस्य विषयस्य उपलम्भो न कृष्णसारप्राप्तस्य न चाप्राप्यकारित्वमिन्द्रियाणां तदिदमभौतिकत्वे विभुत्वात्सम्भति। एवमुभयधर्मोपलब्धेः संशयः। अभौतिकानीत्याह। कस्मात्।

भा०:—नेत्र की काली पुतली भौतिक है, उस के ठीक रहने से रूप का ज्ञान होता और उस के विगड़ने से नहीं। इन्द्रिय विषय के साथ संयुक्त होकर ज्ञान कराता अन्यथा नहीं, यह बात ठीक कब होगी जब इन्द्रिय व्यापक होगा और जो व्यापक हुआ तो भौतिक नहीं हो सकता, इस

प्रकार दो धर्म पाये जाने से सन्देह होता है। इन्द्रिय भौतिक नहीं इस बात को सिद्ध करते हैं ॥ ३० ॥

महदणुग्रहणात् ॥ ३१ ॥

महदिति महत्तरं महत्तमं चोपलभ्यते यथा न्यग्रोधपर्वतादि । अण्विति अणुतरमणुतमं च गृह्यते न्यग्रोधधानादि । तदुभयमुपलभ्यमानं चक्षुषो भौतिकत्वं बाधते । भौतिकं हि यावत्तावदेव व्याप्नोति अभौतिकं तु विभुत्वात्सर्वव्यापकमिति । न महदणु ग्रहणमात्रादभौतिकत्वं विभुत्वं चेन्द्रियाणां शक्यं प्रतिपत्तुम् । इदं खलु:-

भा०:-वृक्ष, पहाड़, आदि बड़े से बड़े पदार्थ और खसखस के दाने से लेकर छोटे से छोटे पदार्थों का आंख से ज्ञान होता है, ये दो बात नेत्र के भौतिक होने में बाधक हैं, क्योंकि पदार्थ जितना बड़ा होगा उतने ही प्रमाण के पदार्थ को व्याप्त करेगा यह नहीं हो सकता कि अंगुल भर का पदार्थ बिलस्त प्रमाण वस्तु को व्याप्त कर सके और जो भौतिक नहीं है वह विभु होने से सब का व्यापक हो सकता है ॥ ३१ ॥

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात्तद्ग्रहणम् ॥ ३२ ॥

तयोर्महदण्वोर्ग्रहणं चक्षूरश्मेरर्थस्य च सन्निकर्षविशेषाद्भवति यथा प्रदीपरश्मेरर्थस्य चेति । रश्म्यर्थसन्निकर्षश्चावरणलिङ्गः चाक्षुषो हि रश्मिः कुड्यादिभिरावृतमर्थं न प्रकाशयति यथा प्रदीपरश्मिरिति । आवरणानुमेयत्वे सतीदमाह ॥

भा०:—बड़े छोटे का ज्ञान आंख की किरन और पदार्थ के संयोग विशेष से होता है, जैसे दीप की किरन और वस्तु के मेल से प्रत्यक्ष होता है। नेत्र की किरन से भीत के आड़ में धरी वस्तु का ज्ञान नहीं होता, इस से जान पड़ता है कि आंख की किरन का संयोग भीत के बीच में आने से पदार्थ के साथ न हुआ, इसी लिये उस का प्रत्यक्ष नहीं हुआ जैसे दीप से आड़ में रक्खी हुई वस्तु का ज्ञान नहीं होता है ॥ ३२ ॥

तदनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३३ ॥

रूपस्पर्शवद्धि तेजो महत्त्वादनेकद्रव्यवत्त्वाद्रूपवत्त्वाच्चोपलब्धिरिति प्रदीपवत् प्रत्यक्षत उपलभ्येत चाक्षुषो रश्मिर्यदि स्यादिति ॥

भा०:-जो नेत्र में किरन होती, तो दीप की भांति देख पड़ती, पर देखने में नहीं आती इससे यही सिद्ध होता है कि आंख में किरन नहींहै॥३३॥

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतो ऽनुपलब्धिरभावहेतुः ॥ ३४ ॥

सन्निकर्षप्रतिषेधार्थेनावरणेन लिङ्गेनानुमीयमानस्य रश्मेर्या प्रत्यक्षतो ऽनुपलब्धिर्नासावभावं प्रतिपादयति यथा चन्द्रमसः परभागस्य पृथिव्याश्चाधोभागस्य ॥

भा०:—अनुमान से जो पदार्थ सिद्ध होगया, उस का यदि प्रत्यक्ष से ज्ञान न भी हो, तो भी अभाव नहीं हो सकता, जैसे चन्द्रमा का पिछला भाग और पृथ्वी का नीचे का भाग। (प्रत्यक्ष न होने पर भी) जब अनुमान से सिद्ध हो गया तब कोई उस के अभाव को ' देख नहीं पड़ता ' केवल इतना कह कर सिद्ध नहीं कर सकता, क्योंकि जब कोई पदार्थ बीच में आजाता है तब उस के आड़ में रक्खे हुये पदार्थ का आंख से प्रत्यक्ष नहीं होता। आड़ के होने से उस वस्तुके साथ नेत्र की किरन का संयोग नहीं होता इसीलिये उस का प्रत्यक्ष नहीं होता। अब हम अनुमान का देख नहीं पड़ता यह कह कर कोई खण्डन नहीं कर सकता है॥ ३४ ॥

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ॥ ३५ ॥

भिन्नः खल्वयं द्रव्यधर्मो गुणधर्मश्च महदनेकद्रव्यवच्च विषक्तावयवमाप्यं द्रव्यं प्रत्यक्षतो नोपलभ्यते स्पर्शस्तु शीतो गृह्यते। तस्य द्रव्यस्यानुबन्धात् हेमन्तशिशिरौ कल्पेते। तथाविधमेव च तैजसं द्रव्यमनुद्भूतरूपं सह रूपेण नोपलभ्यते स्पर्शस्त्वस्योष्ण उपलभ्यते तस्य द्रव्यस्यानुबन्धाद् ग्रीष्मवसन्तौ कल्पेते यत्र त्वेषा भवति ॥

भा०— द्रव्य और गुण के धर्म के भेद से उपलब्धिका नियम है, अत्यन्त सूक्ष्म अवयव जिस के अलग २ हो रहे हैं ऐसा जल रूप द्रव्य आकाश में व्याप्त रहता, जिस के कारण हेमन्त और शिशिर ऋतु होते हैं ऐसे ही तेज के अति सूक्ष्म किरन वायु में भरे रहते हैं जिस से गर्मी होती है यद्यपि वह देख नहीं पड़ते तो भी गर्मी. सर्दी के होने से अनुमान किये जातेहैं ॥३५॥

अनेकद्रव्य समवायात् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः ॥ ३६ ॥

यत्र रूपं च द्रव्यं च तदाश्रयः प्रत्यक्षत उपलभ्यते रूपविशेषस्तु यद्भावात्क्वचिद्रूपोपलब्धिः यदभावाच्च द्रव्यस्य क्वचिदनुपलब्धिः स रूपधर्मोयमुद्भवसमाख्यात इति। अनुद्भूतश्चायं नायनो रश्मिः तस्मात्प्रत्यक्षतो नोपलभ्यत इति। दृष्टश्च तैजसो धर्मभेद उद्भूतरूपस्पर्शं प्रत्यक्षं तेजो यथा आदित्य-

श्मयः । उद्भूतरूपमनुद्भूतस्पर्शं च प्रत्यक्षं यथा प्रदीपरश्मयः । उद्भूतस्पर्शस्यमनुद्भूतरूपमप्रत्यक्षं यथाऽऽदिसंयुक्तं तेजोऽनुद्भूतरूपस्पर्शोऽप्रत्यक्षः चाक्षुषोरश्मिरिति ॥

भा०:—अनेक द्रव्य के समवाय और रूप विशेष से रूप का ज्ञान होता है। जहां रूप और उस के आश्रय का प्रत्यक्ष होता है वहां विशेषरूप रहता है। जिस के रहने से कहीं रूप का ज्ञान होता और उस के न रहने से कहीं द्रव्य का ज्ञान नहीं होता, यही रूप का धर्म उद्भूत कहाता है। नेत्र की किरन में उद्भूत रूप नहीं, इसी लिये उस का प्रत्यक्ष नहीं होता, तेजके धर्म का भेद देख पड़ता है। कोई तेज ऐसा होता है जिस में उद्भूत रूप और उद्भूत स्पर्श रहता है, जैसे सूर्य की किरन प्रत्यक्ष है, किसी में उद्भूत रूप और अनुद्भूत स्पर्श होता जैसे दीप की किरन इस का भी उद्भूत रूप होने से प्रत्यक्ष होता है। कहीं तो उद्भूत स्पर्श और अनुद्भूत रूप रहता है, जैसे गर्म जल में तेज का स्पर्श तो होता, परन्तु रूप देख नहीं पड़ता अर्थात् जिस तेज में रूप और स्पर्श दोनों उद्भूत रहेंगे उस के रूप और स्पर्श प्रत्यक्ष जान पड़ेंगे। जिस में उद्भूत रूप और अनुद्भूत स्पर्श होगा उस के केवल रूप का बोध होगा और स्पर्श का नहीं। ऐसे ही जिस में उद्भूत स्पर्श और अनुद्भूत रूप रहेगा उस के केवल स्पर्श का ज्ञान होगा नेत्र की किरन में न तो उद्भूत रूप है और न उद्भूत स्पर्श ही है। फिर इस का प्रत्यक्ष क्योंकर होसक्ता है ? ॥ ३६ ॥

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ॥ ३७ ॥

यथा चेतनस्यार्थो विषयोपलब्धिभूतः सुखदुःखोपलब्धिभूतश्च कल्पते तथेन्द्रियाणि व्यूढानि विषयप्राप्त्यर्थश्च रश्मेश्चाक्षुषस्य व्यूहः रूपस्पर्शानभिव्यक्तिश्च व्यवहारप्रक्लृप्त्यर्था द्रव्यविशेषे च प्रतीघातादावरणोपपत्तिर्व्यवहारार्था । सर्वद्रव्याणां विश्वरूपो व्यूह इन्द्रियवत् कर्मकारितः पुरुषार्थतन्त्रः । कर्म तु धर्माधर्मभूतं चेतनस्योपभोगार्थमिति ॥

भा०:—इन्द्रियों की रचन· कर्मकारित पुरुषार्थ के आधीन है नेत्रके किरन की बनावट विषय के प्रत्यक्ष होने के लिये है। उस के रूप और स्पर्श का ज्ञान नहीं होता। किसी द्रव्य में रोक होने से आवरण की उपपत्ति होती है। सब पदार्थों की सब रचना इन्द्रिय के भांति कर्मकारित पुरुषार्थ के आधीन है धर्म और अधर्म रूप कर्म चेतन के उपभोग के लिये माने गये हैं ॥ ३७ ॥

अव्यभिचाराच्च प्रतिघातो भौतिकधर्मः ॥ ३८ ॥

यश्चावरणोपलम्भादिन्द्रियस्य द्रव्यविशेषे प्रतिघातः स भौतिकधर्मो न भूतानि व्यभिचरति नाभौतिकं प्रतिघातधर्मकं दृष्टमिति । अप्रतिघातस्तु व्यभिचारी भौतिकाभौतिकयोः समानत्वादिति । यदपि मन्यते प्रतिघाताद्भौतिकानीन्द्रियाणि अप्रतिघाताद्भौतिकानीति प्राप्तम् । दृष्टश्चाप्रतिघातः काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः । तन्न युक्तम् । कस्मात् यस्माद्भौतिकमपि न प्रतिहन्यते काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितप्रकाशात् प्रदीपरश्मीनां स्थाल्यादिषु पाचकस्य तेजसो ऽप्रतिघातः । उपपद्यते चानुपलब्धिः कारकभेदात् ।

भा०:—व्यभिचार न होने से प्रतिघात (रुकना) भूतों का धर्म है, जो आड़ रहने से किसी द्रव्य में इन्द्रिय की रुकावट होती है, वह भौतिक धर्म है। अभौतिक पदार्थ प्रतिघात धर्मवाला देखने में नहीं आता. अप्रतिघात तो भौतिक और अभौतिक में समान रूप से व्यभिचारी है । जो प्रतिघात से इन्द्रियों को भौतिक मानता है, उसे अप्रतिघात के कारण इन्द्रियों को अभौतिक भी मानना पड़ेगा, क्योंकि काच और बिल्लौर के बीच में विद्यमान रहते भी दिया की किरन रुकती नहीं । बटलोई के भीतर तेज के प्रवेश होने से वस्तु पक जाती है ॥ ३८ ॥

मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः ॥ ३९ ॥

यथा ऽनेकद्रव्येण समवायाद्रूपविशेषाच्चोपलब्धिरिति सत्युपलब्धिकारणे मध्यन्दिनोल्काप्रकाशो नोपलभ्यते आदित्यप्रकाशेनाभिभूतः । एवं महदनेकद्रव्यवत्त्वाद्रूपविशेषाच्चोपलब्धिरिति सत्युपलब्धिकारणे चाक्षुषो रश्मिर्नोपलभ्यते निमित्तान्तरतः । तच्च व्याख्यातमनुद्भूतरूपस्पर्शस्य द्रव्यस्य प्रत्यक्षतो ऽनुपलब्धिरिति । अत्यन्तानुपलब्धिश्चाभावकारणं यो हि ब्रवीति लोष्टप्रकाशो मध्यन्दिने आदित्यप्रकाशाभिभवान्नोपलभ्यते इति तस्यैतत्स्यात् ।

भा०:—जैसे दिन में सूर्य के प्रकाश से छिपे होने से नक्षत्र का प्रकाश ज्ञात नहीं पड़ता, (परन्तु दिन में भी नक्षत्र उदित रहते हैं) ऐसे ही ज्ञान के कारण रहते भी दूसरे निमित्त से नेत्र के किरन का ज्ञान नहीं होता । और वह निमित्त पहिले बतला दिया है, अब भी कहेदेते हैं। जिस पदार्थ में उद्भूत रूप और उद्भूत स्पर्श नहीं रहते उस का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता ॥३९॥

न रात्रावप्यनुपलब्धेः ॥ ४० ॥

अप्यनुमानतो ऽनुपलब्धेरिति । एवमत्यन्तानुपलब्धेर्लोष्टप्रकाशो नास्ति न त्वेवं चक्षुषो रश्मिरिति । उपपन्नरूपा चेयम् ।

भा०:-अब इस पर कोई यह शंका करते हैं कि मट्टी के ढेलों में भी प्रकाश है, पर सूर्य के प्रकाश से तिरोहित हो जाता, इस से देख नहीं पड़ता। इस का उत्तर यदि ढेले में प्रकाश होता, तो रात को तो देख पड़ता, पर यह रात में भी नहीं देख पड़ता, इसलिये इस में प्रकाश नहीं है ॥ ४० ॥

बाह्यप्रकाशानुग्रहाद् विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ४१

बाह्येन प्रकाशेनानुगृहीतं चक्षुर्विषयग्राहकं तदभावे ऽनुपलब्धिः । सति च प्रकाशानुग्रहे शीतस्पर्शोपलब्धौ च सत्यां तदाश्रयस्य द्रव्यस्य चक्षुषा ग्रहणं रूपस्यानुद्भूतत्वात्सेयं रूपानभिव्यक्तितो रूपाश्रयस्य द्रव्यस्यानुपलब्धिर्दृष्टा तत्र यदुक्तं तदनुपलब्धेरहेतुरित्येतदयुक्तम् । कस्मात्पुनरभिभवोऽनुपलब्धिकारणं चाक्षुषस्य रश्मेर्नोच्यतइति ।

भा०:—बाहिर के प्रकाश की सहायता से नेत्र, विषय का ज्ञान कराता है और उस के न रहने से ज्ञान नहीं होता। कहीं प्रकाश की सहायता रहने और शीतस्पर्श का ज्ञान होते भी, उस के आश्रय द्रव्य का नेत्र से ज्ञान नहीं होता, क्योंकि उस में उद्भूत रूप नहीं है, जैसे वायु रूप की अनभिव्यक्ति (ज़ाहिर नहीं) से रूप के आधार द्रव्य की अनुपलब्धि देखने में आती है ॥ ४१ ॥

अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ॥ ४२ ॥

बाह्यप्रकाशानुग्रहनिरपेक्षितायां चेति चार्थः । यद्रूपमभिव्यक्तमुद्भूतं बाह्यप्रकाशानुग्रहं च नापेक्षते तद्विषयो ऽभिभवो विपर्यये ऽभिभवाभावात् । अनुद्भूतरूपत्वाच्चानुपलभ्यमानं बाह्यप्रकाशानुग्रहाच्चोपलभ्यमानं नाभिभूयतइति एवमुपपन्नमस्ति चाक्षुषो रश्मि रिति ।

भा०:—जो रूप उद्भूत होता और बाहिर के प्रकाश की अपेक्षा नहीं रखता, उस का अभिभव होता और जो ऐसा नहीं, उसका अभिभव नहीं होता, इससे सिद्ध हुआ कि नेत्र में किरन है ॥ ४२ ॥

नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ॥ ४३ ॥

दृश्यन्ते हि नक्तं नयनरश्मयो नक्तञ्चराणां वृषदंशप्रभृतीनां तेन शेषस्यानुमानमिति । जातिभेदवदिन्द्रियभेद इति चेद् धर्मभेदमात्रं चानुपपन्नमावरणस्य प्राप्तिप्रतिषेधार्थस्य दर्शनादिति । इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानकारणत्वानुपपत्तिः । कस्मात् ।

भा०:—रात में विचरने वाले बिलाव, सिंह आदि के आखों में किरन अन्धेरी में स्पष्ट देख पड़ते हैं इस से दूसरे जीवों के नेत्रों में भी किरन का अनुमान होता है। इन्द्रिय और अर्थ के संयोग को ज्ञान का कारण माना है ॥ ४३ ॥ क्योंकि:—

अप्राप्य ग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ॥ ४४ ॥

तृणादिसर्पद् द्रव्यं काचेऽभ्रपटले वा प्रतिहतं दृष्टमव्यवहितेन सन्निकृष्यते व्याहन्यते वै प्राप्तिर्व्यवधानेनेति। यदि च रश्म्यर्थसन्निकर्षो ग्रहणहेतुः स्याद् न व्यवहितस्य सन्निकर्ष इत्यग्रहणं स्यात्। अस्ति चेयं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धिः सा ज्ञापयत्यप्राप्यकारीणीन्द्रियाणि। अत एवाभौतिकानि प्राप्यकारित्वं हि भौतिकधर्म इति न ॥

भा०:—काच, अभ्रक, और बिल्लौर के बीच में रहते भी ज्ञान होने से इन्द्रिय विषय को प्राप्त न होकर ज्ञान के कारण हैं और इसी से यह भी सिद्ध होता है कि ये अभौतिक हैं क्योंकि पहुंच कर काम करना भूतों का धर्म है ॥ ४४ ॥

कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ॥ ४५

अप्राप्यकारित्वे मनीन्द्रियाणां कुड्यान्तरितस्यानुपलब्धिर्न स्यात्। प्राप्यकारित्वेऽपि तु काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धिर्न स्यात् ॥

भा०:—जो इन्द्रिय अप्राप्त होकर ज्ञान के कारण होते, तो भीत के बीच में रहते भी पदार्थ का ज्ञान हो जाता, और जो कहो कि इन्द्रिय पहुंच कर ज्ञान कराते, तो काच आदि के बीच में रहने से ज्ञान न होना चाहिये ॥४५॥

अप्रतीघातात्सन्निकर्षोपपत्तिः ॥ ४६ ॥

न च काचोऽभ्रपटलं वा नयनरश्मिं विष्टभ्नाति सोऽप्रतिहन्यमानः सन्निकृष्यत इति यच्च मन्यते न भौतिकस्याप्रतिघात इति तन्न ॥

भा०:—प्रतिघात न होने से सन्निकर्ष की उपपत्ति होती है। काच और अभ्रक नेत्र के किरन को रोकते नहीं, इस लिये इन्द्रिय और अर्थ का संयोग होता है ॥ ४६ ॥

आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरितेपि दाह्ये ऽविघातात् ॥ ४७ ॥

मादित्यरश्मेरविघातात् स्फटिकान्तरितेऽप्यविघाताद् दाह्येऽविघातात्। अविघातादिति च पदाभिसम्बन्धभेदाद्वाक्यभेद इति ॥ यथावाक्यं चार्थभेद इति। आदित्यरश्मिः कुम्भादिषु न प्रतिहन्यतेऽविघातात्। कुम्भस्थमुदकं

लपति प्राप्तौ हि द्रव्यान्तरगुणस्य उष्णस्य स्पर्शस्य ग्रहणं तेन च शीतस्पर्शाभिभव इति । स्फटिकान्तरितेऽपि प्रकाशनीये प्रदीपरश्मीनामप्रतिघातः अप्रतिघातात्प्राप्तस्य ग्रहणमिति । भर्जनकपालादिस्थं च द्रव्यमाग्नेयेन तेजसा दह्यते तत्राविघातात्प्राप्तिः प्राप्तौ तु दाहो नाप्राप्यकारि तेज इति । अविघातादिति च केवलं पदमुपादीयते कोऽयमविघातो नाम । अव्यूह्यमानावयवेन व्यवधायकेन द्रव्येण सर्वतो द्रव्यस्याविष्टम्भः क्रियाहेतोरप्रतिबन्धः प्राप्तेरप्रतिषेध इति । दृष्टं हि कलशनिषक्तानामपां बहिः शीतस्पर्शग्रहणम् । न चेन्द्रियेणासन्निकृष्टस्य द्रव्यस्य स्पर्शोपलब्धिः दृष्टौ च प्रस्पन्दपरिस्रवौ । तत्र काचाभ्रपटलादिभिर्नायनरश्मेरप्रतिघाताद्विभिद्यार्थेन सह सन्निकर्षादुपपन्नं ग्रहणमिति ॥

भा०:-सूर्य की किरन घड़े आदिकों में रुकती नहीं, इसलिये घड़ा का पानी गरम होजाता; संयोग होने से दूसरे द्रव्यके उष्ण स्पर्श का ग्रहण करता, इस से शीत स्पर्श का अभिभव हो जाता है । प्रकाश योग्य पदार्थ में बिल्लौर के बीच में रहते भी दीपक की किरन रुकती नहीं। रुकावट न होने से प्राप्त का ग्रहण हुआ। भूंजने के खपड़े में रक्खी हुई वस्तु अग्नि के तेज से पकती है, वहां भी रोक न होने से तेज पहुंच कर जलाता है बिन पहुंचे जला नहीं सकता, इस से सिद्ध हुआ कि काच आदि पदार्थों से नेत्र के किरन रुकते नहीं, तब पदार्थ के संयोग होने ही से आदि ज्ञान होता है ॥ ४७ ॥

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् ॥ ४८ ॥

काचाभ्रपटलादिवद्वा कुड्यादिभिरप्रतीघातः कुड्यादिवद्वा काचाभ्रपटलादिभिः प्रतीघात इति प्रसज्यते नियमे कारणं वाच्यमिति ॥

भा०:-परस्पर धर्म के प्रसंग से तुम्हारा कहना ठीक नहीं अर्थात् काच अबरक की भांति भीत आदि पदार्थों से रोक नहीं होती, या भीत आदिकों की नाईं काच आदिकों से भी रोक होती, ऐसा ही क्यों नहीं, नियम में कुछ कारण बतलाना चाहिये ॥ ४८ ॥

आदर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद्रूपोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ४९॥

आदर्शोदकयोः प्रसादो रूपविशेषः स्वो धर्मो नियमदर्शनात् प्रसादस्य वा स्वो धर्मो रूपोपलम्भनम् । यथाऽऽदर्शप्रतिहतस्य परावृत्तस्य नयनरश्मेः स्वेन मुखेन सन्निकर्षे सति स्वमुखोपलम्भनं प्रतिबिम्बग्रहणाख्यमादर्शरूपानुग्रहात्तन्निमित्तं भवति । आदर्शरूपोपघाते तदभावात् कुड्यादिषु च प्रतीति-

ग्रहणं न भवति । एवं काचाभ्रपटलादिभिरविघातश्चक्षूरश्मेः कुड्यादिभिश्च प्रतिघातो द्रव्यस्वभावनियमादिति ॥

भा०:—जैसे दर्पण और जल का स्वच्छस्वभाव होने से रूप का ज्ञान होता है ऐसे ही उस की उपलब्धि होती है । काच का यह स्वाभाविक गुण है कि इस में नेत्र की किरन जाकर वहां से लौटती, और मुख से संयुक्त हो उस का ज्ञान करादेती है; ऐसा ही स्वभाव जल का है । भीत आदि में प्रतिबिम्ब के ग्रहण करने की शक्ति नहीं, इससे सिद्ध होगया कि काच आदि पदार्थों से नेत्र की किरन की रोक नहीं होती और भीत आदि से होती है । ये सब बात पदार्थ के स्वभाव पर नियत हैं ॥ ४९ ॥

दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ ५० ॥

प्रमाणस्य तत्त्वविषयत्वात् । न खलु भोः परीक्षमाणेन दृष्टानुमिता अर्थाः शक्या नियोक्तुमेवं भवतेति । नापि प्रतिषेद्धुमेवं न भवतेति । न हीदमुपपद्यते रूपवद्गन्धोऽपि चाक्षुषो भवत्विति गन्धवद्वा रूपं चाक्षुषं मा भूदिति अग्निप्रतिपत्तिवद्धूमेनोदकप्रतिपत्तिरपि भवत्विति उदकाप्रतिपत्तिवद्वा धूमेनाग्निप्रतिपत्ति (रपि) माभूदिति । किं कारणं यथा खल्वर्था भवन्ति य एषां स्वो भावः स्वो धर्म इति तथाभूताः प्रमाणेन प्रतिपद्यन्तइति । तथाभूतविषयकं हि प्रमाणमिति । इमौ खलु नियोगप्रतिषेधौ भवता देशितौ काचाभ्रपटलादिवद्वा कुड्यादिभिरप्रतिघातो भवतु कुड्यादिवद्वा काचाभ्रपटलादिभिरप्रतीघातो मा भूदिति । न दृष्टानुमिताः खल्विमे द्रव्यधर्माः प्रतिघाताप्रतीघातयोर्ह्युपलब्ध्यनुपलब्धी व्यवस्थापिके । व्यवहितानुपलब्ध्याऽनुमीयते कुड्यादिभिः प्रतिघातो व्यवहितोपलब्ध्याऽनुमीयते काचाभ्रपटलादिभिरप्रतिघात इति । अथापि खल्वेकमिदमिन्द्रियं बहूनीन्द्रियाणि वा । कुतः संशयः ?

भा०:—प्रत्यक्ष सिद्ध, या अनुमान किये पदार्थों के नियोग और प्रतिषेध अनुपपन्न हैं । अर्थात् रूपकी नाईं गन्ध भी नेत्र का विषय होजाय, या गन्ध की भांति रूप भी नेत्रका विषय न हो । धूम से जैसे आग का अनुमान होता, वैसे ही जल का भी क्यों नहीं होता ? या जैसे जल का अनुमान नहीं होता वैसे ही आग का भी न हो, यह नहीं हो सकता, क्योंकि जो पदार्थ जैसे हैं और जैसे उन के स्वभाव हैं वैसे ही प्रमाण से सिद्ध होते हैं । यह जो तुम ने विधि और निषेध किये कि काच आदि की नाईं भीत आदिकों से रोक नहो या काचादिकों से भी भीत आदि के भांति रोक

होजाय वह ठीक नहीं क्योंकि यह पदार्थों के स्वभाव प्रत्यक्ष और अनुमान से सिद्ध किये हैं। उपलब्धि और अनुपलब्धि ये दोनों प्रतिघात और अप्रतिघात को निश्चय कराने वाली हैं। भीत की आड़ में रक्खी वस्तु की नेत्र से उपलब्धि न होने से अनुमान होता कि भीत से दृष्टि का प्रतिघात होता और कांच आदि पदार्थों के बीच में रहते भी नेत्र से प्रत्यक्ष होता इस से जानते हैं कि कांच आदि पदार्थ प्रतिरोध करने वाले नहीं हैं। आगे इस बात का विचार होगा कि इन्द्रिय एक है या अनेक ? ॥ ५० ॥

स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च संशयः ॥५१॥

बहूनि द्रव्याणि नानास्थानानि दृश्यन्ते नानास्थानश्च सन्नेकोऽवयवी चेति। तेनेन्द्रियेषु भिन्नस्थानेषु संशय इति। एकमिन्द्रियम्।

भा०ः—बहुत पदार्थ अनेक स्थानों में देखने में आते हैं और एक पदार्थ बहुत स्थानों में देख पड़ता है इस लिये इन्द्रियों के अलग अलग स्थान होने से सन्देह होता है कि इन्द्रिय एक है या अनेक ? ॥ ५१ ॥

त्वगव्यतिरेकात् ॥ ५२ ॥

त्वगेकमिन्द्रियमित्याह कस्माद् अव्यतिरेकात्। न त्वचा किं चिदिन्द्रियाधिष्ठानं न प्राप्तं न चासत्यां त्वचि किं चिद्विषयग्रहणं भवति यया सर्वेन्द्रियस्थानानि व्याप्तानि यस्यां च सत्यां विषयग्रहणं भवति सा त्वगेकमिन्द्रियमिति।

*नेन्द्रियान्तरार्थानुपलब्धेः † ॥

स्पर्शोपलब्धिलक्षणायां सत्यां त्वचि गृह्यमाणे त्वगिन्द्रियेण स्पर्शे इन्द्रियान्तरार्था रूपादयो न गृह्यन्ते अन्धादिभिः। न स्पर्शग्राहका (दिन्द्रिया) दिन्द्रियान्तरमस्तीति स्पर्शवदन्धादिभिर्गृह्येरन् रूपादयो न च गृह्यन्ते तस्मान्नैकमिन्द्रियं त्वगिति।

*—त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः † ॥

यथा त्वचोऽवयवविशेषः कश्चिच्चक्षुषि सन्निकृष्टो धूमस्पर्शं गृह्णाति नान्य एवं त्वचोऽवयवविशेषा रूपादिग्राहकास्तेषामुपघातादन्धादिभिर्न गृह्यन्ते रूपादयइति।

*—व्याहतत्वादहेतुः † ॥

* इन तीनों वार्त्तिकों को कलकत्ता, मुम्बई, अजमेर आदि की छपी पुस्तकों में प्रमाद से सूत्र करके छापा है।

त्वगव्यतिरेकादेकमिन्द्रियमित्युक्त्वा त्वगवयवविशेषेण धूमोपलब्धिवद्रूपाद्युपलब्धिरित्युच्यते । एवं च सति नानाभूतानि विषयग्राहकाणि विषयव्यवस्थानात् तद्भावे विषयग्रहणस्य भावात्तदुपघाते चाभावात् तथा च पूर्वो वाद उत्तरेण वादेन व्याहन्यत इति ।

सन्दिग्धश्चाव्यतिरेकः । पृथिव्यादिभिरपि भूतैरिन्द्रियाधिष्ठानानि व्याप्तानि न च तेष्वसत्सु विषयग्रहणं भवतीति । तस्मान्न त्वगन्यद्वा सर्वविषयमेकमिन्द्रियमिति ।

भा०:—सब शरीर में अभाव न होने से एक ' त्वग् इन्द्रिय ' है । सब इन्द्रियों के स्थानों में त्वचा विद्यमान है विन त्वचा के विषयों का ज्ञान नहीं होता इस लिये एक त्वग् ही इन्द्रिय है इन्द्रियों के अर्थों की अनुपलब्धि से तुम्हारा कहना ठीक नहीं । स्पर्श के ज्ञान कराने वाली त्वग् इन्द्रिय के विद्यमान रहते अन्धे आदि मनुष्यों को अन्य इन्द्रियों के विषय रूपादिकों का ज्ञान नहीं होता । जो स्पर्श के ग्राहक त्वक् इन्द्रिय से भिन्न दूसरा इन्द्रिय नहीं होता, तो जैसे अन्धे आदि मनुष्यों को स्पर्श का अनुभव होता, वैसे ही रूपादिकों का ज्ञान क्यों न होता ? इस से सिद्ध हुआ कि एक त्वग् ही इन्द्रिय नहीं है । जैसे त्वचा का कोई एक भाग जो आंख में रहता, उसी से धुआं का ज्ञान होता, दूसरे से नहीं, वैसे ही त्वचा के कोई एक भाग रूपादिकों के बोधक होते, उन के विगड़ जाने से अन्धे आदिकों को रूपादि का ज्ञान नहीं होता है । आप ही खण्डित होने से तुम्हारा हेतु नहीं । अर्थात् त्वचा के अभाव न होने इन्द्रिय एक है । यह कहकर त्वचा के किसी एक भाग से धूम के ज्ञान की नाई उस के कोई एक भाग रूपादिकों के बोधक होते हैं, ऐसा कहा इससे यही सिद्ध होता कि विषयों के बोधक अनेक हैं । उन के ठीक रहने से विषयों का ज्ञान होता और उन के विगड़ने से विषयों का ज्ञान नहीं होता, तब पहिला कहना दूसरे से खण्डित हो गया ॥ ५२ ॥

न युगपदर्थानुपलब्धेः ॥ ५३ ॥

आत्मा मनसा सम्बध्यते मन इन्द्रियेण इन्द्रियं सर्वार्थैः सन्निकृष्टमिति आत्मेन्द्रियमनोर्थसन्निकर्षेभ्यो युगपद्ग्रहणानि स्युः । न च युगपद्रूपादयो गृह्यन्ते तस्मान्नैकमिन्द्रियं सर्वविषयमस्तीति । असाहचर्याच्च विषयग्रहणानां नैकमिन्द्रियं सर्वविषयकं साहचर्ये हि विषयग्रहणानामन्धाद्यनुपपत्तिरिति ।

भा०:-एक काल में अनेक विषयों की अनुपलब्धि से इन्द्रिय एक नहीं। आत्मा का मन के साथ संयोग होता, और मन का इन्द्रिय के साथ और इन्द्रिय का अनेक विषयों के साथ संयोग होने से एक ही काल में अनेक ज्ञान हो जाने चाहिये। और यह सिद्धान्त है कि एक काल में अनेक ज्ञान होते नहीं इस लिये सर्व विषयक एक इन्द्रिय नहीं, जो अनेक ज्ञानों का एक साथ होना मानोगे, तो 'देवदत्त अन्धा और यज्ञदत्त वहिरा' इत्यादि व्यवस्था ठीक न रहेगी, क्योंकि जब एक संग अनेक विषयों का ज्ञान सभी को हुआ, तब अन्धे को रूप का ज्ञान, वहिरे को शब्द का ज्ञान, ऐसे ही और भी गड़बड़ हो जायगी ॥ ५३ ॥

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ॥ ५४ ॥

न खलु त्वगेकमिन्द्रियं व्याघातात्। त्वचा रूपाण्यप्राप्तानि गृह्यन्त इति। अप्राप्यकारित्वे स्पर्शादिष्वप्येवं प्रसङ्गः स्पर्शादीनां च प्राप्तानां ग्रहणाद्रूपादीनां प्राप्तानामग्रहणमिति प्राप्तम्। प्राप्यकारित्वमिति चेद् आवरणानुपपत्तेर्विषयमात्रस्य ग्रहणम्। अथापि मन्येत प्राप्ताः स्पर्शादयस्त्वचा गृह्यन्ते रूपाणि त्वप्राप्तानीति एवं सति नास्त्यावरणम् आवरणानुपपत्तेश्च रूपमात्रस्य ग्रहणं व्यवहितस्य चाव्यवहितस्य चेति। दूरान्तिकानुविधानं च रूपोपलब्ध्यनुपलब्ध्योर्न स्यात्। अप्राप्तं त्वचा गृह्यते रूपमिति दूरे रूपस्याग्रहणमन्तिके च ग्रहणमित्येतन्न स्यादिति। प्रतिषेधाच्च नानात्वसिद्धौ स्थापनाहेतुरप्युपादीयते।

भा०:-और विप्रतिषेध होने से एक त्वग् इन्द्रिय नहीं। त्वचा से अप्राप्त रूपों का ज्ञान होता, जब इस को अप्राप्त-कारी मानोगे, तो स्पर्शादिकों में भी ऐसा ही मानना पड़ेगा अर्थात् त्वग् इन्द्रिय के साथ विषय का संयोग न रहते भी स्पर्श का ज्ञान हो जायगा। जो कहो कि स्पर्शादिकों का ज्ञान प्राप्त होकर होता है और रूपादिकों का विन प्राप्त हुए ही होता है इसलिये त्वगिन्द्रिय प्राप्तकारी और अप्राप्तकारी भी है। तो फिर कुछ रोक न होने से रूपमात्र का ज्ञान हो जायगा। चाहे वस्तु सामने धरी हो या किसी की ओट में रक्खी हो और दूर तथा पास की व्यवस्था भी न रहेगी। अर्थात् जब यह बात ठहरी कि त्वग् इन्द्रिय विन पहुंचे ही रूप का ज्ञान कराती, तो दूर होने से रूप का ज्ञान नहीं होता और समीप रहने से होता है यह बात न बनेगी ॥ ५४ ॥

इन्द्रियार्थपञ्चत्वात् ॥ ५५ ॥

अर्थः प्रयोजनं तत् पञ्चविधमिन्द्रियाणां स्पर्शनेनेन्द्रियेण स्पर्शग्रहणे सति न तेनैव रूपं गृह्यतइति रूपग्रहणप्रयोजनं चक्षुरनुमीयते । स्पर्शरूपग्रहणे च ताभ्यामेव न गन्धो गृह्यतइति गन्धग्रहणप्रयोजनं घ्राणमनुमीयते । त्रयाणां ग्रहणे न तैरेव रसो गृह्यतइति रसग्रहणप्रयोजनं रसनमनुमीयते । न चतुर्णां ग्रहणे तैरेव शब्दः श्रूयते इति शब्दग्रहणप्रयोजनं श्रोत्रमनुमीयते । एवमिन्द्रियप्रयोजनस्यानितरेतरसाधनसाध्यत्वात्पञ्चैवेन्द्रियाणि ।

भा०:—इन्द्रियों के प्रयोजन पांच हैं, इसलिये इन्द्रिय भी पांच ही हैं। त्वचा से स्पर्श का ज्ञान होने पर उसी से रूप का ज्ञान नहीं होता, इसलिये नेत्र इन्द्रिय माना गया। स्पर्श और रूप का ज्ञान होते उन्हीं दो इन्द्रियों से गन्ध का ज्ञान नहीं होता, इसलिये घ्राण इन्द्रिय मानना पड़ा, स्पर्श आदि तीन विषयों का ज्ञान होने पर उन्हीं तीन इन्द्रियों से रस का बोध नहीं होसकता, तब रसन इन्द्रिय का अनुमान हुआ, ऐसे ही उक्त चार इन्द्रियों से शब्द का श्रवण नहीं हो सकता, तो उस के लिये श्रवण इन्द्रिय भी मानने ही पड़ी, इन्द्रियों के प्रयोजन परस्पर साधनों से असाध्य हैं इसलिये इन्द्रिय पांच हैं ॥ ५५ ॥

न तदर्थबहुत्वात् ॥ ५६ ॥

न खल्विन्द्रियार्थपञ्चत्वात्पञ्चेन्द्रियाणीति सिद्ध्यति । कस्मात्तेषामर्थानां बहुत्वात् । बहवः खल्विमे इन्द्रियार्थाः स्पर्शास्तावच्छीतोष्णानुष्णाशीता इति । रूपाणि शुक्लहरितादीनि । गन्धा इष्टानिष्टोपेक्षणीयाः । रसाः कटुकादयः । शब्दा वर्णात्मानो ध्वनिमात्राश्च भिन्नाः । तद्यस्येन्द्रियार्थपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणि तस्येन्द्रियार्थबहुत्वाद्बहूनि इन्द्रियाणि प्रसज्यन्तइति ।

भा०:—इन्द्रियों के पांच प्रयोजन होने से इन्द्रिय पांच हैं, यह ठीक नहीं, क्योंकि उन के विषय बहुत हैं । स्पर्श तीन प्रकार का है शीत, उष्ण, और साधारण सफेद, नीला, पीला, आदि । रूप कई प्रकार का है, सुगन्ध और दुर्गन्ध, तथा साधारण भेद से गन्ध तीन प्रकार का है मीठा, कड़ुआ, आदि । रस छः प्रकार का है। वर्णरूप और ध्वनि के भेद से शब्द भिन्न २ हैं इसलिये इन्द्रियों के अर्थ पांच होने से इन्द्रियां भी पांच हैं ऐसा जो मानता है उस को अर्थ बहुत होने से इन्द्रिय बहुत हैं ऐसा भी मानना पड़ेगा ॥ ५६ ॥

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद्गन्धादीनामप्रतिषेधः ॥ ५७ ॥

गन्धत्वादिभिः स्वसामान्यैः कृतव्यवस्थानां गन्धादीनां यानि गन्धादिग्रहणानि तान्यसमानसाधनसाध्यत्वाद् ग्राहकान्तराणि न प्रयोजयन्ति अर्थसमूहोनुमानमुक्तो नार्थैकदेशः। अर्थैकदेशं चाश्रित्य विषयपञ्चत्वमात्रं भवान्प्रतिषेधति तस्मादयुक्तोऽयं प्रतिषेध इति। कथं पुनर्गन्धत्वादिभिः स्वसामान्यैः कृतव्यवस्था गन्धादय इति। स्पर्शः खल्वयं त्रिविधः शीत उष्णो ऽनुष्णाशीतश्च स्पर्शत्वेन स्वसामान्येन संगृहीतः। गृह्यमाणे च शीतस्पर्शे नोष्णस्यानुष्णाशीतस्य वा स्पर्शस्य ग्रहणं ग्राहकान्तरं प्रयोजयति स्पर्शभेदानामेकसाधनसाध्यत्वाद् येनैव शीतस्पर्शो गृह्यते तेनैवेतरावपीति। एवं गन्धत्वेन गन्धानां रूपत्वेन रूपाणां रसत्वेन रसानां शब्दत्वेन शब्दानामिति। गन्धादिग्रहणानि पुनरसमानसाधनसाध्यत्वाद् ग्राहकान्तराणां प्रयोजकानि। तस्मादुपपन्नमिन्द्रियार्थपञ्चत्वात् पञ्चेन्द्रियाणीति। यदि सामान्यं संग्राहकं प्राप्तमिन्द्रियाणाम्॥

भा॰:-गन्धादिकों के गन्धत्वादि सामान्य धर्म पांच हैं, उन से व्यतिरेक न होने से पंचत्व का निषेध नहीं हो सकता। अर्थात् जैसे शीत, उष्ण, और साधारण भेद से स्पर्श तीन प्रकार का है, पर तीनों में स्पर्शत्वरूप धर्म एक ही है, इसलिये स्पर्श का बोधक एक इन्द्रिय अनुमान किया जाता। अलग २ तीन इन्द्रिय नहीं माने जाते, क्योंकि स्पर्श के जितने भेद हैं वे सब एक ही साधन से सिद्ध हो सकते हैं, ऐसे ही गन्धत्व से गन्धों का, रूपत्व से रूपों का रसत्व से रसों का और शब्दत्व से सब प्रकार के शब्दों का अनुगम हो जाने से, दूसरे साधनों की अपेक्षा नहीं रहती, इसलिये अर्थों के पांच होने से भी पांच ही इन्द्रिय सिद्ध होते हैं, अधिक नहीं॥ ५७॥

विषयत्वाव्यतिरेकादेकत्वम्॥ ५८॥

विषयत्वेन हि सामान्येन गन्धादयः संगृहीता इति।

भा॰:-विषयत्व के व्यतिरेक न होने से एकत्व हो जायगा। अर्थात् जैसे सब प्रकार के स्पर्शों में स्पर्शत्वरूप धर्म के एक होने से स्पर्श इन्द्रिय एक ही माना गया, वैसे ही गन्धादि सब विषयों में विषयत्वरूप धर्म के एक होने से एक ही इन्द्रिय क्यों नहीं मानते?॥ ५८॥

न बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः॥ ५९॥

न खलु विषयत्वेन सामान्येन कृतव्यवस्था विषया ग्राहकान्तरनिरपेक्षा एकसाधनसाध्या अनुमीयन्ते। अनुमीयन्ते च पञ्च गन्धादयो गन्धत्वादिभिः स्व-

सामान्यैः कृतव्यवस्था इन्द्रियान्तरग्राह्यास्तस्मादसंबद्धमेतत् । अयमेव चार्थोऽनूद्यते बुद्धिलक्षणपञ्चत्वादिति । बुद्धय एव लक्षणानि विषयग्रहणलिङ्गत्वादिन्द्रियाणां तदेतदिन्द्रियार्थपञ्चत्वादित्येतस्मिन्सूत्रे कृतभाष्यमिति । तस्माद् बुद्धिलक्षणपञ्चत्वात्पञ्चेन्द्रियाणि । अधिष्ठानान्यपि खलु पञ्चेन्द्रियाणां सर्वशरीराधिष्ठानं स्पर्शनं स्पर्शग्रहणलिङ्गं कृष्णताराधिष्ठानं चक्षुः बहिर्निःसृतं रूपग्रहणलिङ्गं नासाधिष्ठानं घ्राणं जिह्वाधिष्ठानं रसनं कर्णच्छिद्राधिष्ठानं श्रोत्रं गन्धरसरूपस्पर्शशब्दग्रहणलिङ्गत्वादिति । गतिभेदादपीन्द्रियभेदः । कृष्णसारोपनिबद्धं चक्षुर्बहिर्निःसृत्य रूपाधिकरणानि द्रव्याणि प्राप्नोति । स्पर्शनादीनि त्विन्द्रियाणि विषया एवाश्रयोपसर्पणात्प्रत्यासीदन्ति । सन्तानवृत्त्या शब्दस्य श्रोत्रप्रत्यासत्तिरिति । आकृतिः खलु परिमाणमियत्ता सा पञ्चधा । स्वस्थानमात्राणि घ्राणरसनस्पर्शनानि विषयग्रहणेनानुमेयानि । चक्षुः कृष्णताराश्रयं बहिर्निःसृतं विषयव्यापि । श्रोत्रं नान्यदाकाशात् तच्च विभु शब्दमात्रानुभवानुमेयं पुरुषसंस्कारोपग्रहाच्चाधिष्ठाननियमेन शब्दस्य व्यञ्जकमिति । जातिरिति योनिं प्रचक्षते । पञ्च खल्विन्द्रिययोनयः पृथिव्यादीनि भूतानि तस्मात्प्रकृतिपञ्चत्वादपि पञ्चेन्द्रियाणीति सिद्धम् । कथं पुनर्ज्ञायते भूतप्रकृतीनीन्द्रियाणि नाव्यक्तप्रकृतीनीति ? ।

भा०:-विषयत्व रूप सामान्य धर्म से व्यवस्थित हो ग्राह्यमान (निर्विशेष) एक साधन से ग्रहण करने योग्य विषय अनुमान नहीं किये जाते किन्तु गंध आदि पांच विषय गंधत्व आदि अपने २ सामान्य धर्मों से व्यवस्थित हो भिन्न २ इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं । सूंघना, छूना, रस लेना, देखना और सुनना, ये पांच प्रकार के ज्ञान, पांच इन्द्रियों के बोधक हैं । इन्द्रियों के स्थान भी पांच हैं। स्पर्श इन्द्रिय का सब शरीर, काली पुतली नेत्र का, घ्राण का नाक, रसन इन्द्रिय का जीभ और कान का छेद, श्रोत्र इन्द्रिय का स्थान है इसलिये इन्द्रिय भी पांच ही होने चाहिये । गति के भेद से भी इन्द्रियों का भेद है । काली पुतली में स्थित चक्षु इन्द्रिय बाहिर निकल कर रूपवान् पदार्थों में पहुंचता है । स्पर्शादि इन्द्रियों से विषय मिलजाते एक शब्द से दूसरा , फिर उस से तीसरा , इस क्रम से शब्द का श्रवण इन्द्रिय से संयोग होता। आकृति अर्थात् आकार पांच प्रकार के हैं इस से भी इन्द्रिय पांच सिद्ध होते हैं , पृथिवी आदि पंचभूत इन्द्रियों के कारण हैं । जब कारण पांच है तब उन के कार्य भी पांच ही होने चाहिये यह क्योंकर जाना कि इन्द्रियों के कारण पृथिवी आदि पंच भूत ही हैं और प्रकृति नहीं ?॥५९॥ इस का उत्तर—

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम् ॥ ६० ॥

दृष्टो हि वाय्वादीनां भूतानां गुणविशेषाभिव्यक्तिनियमः । वायुः स्पर्श-व्यञ्जकः आपो रसव्यञ्जिकाः तेजो रूपव्यञ्जकं पार्थिवं किञ्चिद् द्रव्यं कस्य चिद् द्रव्यस्य गन्धव्यञ्जकम् । अस्ति चायमिन्द्रियाणां भूतगुणविशेषोपलब्धिनियमः । तेन भूतगुणविशेषोपलब्धेर्मन्यामहे भूतप्रकृतीनीन्द्रियाणि नाव्यक्तप्रकृतीनीति । गन्धादयः पृथिव्यादिगुणा इत्युपदिष्टम् । उद्देशश्च पृथिव्यादीनामेकगुणत्वे चा-नेकगुणत्वे समान इत्यत आह ।

भा०ः--वायु आदि पांच भूतों का गुणविशेष के प्रगट करने का नियम देख पड़ता है इस से इन्द्रिय भूतकार्य हैं यह सिद्ध होता है, जैसे वायु स्पर्श का बोधक, जल रस का, पार्थिव पदार्थ गन्ध का बोधक है, और यही नियम इन्द्रियों में भी देख पड़ता, इस से जानते हैं कि पृथिवी आदि पांच भूत ही इन्द्रियों के कारण हैं दूसरा नहीं ॥ ६० ॥

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः ॥ ६१ ॥

अप्तेजोवायूनां पूर्वं पूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः* ॥ ६२ ॥

स्पर्शपर्यन्तानामिति विभक्तिविपरिणामः । आकाशस्योत्तरः शब्दः स्पर्श-पर्यन्तेभ्य इति । कथं तर्हि तरब्निर्देशः । स्वतन्त्रविनियोगसामर्थ्यात् । तेनोत्त-रशब्दस्य परार्थाभिधानं विज्ञायते । उद्देशसूत्रे हि स्पर्शपर्यन्तेभ्यः परः शब्द इति । तन्त्रं वा स्पर्शस्य विवक्षितत्वात् स्पर्शपर्यन्तेषु नियुक्तेषु योऽन्यस्तदुत्तरः शब्द इति ।

भा०ः--गंध, रस, रूप, स्पर्श, और शब्द इन में स्पर्श तक पृथिवी के गुण हैं। जल, तेज, और वायु के पहिला छोड़कर शेष गुण हैं। आकाश का पिछला गुण है अर्थात् गंध, रस, रूप, और स्पर्श, ये चार गुण पृथिवी के हैं। रस, रूप, और स्पर्श, ये तीन गुण जल के हैं, रूप और स्पर्श दो गुण तेज के हैं। वायु का स्पर्श, और आकाश का शब्द गुण है ॥ ६१ ॥ ६२ ॥

न सर्वगुणानुपलब्धेः ॥ ६३ ॥

नायं गुणनियोगः साधुः । कस्माद् यस्य भूतस्य ये गुणा न ते तदात्मके-नेन्द्रियेण सर्वउपलभ्यन्ते । पार्थिवेन हि घ्राणेन स्पर्शपर्यन्ता न गृह्यन्ते गन्ध

---

*प्रमाद से इन दो सूत्रों को अजमेर आदि की छपी पुस्तक में एक करके छापा है ।

एवैको गृह्यते एवं शेषेष्वपीति । कथं तर्हीमे गुणा विनियोक्तव्या इति ।

भा०:-यह गुण नियम ठीक नहीं, क्योंकि जिस भूत के जितने गुण हैं वे सब उस के इन्द्रिय से ज्ञात नहीं होते । अर्थात् पृथिवी के इन्द्रिय घ्राण से, गंध से लेकर स्पर्श तक पृथ्वी के गुणों का ज्ञान नहीं होता, किन्तु केवल गंध का ज्ञान होता है यही दशा औरों में भी जानलो ॥ ६३ ॥

एकैकश्येनोत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तराणां तदनुपलब्धिः ॥६४॥

गन्धादीनामेकैको यथाक्रमं पृथिव्यादीनामेकैकस्य गुणः अतस्तदनुपलब्धिः तेषां तयोः तस्य चानुपलब्धिः । घ्राणेन रसरूपस्पर्शानां रसनेन रूपस्पर्शयोः चक्षुषा स्पर्शस्येति । कथं तर्ह्यनेकगुणानि भूतानि गृह्यन्तइति ।

भा०:-गन्ध आदि गुणों में से एक २ गुण क्रम से पृथ्वी आदि भूतों का है, इसलिये उन का ज्ञान नहीं होता । अर्थात् घ्राण इन्द्रिय से रस, रूप, और स्पर्श का ज्ञान नहीं होता । रसनेन्द्रिय से रूप और स्पर्श का, और आंख से स्पर्श का ज्ञान नहीं होता तो फिर अनेक गुण वाले भूत कैसे जाने जाते हैं ॥६४॥

संसर्गाच्चानेकगुणग्रहणम् ॥ ६५ ॥

अबादिसंसर्गाच्च पृथिव्यां रसादयो गृह्यन्ते एवं शेषेष्वपीति । नियमस्तर्हि न प्राप्नोति संसर्गस्यानियमाच्चतुर्गुणा पृथिवी त्रिगुणा आपो द्विगुणं तेज एकगुणो वायुरिति । नियमश्चोपपद्यते कथम् ।

भा०:-जलादिकों के योग से पृथ्वी में रस आदि गुणों का ग्रहण होता है, ऐसे ही औरों में भी समझना चाहिये. जो ऐसा है तो संयोग में नियम न होने से पृथ्वी में चार गुण, जल में तीन गुण, दो गुण, तेज में, वायु में एक गुण, यह नियम न रहेगा ॥ ६५ ॥ इस का उत्तर—

विष्टं ह्यपरं परेण ॥ ६६ ॥

पृथिव्यादीनां पूर्वपूर्वमुत्तरेणोत्तरेण विष्टमतः संसर्गानियम इति । तच्चैतद्भूतसृष्टौ वेदितव्यं नैतर्हीति ।

भा०:-पृथ्वी आदि भूतों में पूर्व पूर्व भूत उत्तर उत्तर भूत से मिला है इस लिये संयोग में अनियम नहीं है । अर्थात् पृथ्वी पहिली उस में पिछले जल, तेज, और वायु के गुणों का मेल होने से वह चार गुण वाली कहाई । उस के पीछे जल में पिछले तेज और वायु के गुणों के संयोग से जल तीन गुण वाला कहाया, यही व्यवस्था औरों की भी समझनी चाहिये ॥ ६६ ॥

न पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ॥ ६७ ॥

नेति त्रिसूत्रीं प्रत्याचष्टे। कस्मात्पार्थिवस्य द्रव्यस्याप्यस्य च प्रत्यक्षत्वात्। महत्त्वानेकद्रव्यत्वाद्रूपाच्चोपलब्धिरिति तैजसमेव द्रव्यं प्रत्यक्षं स्यात्। न पार्थिवमाप्यं वा रूपाभावात्। तैजसवत्तु पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वाद् न संसर्गादनेकगुणग्रहणं भूतानामिति। भूतान्तररूपकृतं च पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वं ब्रुवतः प्रत्यक्षो वायुः प्रसज्यते नियमे वा कारणमुच्यतामिति। रसयोर्वा पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् पार्थिवो रसः षड्विधः आप्यो मधुर एव न चैतत्संसर्गाद्भवितुमर्हति। रूपयोर्वा पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् तैजसरूपानुगृहीतयोः संसर्गे हि व्यञ्जकमेव रूपं न व्यङ्ग्यमस्तीति। एकानेकविधत्वे च पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वाद् रूपयोः पार्थिवं हरितलोहितपीताद्यनेकविधं रूपमाप्यं तु शुक्लमप्रकाशकं न चैतदेकगुणानां संसर्गे सत्युपलभ्यतइति। उदाहरणमात्रं चैतत्। अतः परं प्रपञ्चः। स्पर्शयोर्वा पार्थिवतैजसयोः प्रत्यक्षत्वात् पार्थिवोऽनुष्णाशीतः स्पर्शः उष्णस्तैजसः प्रत्यक्षो न चैतदेकगुणानामनुष्णाशीतस्पर्शेन वायुना संसर्गेणोपपद्यतइति। अथ वा पार्थिवाप्ययोर्द्रव्ययोर्व्यवस्थितगुणयोः प्रत्यक्षत्वाच्चतुर्गुणं पार्थिवं द्रव्यं त्रिगुणमाप्यं प्रत्यक्षं तेन तत्कारणमनुमीयते तथाभूतमिति। तस्य कार्यं लिङ्गं कारणभावाद्धि कार्यभाव इति। एवं तैजसवायव्ययोर्द्रव्ययोः प्रत्यक्षत्वाद् गुणव्यवस्थायाः तत्कारणे द्रव्ये व्यवस्थानुमानमिति। दृष्टश्च विवेकः पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् पार्थिवं द्रव्यमबादिभिर्वियुक्तं प्रत्यक्षतो गृह्यते आप्यं च पराभ्यां तैजसं च वायुना न चैकैकगुणं गृह्यतइति निरनुमानं तु विष्टं ह्यपरं परेणेत्येतदिति। नात्र लिङ्गमनुमापकं गृह्यतइति येनैतदेवं प्रतिपद्येमहि। यच्चोक्तं विष्टं ह्यपरं परेणेति भूतसृष्टौ वेदितव्यं न साम्प्रतमिति नियमकारणाभावादयुक्तम्। दृष्टं च साम्प्रतमपरं परेण विष्टमिति वायुना च विष्टं तेज इति। विष्टत्वं संयोगः स च द्वयोः समानो वायुना च विष्टत्वात्स्पर्शवत्तेजो न तु तेजसा विष्टत्वाद् रूपवान्वायुरिति नियमकारणं नास्तीति। दृष्टं च तैजसेन स्पर्शेन वायव्यस्य स्पर्शस्याभिभवादग्रहणमिति न च तेनैव तस्याभिभव इति। तदेवं न्यायविरुद्धं प्रवादं प्रतिषिध्य न सर्वगुणानुपलब्धेरिति चोदितं समाधीयते।

भा०:-इस सूत्र से पहिले तीन सूत्रों का खण्डन करते हैं। पार्थिव पदार्थ और जल के पदार्थों के प्रत्यक्ष होने से उक्त कथन उचित नहीं अर्थात् पृथिवी सम्बन्धी पदार्थ और जलीय पदार्थों का प्रत्यक्ष होता है और रूप के विना प्रत्यक्ष होता नहीं। जो इन में रूप न मानोगे तो प्रत्यक्ष न होगा। केवल

तैजस वस्तु ही का प्रत्यक्ष होगा, क्योंकि रूप गुण तो तेज ही का है। पार्थिव पदार्थ या जलीय पदार्थों में रूप का अभाव है। जो कहो कि दूसरे भूत के रूप से इन का प्रत्यक्ष होता है, तो वायु का भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। जो कहो कि इन का तो प्रत्यक्ष होता और वायु का नहीं, तो इस में प्रमाण देना चाहिये या पार्थिव और जलीय पदार्थों के रसों के प्रत्यक्ष होने से पहिला कहना ठीक नहीं, क्योंकि पार्थिव रस छः प्रकार का होता जल में केवल मीठा रस है और यह संयोग से हो नहीं सकता या पार्थिव और जलीय वस्तुओं के रूप के प्रत्यक्ष से तुम्हारा कहना उचित नहीं क्योंकि लाल, पीला, काला, आदि भेद से पार्थिव रूप अनेक प्रकार का है और जलीय पदार्थ का साधारण श्वेत रूप एक ही प्रकार का है और यह बात एक एक गुणवाले पदार्थों में संयोग से प्राप्त नहीं होता ॥ ६७ ॥

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम् ॥ ६८ ॥

तस्मान्न सर्वगुणोपलब्धिः घ्राणादीनां पूर्वं पूर्वं गन्धादेर्गुणस्योत्कर्षात्तत्तत्प्रधानम्। का प्रधानता विषयग्राहकत्वम्। को गुणोत्कर्षः अभिव्यक्तौ समर्थत्वम्। यथा बाह्यानां पार्थिवाप्यतैजसानां द्रव्याणां चतुर्गुणत्रिगुणद्विगुणानां न सर्वगुणव्यञ्जकत्वं गन्धरसरूपोत्कर्षात्तु यथाक्रमं गन्धरसरूपव्यञ्जकत्वम्। एवं घ्राणरसनचक्षुषां चतुर्गुणत्रिगुणद्विगुणानां न सर्वगुणग्राहकत्वं गन्धरसरूपोत्कर्षात्तु यथाक्रमं गन्धरसरूपग्राहकत्वम्। तस्माद् घ्राणादिभिर्न सर्वेषां गुणानामुपलब्धिरिति। यस्तु प्रतिजानीते गन्धगुणत्वाद् घ्राणं गन्धस्य ग्राहकमेवं रसनादिष्वपीति। तस्य यथागुणयोगं घ्राणादिभिर्गुणग्रहणं प्रसज्यत इति। किं कृतं पुनर्व्यवस्थानं किञ्चित्पार्थिवमिन्द्रियं न सर्वाणि कानि चिदाप्यतैजसवायव्यानि इन्द्रियाणि न सर्वाणीति।

भा०:—पूर्व २ गुणों के उत्कर्ष से उस की प्रधानता है प्रधानता है क्या विषयों का ज्ञान कराना और प्रगट होने में जो सामर्थ्य है वही गुणों का उत्कर्ष है। जैसे बाहिर के चार गुण और तीन तथा दो गुण वाले पार्थिव जलीय और तैजस पदार्थ सब गुणों के प्रकाशक नहीं, किन्तु गंध, रस और रूप के उत्कर्ष से यथाक्रम गंध, रस, और रूप के बोधक हैं। ऐसे ही घ्राण, रसना और चक्षु सब गुणों के ग्राहक नहीं हैं, किन्तु गंध, रस, और रूप के उत्कर्ष से गंध, रस और रूप के बोधक हैं इस लिये प्रत्येक इंद्रियों से सब गुणों का ज्ञान नहीं होता ॥ ६८॥

तद्व्यवस्थानं तु भूयस्त्वात् ॥ ६९ ॥

अर्थनिर्वृत्तिसमर्थस्य प्रविभक्तस्य द्रव्यस्य संसर्गः पुरुषसंस्कारकारितो भूयस्त्वम् । दृष्टो हि प्रकर्षे भूयस्त्वशब्दः प्रकृष्टो यथा विषयो भूयानित्युच्यते । यथा पृथगर्थक्रियासमर्थानि पुरुषसंस्कारवशाद्विषौषधिमणिप्रभृतीनि द्रव्याणि निर्वर्त्यन्ते न सर्वं सर्वार्थमेवं पृथग्विषयग्रहणसमर्थानि घ्राणादीनि निर्वर्त्यन्ते न सर्वविषयग्रहणसमर्थानीति। स्वगुणान्नोपलभन्ते इन्द्रियाणि । कस्मादिति चेत् ?

भा०:-उन की व्यवस्था प्रकर्ष से है. जैसे भिन्न २ कार्य के करने में समर्थ विष. औषध. मणि आदि पदार्थ. पुरुषों के संस्कार के अनुसार रचे गये हैं । सब वस्तु सब काम के लिये नहीं. ऐसे ही अलग २ विषयों के ज्ञान कराने में समर्थ घ्राण आदि इन्द्रिय बनाये गये हैं न कि सब विषयों के बोधक। यदि ऐसा कहो कि इन्द्रियों से अपने गुणों का ज्ञान क्यों नहीं होता ? ॥ ६९ ॥

सगुणानामिन्द्रियभावात् ॥ ७० ॥

स्वान् गन्धादीन्नोपलभन्ते घ्राणादीनि । केन कारणेनेति चेत् । स्वगुणैः सह घ्राणादीनामिन्द्रियभावात् । घ्राणं स्वेन गन्धेन समानार्थकारिणा सह बाह्यं गन्धं गृह्णाति तस्य स्वगन्धग्रहणं सहकारिविकल्यान्न भवति । एवं शेषाणामपि । यदि पुनर्गन्धः सहकारि च स्याद् घ्राणस्य ग्राह्यस्येत्यत आह ।

भा०:-(उत्तर) घ्राण आदि इन्द्रिय अपने गुणों के ग्राहक नहीं होते, क्योंकि घ्राणादि इन्द्रियों को अपने गुणों के साथ ही इन्द्रियत्व है इसलिये घ्राण इन्द्रिय अपने गुण गंध की सहायता से बाहिर के गंध का ज्ञान कराता है। सहाय न रहने से अपने गुण का ग्रहण नहीं कर सक्ता यही रीति दूसरी इन्द्रियों में जानना ॥ ७० ॥ जो कहो कि गंध सहायक होकर घ्राण का ग्राह्य भी क्यों नहीं होता ? तो:-

तेनैव तस्याग्रहणाच्च ॥ ७१ ॥

न गुणोपलब्धिरिन्द्रियाणाम् । यो ब्रूते यथा बाह्यं द्रव्यं चक्षुषा गृह्यते तथा तेनैव चक्षुषा तदेव चक्षुर्गृह्यतामिति तादृगिदं तुल्यो ह्युभयत्र प्रतिपत्तिहेत्वभाव इति ।

भा०:-उसी से उस का ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिये इन्द्रिय अपने गुणों के ग्राहक नहीं होते । जो कोई पूछे कि जैसे आंख बाहिर के पदार्थ का प्रत्यक्ष कराता, वैसे ही अपना प्रत्यक्ष क्यों नहीं कराता ? इस का उत्तर भी यही है कि सहायक नहीं है ॥ ७१ ॥

न शब्दगुणोपलब्धेः ॥ ७२ ॥

स्वगुणान्नोपलभन्तइन्द्रियाणीतिएतन्नभवति।उपलभ्यतेहिस्वगुणःशब्दःश्रोत्रेणेति ।

भा०:-इन्द्रिय अपने गुणों का ग्रहण नहीं करते, यह कहना ठीक नहीं क्योंकि श्रवण इन्द्रिय से अपने गुण शब्द का ज्ञान होता है ॥७२॥

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ॥ ७३ ॥

न शब्देन गुणेन सगुणमाकाशमिन्द्रियं भवति । न शब्दः शब्दस्य व्यञ्जकः न च घ्राणादीनां स्वगुणग्रहणं प्रत्यक्षं नाप्यनुमीयते । अनुमीयते तु श्रोत्रेणाकाशेन शब्दस्य ग्रहणं शब्दगुणत्वं च आकाशस्येति । परिशेषश्चानुमानं वेदितव्यम् । आत्मा तावत् श्रोता न करणं मनसः श्रोत्रत्वे बधिरत्वाभावः पृथिव्यादीनां घ्राणादिभावे सामर्थ्यं श्रोत्रभावे चासामर्थ्यम् । अस्ति चेदं श्रोत्रमाकाशं च शिष्यते परिशेषादाकाशं श्रोत्रमिति ।

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये तृतीयस्याद्यमान्हिकम् ॥

भा०:-परस्पर द्रव्यों के गुणों के विलक्षण स्वभाव होने से श्रवण इन्द्रिय से शब्द का ज्ञान होजाता है । शब्द गुण से सगुण आकाश इन्द्रिय नहीं है । शब्द, शब्द का बोधक नहीं, घ्राण आदि इन्द्रियों का अपने गुणों का ग्रहण करना न तो प्रत्यक्ष से सिद्ध है और न अनुमान ही से सिद्ध होता है, किन्तु श्रोत्र आकाश से शब्द का ज्ञान और आकाश का शब्द गुण अनुमान किया जाता है । यहां विशेष अनुमान समझना चाहिये उस का स्वरूप यह है कि आत्मा तो श्रोता है 'करण' नहीं, मन को श्रोत्र मानने से बहिरेपन का अभाव हो जायगा, क्योंकि मन तो बहिरे को भी रहता ही है । पृथिवी आदि चार भूतों को घ्राणादि इन्द्रिय होने से सामर्थ्य है। श्रवण इन्द्रिय होने में नहीं अवशेष रहा आकाश तो वही श्रोत्र है यह सिद्ध हो गया ॥ ७३ ॥

न्यायशास्त्र के तृतीय अध्याय के प्रथम आन्हिक का अनुवाद पूरा हुआ ॥

———:*:———
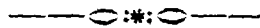
परीक्षितानीन्द्रियाण्यर्थाश्च बुद्धेरिदानीं परीक्षाक्रमः सा किमनित्या नित्या वेति । कुतः संशयः ।

कर्म्माकाशसाधर्म्यात्संशयः ॥ १ ॥

स्पर्शवत्त्वं ताभ्यां समानो धर्म उपलभ्यते बुद्धौ विशेषश्चोपजनापायधर्मवत्त्वं विपर्ययश्च यथास्वमनित्यनित्ययोस्तस्यां बुद्धौ नोपलभ्यते तेन संशय इति । अनुपपन्नः खल्वयं संशयः सर्वशरीरिणां हि प्रत्यात्मवेदनीया अनित्या बुद्धिः

सुखादिवत्। भवति च संविदिज्ञास्यामि जानामि अज्ञासिषमिति न चोपजनापायावन्तरेण त्रैकाल्यव्यक्तिस्ततश्च त्रैकाल्यव्यक्तेरनित्या बुद्धिरित्येतत्सिद्धम्। प्रमाणसिद्धं चेदं शास्त्रेप्युक्तमिन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं युगपज् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमित्येवमादि तस्मात्संशयप्रक्रियानुपपत्तिरिति। दृष्टिप्रवादोपालम्भार्थं तु प्रकरणम्। एवं हि पश्यन्तः प्रवदन्ति सांख्याः पुरुषस्यान्तःकरणभूता नित्या बुद्धिरिति। साधनं च प्रचक्षते।

भा०:—अर्थ और इन्द्रियों की परीक्षा हो गई। अब बुद्धि की परीक्षा की जाती है। यहां पहिले इस बात का विचार करते हैं कि बुद्धि नित्य है वा अनित्य ?–क्रिया और आकाश के साधर्म्य न बुद्धि में संदेह होता है। अर्थात् अस्पर्शत्व रूप धर्म (छूने में नहीं आना) क्रिया में है और वह अनित्य है; पर यह धर्म आकाश में भी है और वह नित्य है। यह धर्म बुद्धि में भी पाया जाता तब यह संदेह उत्पन्न होता है कि बुद्धि क्रिया की नाईं अनित्य है, या आकाश की भांति नित्य है? वात्स्यायनमुनि ने सब देहधारियों को सुखादि जैसे अनित्य हैं वैसे बुद्धि भी अनित्य हैं इस बात का अनुभव है 'जानूंगा,' 'जानता हूं,' और 'जाना,' ऐसा ज्ञान होता है। और उत्पत्ति विनाश के विना तीन काल की प्रसिद्धि हो नहीं सकती। तब बुद्धि अनित्य है यह सिद्ध हो गया। ऐसा कह उक्त संदेह का खण्डन कर दिया फिर सांख्यकार बुद्धि को नित्य मानते हैं। उनके खण्डन के लिये इस प्रकरण का आरम्भ है यह सिद्ध किया। आगे सांख्य का मत लिखते हैं ॥१॥

विषयप्रत्यभिज्ञानात् ॥ २ ॥

किं पुनरिदं प्रत्यभिज्ञानं पूर्वमज्ञासिषमर्थं तमिमं जानामीति ज्ञानयोः समानेऽर्थे प्रतिसन्धिज्ञानं प्रत्यभिज्ञानमेतच्चावस्थिताया बुद्धेरुपपन्नम्। नानात्वे तु बुद्धिभेदेषूत्पन्नापवर्गिषु प्रत्यभिज्ञानानुपपत्तिः नान्यज्ञातमन्यः प्रत्यभिजानातीति ॥

भा०:–विषयों के प्रत्यभिज्ञान से नित्य है। जिस विषय को मैं ने पहिले जाना था, उसी को अब जानता हूं। ये जो दो ज्ञानों का एक विषय में मेल है इसे प्रत्यभिज्ञान कहते और यह बुद्धि की स्थिरता में सिद्ध होता है। जो उत्पत्ति विनाशवाली अनेक बुद्धि होतीं, तो प्रत्यभिज्ञान की उपपत्ति कभी न हो सकती, क्योंकि यह नहीं हो सकता और के जाने विषय का प्रत्यभिज्ञान दूसरे को हो जाय ॥ २ ॥

साध्यसमत्वादहेतुः ॥ ३ ॥

यथा खलु नित्यत्वं बुद्धेः साध्यमेवं प्रत्यभिज्ञानमपीति । किं कारणं चेतनधर्मस्य करणेऽनुपपत्तिः । पुरुषधर्मः खल्वयं ज्ञानं दर्शनमुपलब्धिर्बोधः प्रत्ययोऽध्यवसाय इति चेतनो हि पूर्वज्ञातमर्थं प्रत्यभिजानाति तस्यैतस्माद्धेतोर्नित्यत्वं युक्तमिति । करणचैतन्याभ्युपगमे तु चेतनस्वरूपं वचनीयं नानिर्दिष्टस्वरूपमात्मान्तरं शक्यमस्तीति । प्रतिपत्तुम् । ज्ञानं चेद्बुद्धेरन्तःकरणस्याभ्युपगम्यते चेतनस्येदानीं किं स्वरूपं को धर्मः किं तत्त्वं ज्ञानेन च बुद्धौ वर्तमानेनायं चेतनः किं करोतीति ॥

* चेत तइति चेद् न ज्ञानादर्थान्तरवचनम् ।

पुरुषश्चेतयते बुद्धिर्जानातीति नेदं ज्ञानादर्थान्तरमुच्यते चेतयते जानीते पश्यति उपलभते इत्येकोऽयमर्थ इति । बुद्धिर्ज्ञापयतीति चेद् अद्धा जानीते पुरुषो बुद्धिर्ज्ञापयतीति सत्यमेतत् । एवं चाभ्युपगमे ज्ञानं पुरुषस्येति सिद्धं भवति न बुद्धेरन्तः करणस्येति ।

*प्रतिपुरुषं चशब्दान्तरव्यवस्थाप्रतिज्ञाने प्रतिषेधहेतुवचनम् ।

यश्च प्रतिजानीते कश्चित्पुरुषश्चेतयते कश्चिद्बुध्यते कश्चिदुपलभते कश्चित्पश्यतीति पुरुषान्तराणि खल्विमानि चेतनो बोद्धोपलब्धा द्रष्टेति नैकस्येति धर्मा इति अत्र कः प्रतिषेधहेतुरिति ।

* अर्थस्याभेद इति चेत् समानम् ।

अभिन्नार्था एते शब्दा इति तत्र व्यवस्थानुपपत्तिरित्येवं चेन्मन्यसे समानं भवति पुरुषश्चेतयते बुद्धिर्जानीते इत्यत्राप्यर्थो न भिद्यते तत्रोभयोश्चेतनत्वादन्यतरलोप इति । यदि पुनर्बुध्यतेऽनयेति बोधनं बुद्धिर्मन एवोच्यते तच्च नित्यम् अस्त्वेतदेवं न तु मनसो विषयप्रत्यभिज्ञानान्नित्यत्वम् । दृष्टं हि करणभेदे ज्ञातुरेकत्वात् प्रत्यभिज्ञानं सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानादिति । चक्षुर्वत् प्रदीपवच्च प्रदीपान्तरदृष्टस्य प्रदीपान्तरेण प्रत्यभिज्ञानमिति । तस्माज्ज्ञातुरयं नित्यत्वे हेतुरिति यच्च मन्यते बुद्धेरवस्थिताया यथाविषयं वृत्तयो ज्ञानानि निश्चरन्ति वृत्तिश्च वृत्तिमतो नान्येति तच्च ।

भा०:—साध्यसमत्व से उक्त हेतु ठीक नहीं। अर्थात् जैसे बुद्धि का नित्यत्व साध्य है वैसे ही प्रत्यभिज्ञान भी, क्योंकि चेतन के धर्म की उपपत्ति साधन में नहीं हो सकती ज्ञान, दर्शन, उपलब्धि, बोध, प्रत्यय, और अध्यवसाय,

ये सब चेतन के धर्म हैं, क्योंकि चेतन जाने हुए विषय का प्रत्यभिज्ञान करता है, इस कारण से चेतन का नित्यत्व युक्त है। करण का चैतन्य मानोगे, तो चेतन का स्वरूप कहना पड़ेगा, क्योंकि जिस का स्वरूप नहीं कहा गया, ऐसा कोई आत्मा माना जा नहीं सकता। ज्ञान तो अन्तः करण बुद्धि का धर्म मानते हो, तो चेतन का अब क्या स्वरूप? कौन धर्म? और क्या तत्व कहोगे? और जब ज्ञान तो बुद्धि में मान लिया। तब कहो कि यह चेतन क्या करता है? जो कहो कि चेतना करता है, तो ज्ञान से दूसरा अर्थ नहीं कहा गया। पुरुष चेतना करता है। और बुद्धि जानती, यह भी एक ही बात हुई। भेद कुछ न हुआ। जो कहो कि बुद्धि ज्ञान कराती है, तो बहुत अच्छा। इससे यही सिद्ध हुआ कि पुरुष जानता है और बुद्धि जनाती, है यह सत्य है, पर ऐसा मानने से ज्ञान पुरुष का धर्म है, बुद्धि का नहीं, यही सिद्ध होता है दोनों को चेतन कहोगे तो एक का अभाव ही मानना पड़ेगा, जो कहो कि जिस से जाने वह बोध का साधन बुद्धि है. तो ऐसा कहने से नित्य मन ही कहा गया। अस्तु परविषय के प्रत्यभिज्ञान से मन का नित्यत्व नहीं है, क्योंकि करण के भेद रहते भी ज्ञाता के एकत्व से प्रत्यभिज्ञान देखा जाता, जैसे बाईं आंख से देखे हुए पदार्थ का दाहिनी आंख से प्रत्यभिज्ञान होता। एक दीप से देखी वस्तु का, दूसरे दीप से प्रत्यभिज्ञान होता है इसलिये उक्त हेतु से ज्ञाता का नित्यत्व सिद्ध होता न कि बुद्धि का। जो ऐसा मानता कि बुद्धि स्थिर है उससे विषयानुसार वृत्ति निकलतीं और वृत्ति वृत्तिमान से भिन्न नहीं॥३॥

न युगपद्ग्रहणात् ॥ ४ ॥

वृत्तिवृत्तिमतोरनन्यत्वे वृत्तिमतोऽवस्थानाद् वृत्तीनामवस्थानमिति यानीमानि विषयग्रहणानि तान्यवतिष्ठन्त इति युगपद् विषयाणां ग्रहणं प्रसज्यतइति ॥

भा०:-एक काल में अनेक ज्ञान न होने से उक्त कथन ठीक नहीं वृत्ति और वृत्तिमान् का भेद न मानोगे, तो वृत्तिमान् की स्थिति से वृत्तियों की स्थिरता हो जायगी और विषयों के ज्ञानों के स्थिर होने से एक काल में अनेक ज्ञान हो जायंगे ॥ ४ ॥

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः ॥५॥

अतीते च प्रत्यभिज्ञाने वृत्तिमानप्यतीत इत्यन्तः करणस्य विनाशः प्रसज्यते विपर्यये च नानात्वमिति। अविभु चैकं मनः पर्यायेणेन्द्रियैः संयुज्यतइति।

भा०:—और प्रत्यभिज्ञान के नाश से अन्तःकरण का नाश मानने पड़ेगा। और उलटा मानने से अनेकत्व होजायगा इस लिये ज्ञान और ज्ञानवान् का अभेद कदापि नहीं हो सकता ॥ ५ ॥

क्रमवृत्तित्वादयुगपद् ग्रहणम् ॥ ६ ॥

इन्द्रियार्थानां वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वमिति। एकत्वे च प्रादुर्भावतिरोभावयोरभाव इति।

भा०:—इन्द्रियों की वृत्ति क्रम से होती इस लिये एक समय में अनेक ज्ञान नहीं होते। अर्थात् सूक्ष्म और एक मन का संयोग इन्द्रियों के साथ वारी २ से होता, इस लिये एक वार अनेक ज्ञान नहीं होते हैं ॥६॥

अप्रत्यभिज्ञानं च विषयान्तरव्यासङ्गात् ॥ ७ ॥

अप्रत्यभिज्ञानमनुपलब्धिः अनुपलब्धिश्च कस्य चिदर्थस्य विषयान्तरव्यासक्ते मनस्युपपद्यते वृत्तिवृत्तिमतोर्नानात्वादेकत्वे हि अनर्थको व्यासङ्ग इति। विभुत्वे चान्तःकरणस्य पर्यायेणेन्द्रियैः संयोगः।

भा०:—किसी एक विषय में मन के अधिक लग जाने से दूसरे विषय का ज्ञान नहीं होता, यह बात भी वृत्ति और वृत्तिमान् के भेद होने से मन में सिद्ध होती. एकता मानने में व्यासंग (संयोग विशेष) निष्प्रयोजन होता है॥७॥

न गत्यभावात् ॥ ८ ॥

प्राप्तानीन्द्रियाण्यन्तःकरणेनेति प्राप्त्यर्थस्य गमनस्याभावः। तत्र क्रमवृत्तित्वाभावादयुगपद् ग्रहणानुपपत्तिरिति गत्यभावाच्च प्रतिषिद्धं विभुनोऽन्तःकरणस्यायुगपद्ग्रहणं न लिङ्गान्तरेणानुमीयते इति। यथा चक्षुषो गतिः प्रतिषिद्धा सन्निकृष्टविप्रकृष्टयोस्तुल्यकालग्रहणात्पाणिचन्द्रमसोर्व्यवधानेन प्रतीघाते चानुमीयतइति सोयं नान्तःकरणे विवादो न तस्य नित्यत्वे। सिद्धं हि मनोन्तःकरणं नित्यं चेति। क्व तर्हि विवादः तस्य विभुत्वे तच्च प्रमाणतो ऽनुपलब्धे प्रतिषिद्धमिति। एकं चान्तःकरणं नाना चैता ज्ञानात्मिका वृत्तयः चक्षुर्विज्ञानं घ्राणविज्ञानं रूपविज्ञानं गन्धविज्ञानम्। एतच्च वृत्तिवृत्तिमतोरेकत्वे ऽनुपपन्नमिति पुरुषो जानीते नान्तःकरणमिति। एतेन विषयान्तरव्यासङ्गः प्रत्युक्तः। विषयान्तरग्रहणलक्षणो विषयान्तरव्यासङ्गः पुरुषस्य नान्तःकरणस्येति केन क्व चिदिन्द्रियेण सन्निधिः केन क्व चिदसन्निधिरित्ययं तु व्यासङ्गो ऽनुज्ञायते मनस इति एकमन्तः करणं नानावृत्तय इति। सत्यभेदे वृत्तेरिदमुच्यते।

भा०:-कोई कहते हैं कि अन्तःकरण विभु है, उस का क्रम से इन्द्रियों के साथ संयोग होता है, उस का खण्डन इस सूत्र से करते हैं कि "अन्तःकरण को विभु मानोगे, तो गति के अभाव से मन के साथ इन्द्रियों का क्रम से संयोग न होने से एक समय अनेक ज्ञान नहीं होते"। यह बात न बनेगी क्योंकि जब मन विभु हुआ, तब इस का संयोग सब इन्द्रियों के साथ होने से एक वार अनेक ज्ञान होने में क्या रोक होगी ? इस लिये मन को विभु मानना ठीक नहीं है ॥८॥

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्तदन्यत्वाभिमानः ॥ ९ ॥

तस्यां वृत्तौ नानात्वाभिमानो यथा द्रव्यान्तरोपहिते स्फटिके अन्यत्वाभिमानो नीलो लोहित इति एवं विषयान्तरोपधानादिति ।

* न हेत्वभावात् ।+

स्फटिकान्यत्वाभिमानवदयं ज्ञानेषु नानात्वाभिमानो गौणो न पुनर्गन्धाद्यन्यत्वाभिमानवदिति हेतुर्नास्ति हेत्वाभावादनुपपन्नइति । समानो हेत्वभाव इति चेद् न ज्ञानानां क्रमेणोपजनापायदर्शनात् । क्रमेण हीन्द्रियार्थेषु ज्ञानान्युपजायन्ते चापयन्ति चेति दृश्यते । तस्माद् गन्धाद्यन्यत्वाभिमानवदयं ज्ञानेषु नानात्वाभिमान इति । स्फटिकान्यत्वाभिमानवदित्येतदमृष्यमाणः क्षणिकवाद्याह ।

भा०:-जैसे स्फटिक भिन्न २ रंग के पदार्थों के योग से काला, पीला, आदि वर्णवाला जान पड़ता है, वैसे ही भिन्न २ विषयों के सम्बन्ध से वृत्ति में अनेकत्व का अभिमान होता है, वस्तुतः वृत्ति एक ही है। "हेतु के अभाव से उक्त कथन ठीक नहीं" ।-अर्थात् जैसे स्फटिक में दूसरे पदार्थों के योग से भिन्नत्व की प्रतीति भ्रम से होती है। ऐसे ही ज्ञानों में अनेकत्व भ्रम से जान पड़ता है. ऐसा ही क्यों गन्धादि पदार्थ जैसे अलग २ जान पड़ते वैसे ही ज्ञान भी भिन्न २ हैं यही क्यों न मान लिया जाय ? क्योंकि हेतु तो कोई है नहीं इस पर जो कहो कि हेतु का न होना हमारे तुम्हारे दोनों के मतों में तुल्य है, तो हमारा ही कहना ठीक क्यों नहीं ? इस का उत्तर यह है कि ज्ञानों का क्रम से उत्पन्न होना और नष्ट होना प्रत्यक्ष सिद्ध है इसलिये जैसे गन्धादि इन्द्रिय विषय अनेक हैं वैसे ही इन के ज्ञान भी अनेक ही हैं ॥९॥

+इस वार्त्तिक को कलकत्ता आदि की छपी पुस्तक में प्रमाद से सूत्र माना है।

स्फटिक में भिन्नता भ्रम से जान पड़ती इसे नहीं मानता क्षणिकवादी कहता है।

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद्व्यक्तीनामहेतुः ॥१०॥

स्फटिकस्याभेदेनावस्थितस्योपधानभेदान्नानात्वाभिमान इत्ययमविद्यमानहेतुकः पक्षः । कस्मात् स्फटिके ऽप्यपरापरोत्पत्तेः । स्फटिकेऽपि अन्या व्यक्तय उत्पद्यन्ते अन्या निरुद्धयन्तइति । कथं क्षणिकत्वाद् व्यक्तीनाम् । क्षणश्चाल्पीयान्कालः क्षणस्थितिकाः क्षणिकाः । कथं पुनर्गम्यते क्षणिका व्यक्तय इति । उपचयापचयप्रबन्धदर्शनाच्छरीरादिषु पक्तिनिर्वृत्तस्याहाररसस्य शरीरे रुधिरादिभावेनोपचयो ऽपचयश्च प्रबन्धेन प्रवर्त्तते उपचयाद्व्यक्तीनामुत्पादः अपचयाद्व्यक्तिनिरोधः । एवं च सत्यवयवपरिणामभेदेन वृद्धिः शरीरस्य कालान्तरे गृह्यते इति सोयं व्यक्तिविशेषधर्मो व्यक्तिमात्रे वेदितव्य इति ।

भा०:—व्यक्तियों के क्षणिकपन से स्फटिक में भी भिन्न २ व्यक्ति उत्पन्न होने से उक्त हेतु ठीक नहीं । अर्थात् जब व्यक्ति क्षणिक हैं, तब स्फटिक में भी और और व्यक्ति उत्पन्न तथा नष्ट होती है, इस से स्फटिक में भी भेद ही सिद्ध होने से इस का दृष्टान्त देना उचित नहीं । अतिसूक्ष्म काल को 'क्षण' कहते और जो पदार्थ क्षण भर ठहरते, वह क्षणिक कहाते हैं । शरीरादि पदार्थों में बढ़ना और घटना नियम से देख पड़ता इस से यह बात सिद्ध होती कि पहिला शरीर नष्ट होकर दूसरा उत्पन्न होता है । जो आहार किया जाता, वह पचकर रसरूप होता, उस से शरीर के रुधिर आदि धातु बनकर नियम से घटते बढ़ते रहते हैं । बढ़ने से व्यक्तियों की उत्पत्ति और घटने से नाश होता है, यही दशा सब व्यक्तियों की समझनी चाहिये ॥१०॥

नियमहेत्वभावाद्यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ॥ ११ ॥

सर्वासु व्यक्तिषु उपचयापचयप्रबन्धः शरीरवदिति नायं नियमः । कस्माद्धेत्वभावात् । नात्र प्रत्यक्षमनुमानं वा प्रतिपादकमस्तीति । तस्माद्यथादर्शनमभ्यनुज्ञा यत्रयत्रोपचयापचयप्रबन्धो दृश्यते तत्रतत्र व्यक्तीनामपरापरोत्पत्तिरुपचयापचयप्रबन्धदर्शनेनाभ्यनुज्ञायते यथा शरीरादिषु । यत्रयत्र न दृश्यते तत्र तत्र प्रत्याख्यायते यथा ग्रावप्रभृतिषु । स्फटिकेऽप्युपचयापचयप्रबन्धो न दृश्यते तस्मादयुक्तं स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तिरिति । यथा चार्कस्य कटुकिम्ना सर्वद्रव्याणां कटुकिमानमापादयेत्तादृगेतदिति । यश्चाशेषनिरोधेनापूर्वोत्पादं निरन्वयं द्रव्यसन्ताने क्षणिकतां मन्यते तस्यैतत् ।

भा०:-नियम हेतु के अभाव से जैसा देख पड़े वैसा मानना चाहिये। अर्थात् शरीर की भांति सब व्यक्तियों में बढ़ना और घटना नियम से होता। यह बात न तो प्रत्यक्ष से सिद्ध होती और न कोई इस की साधक युक्ति ही है, इसलिये जहां जैसा देख पड़े वहां वैसा मानना उचित है। शरीर में बढ़ना, घटना, नियम से देख पड़ता इस लिये शरीर को 'क्षणिक' मानेंगे और पत्थर को क्षणिक नहीं मान सकते यह नहीं होसकता कि 'नीव कड़ुआ है' इस लिये सब वृक्ष कड़ुवे मान लिये जांय ॥११॥

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ १२ ॥

उत्पत्तिकारणं तावदुपलभ्यते अवयवोपचयो वल्मीकादीनां विनाशकारणं चोपलभ्यते घटादीनामवयवविभागः। यस्य त्वनपचितावयवं निरुध्यते अनुपचितावयवं चोत्पद्यते तस्याशेषनिरोधे निरन्वये वा पूर्वोत्पादे न कारणमुभयत्राप्युपलभ्यत इति।

भा०:-उक्त सिद्धान्त को ही पुष्ट करते हैं, जिन पदार्थों के उत्पत्ति और विनाश के कारण देख पड़ें उन को क्षणिक कहना योग्य है और जिनके उत्पत्ति विनाश के कारण जानने में नहीं आते. उनको 'क्षणिक' मानना अनुचित है ॥१२॥

क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिवच्चतदुत्पत्तिः ॥१३॥

यथानुपलभ्यमानं क्षीरविनाशकारणं दध्युत्पत्तिकारणं चाभ्यनुज्ञायते तथा स्फटिके परापरासु व्यक्तिषु विनाशकारणमुत्पत्तिकारणं चाभ्यनुज्ञेयमिति।

भा०:-जैसे दूध के नाश का कारण और दही की उत्पत्ति का कारण जान नहीं पड़ते, तो भी माने जाते हैं। ऐसे ही स्फटिक में भी उत्पत्ति और विनाश के कारण मान लेने चाहिये। इस का खण्डन ॥ १३ ॥

लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः ॥ १४ ॥

क्षीरविनाशलिङ्गं क्षीरविनाशकारणं दध्युत्पत्तिलिङ्गं दध्युत्पत्तिकारणं च गृह्यते ऽतो नानुपलब्धिः विपर्ययस्तु स्फटिकादिषु द्रव्येषु अपरापरोत्पत्तीनां न लिङ्गमस्तीत्यनुत्पत्तिरेवेति अत्र कश्चित्परीहारमाह ॥

भा०:—चिन्ह से ज्ञान होता है, इस लिये अनुपलब्धि नहीं। अर्थात् दूध का नाश और दही की उत्पत्ति प्रत्यक्ष देख पड़ती, तब उससे उस के कारण का अनुमान होता है, क्योंकि कार्य से कारण का अनुमान होना युक्ति सिद्ध है। स्फटिकादि द्रव्यों में उत्पत्ति विनाश प्रत्यक्ष से सिद्ध नहीं इस लिये उन के कारणों का अनुमान नहीं हो सक्ता ॥ १४ ॥

न पयसः परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात् ॥ १५ ॥

पयसः परिणामो न विनाश इत्येक आह । परिणामश्चावस्थितस्य द्रव्यस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिरिति । गुणान्तरप्रादुर्भाव इत्यपर आह । सतो द्रव्यस्य पूर्वगुणनिवृत्तौ गुणान्तरमुत्पद्यत इति । स खल्वेकपक्षीभाव इव । अत्र तु प्रतिषेधः ।

भा०:-(बौद्ध के मत पर सांख्य का सिद्धान्त ले कर शंका करते हैं) कि दूध के परिणाम अन्य गुणों के प्रादुर्भाव होने से तुम्हारा कहना ठीक नहीं । अर्थात् द्रव्य में भिन्न २ गुण प्रगट होते और छिप जाते हैं द्रव्य सत् है उस के उत्पत्ति विनाश कभी नहीं होते इसलिये कोई पदार्थ क्षणिक नहीं है ॥१५॥

व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम्॥१६॥

संमूर्छनलक्षणादवयवव्यूहाद् द्रव्यान्तरे दध्न्युत्पन्ने गृह्यमाणे पूर्वं पयो द्रव्यमवयवविभागेभ्यो निवृत्तमित्यनुमीयते यथा मृदवयवानां व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरे स्थाल्यामुत्पन्नायां पूर्वं मृत्पिण्डद्रव्यं मृदवयवविभागेभ्यो निवर्त्तत इति। मृद्वच्चावयवान्वयः पयोदध्नोर्नाशेषनिरोधे निरन्वयो द्रव्यान्तरोत्पादो घटत इति। अभ्यनुज्ञाय च निष्कारणं क्षीरविनाशं दध्युत्पादं च प्रतिषेध उच्यत इति॥

भा०:-रचनान्तर से दूसरे द्रव्य की उत्पत्ति देखने से, पहिले द्रव्य की निवृत्ति का अनुमान होता है । अर्थात् अवयवों की विशेष रचना से द्रव्यान्तर दही के उत्पन्न होने पर, पहिला द्रव्य दूध अवयवों के विभाग होने से नष्ट हो गया ऐसा अनुमान किया जाता है, जैसे मट्टी के अवयवों में विशेष रचना से दूसरा पदार्थ घट उत्पन्न होता और मट्टी का पिण्ड, अवयवों के विभाग नष्ट होने से नष्ट हो जाता है । सिद्धान्त यह कि पहिले द्रव्य का नाश और अन्य द्रव्य की उत्पत्ति होती है ॥ १६ ॥

क्वचिद्विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ॥१७॥

क्षीरदधिवन्निष्कारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकव्यक्तीनामिति नायमेकान्त इति । कस्माद् हेत्वभावाद् नात्र हेतुरस्ति। अकारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकादिव्यक्तीनां क्षीरदधिवद् न पुनर्यथा विनाशकारणभावात् कुम्भस्य विनाश उत्पत्तिकारणभावाच्चोत्पत्तिरेवं स्फटिकादिव्यक्तीनां विनाशोत्पत्तिकारणभावाद्विनाशोत्पत्तिभाव इति ॥

* निरधिष्ठानं च दृष्टान्तवचनम् ।

गृह्यमाणयोर्विनाशोत्पादयोः स्फटिकादिषु स्यादयमाश्रयवान् दृष्टान्तः क्षीरविनाशकारणानुपलब्धिवद्दध्युत्पत्तिवच्चेति तौ तु न गृह्येते तस्मान्निरधिष्ठानोऽयं दृष्टान्त इति ।

* अभ्यनुज्ञाय च स्फटिकस्योत्पादविनाशौ योत्र साधकस्तस्याभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ।

कुम्भवन्न निष्कारणौ विनाशोत्पादौ स्फटिकादीनामित्यभ्यनुज्ञेयोयं दृष्टान्तः प्रतिषेद्धुमशक्यत्वात् । क्षीरदधिवत्तु निष्कारणौ विनाशोत्पादाविति शक्योयं प्रतिषेद्धुं कारणतो विनाशोत्पत्तिदर्शनात् । क्षीरदध्नोर्विनाशोत्पत्ती पश्यता तत्कारणमनुमेयं कार्यलिङ्गं हि कारणमित्युपपन्नमनित्या बुद्धिरिति ।

इदं तु चिन्त्यते कस्येयं बुद्धिरात्मेन्द्रियमनोर्थानां गुण इति । प्रसिद्धोपि खल्वयमर्थः परीक्षाशेषं प्रवर्त्तयामीति प्रक्रियते । सोयं बुद्धौ सन्निकर्षोत्पत्तेः संशयः विशेषस्याग्रहणादिति । तत्रायं विशेषः ।

भा०:-कहीं विनाश के कारण के नहीं प्रत्यक्ष होने एवं कहीं प्रत्यक्ष होने से अनेकान्त (नियत नहीं) होता है। स्फटिकादि पदार्थों में उत्पत्ति विनाश दूध, दही के उत्पत्ति विनाश के समान विन कारण हैं। यह बात हेतु के न होने से नियत नहीं है। दूध का नाश और दही की उत्पत्ति, प्रत्यक्ष दीख पड़ती और स्फटिक आदि के नाश तथा उत्पत्ति देखने में नहीं आते। दूध के नाश का और दही की उत्पत्ति का कारण अनुमान प्रमाण से जाना जायगा, क्यों कि कार्य से कारण का अनुमान होता है। इस प्रकार उत्पत्ति विनाश वाली होने से बुद्धि अनित्य है, यह सिद्ध हो गया। अब आगे इस बात का विचार होगा कि बुद्धि किस का गुण है ॥ १७ ॥

नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेपि ज्ञानाऽवस्थानात् ॥१८॥

नेन्द्रियाणामर्थानां वा गुणो ज्ञानं तेषां विनाशे ज्ञानस्य भावात् । भवति खल्विदमिन्द्रियेर्थे च विनष्टे ज्ञानमद्राक्षमिति । न च ज्ञातरि विनष्टे ज्ञानं भवितुमर्हति । अन्यत् खलु वै तदिन्द्रियार्थसन्निकर्षजं ज्ञानं यदिन्द्रियार्थविनाशे न भवति। इदमन्यदात्ममनःसन्निकर्षजं तस्य युक्तो भाव इति । स्मृतिः खल्वियमद्राक्षमिति पूर्वदृष्टविषया न च विज्ञातरि नष्टे पूर्वोपलब्धेः स्मरणं युक्तं न चान्यदृष्टमन्यः स्मरति । न च मनसि ज्ञातर्यभ्युपगम्यमाने शक्यमिन्द्रियार्थयोर्ज्ञातृत्वं प्रतिपादयितुम् । अस्तु तर्हि मनोगुणो ज्ञानम् ।

भा०:-इन्द्रिय और विषय के नष्ट होने पर भी ज्ञान बना रहता है इस

लिये ज्ञान इन्द्रिय और विषय का गुण नहीं हो सकता, क्योंकि चक्षु इन्द्रिय उस का दृष्ट विषय, ये दोनों ही जब नहीं रहते, तब भी मैंने देखा, ऐसा ज्ञान होता है। जो इन्द्रिय और विषय का गुण होता तो उन के अभाव में ज्ञान भी न होना चाहिये। अच्छा तो ज्ञान मन ही का गुण क्यों नहीं? ॥१८॥

युगपज् ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ॥१९॥

युगपज् ज्ञेयानुपलब्धिरन्तःकरणस्य लिङ्गं तत्र युगपज् ज्ञेयानुपलब्ध्या यदनुमीयते अन्तःकरणं न तस्य गुणो ज्ञानम्। कस्य तर्हि ज्ञस्य वशित्वात्। वशी ज्ञाता वश्यं करणं ज्ञानगुणत्वे वा करणभावनिवृत्तिः। घ्राणादिसाधनस्य च ज्ञातुर्गन्धादिज्ञानभावादनुमीयते। अन्तःकरणसाधनस्य सुखादिज्ञानं स्मृतिश्चेति तत्र यज् ज्ञानगुणं मनः स आत्मा यत्तु सुखाद्युपलब्धिसाधनमन्तःकरणं मनस्तदिति संज्ञाभेदमात्रं नार्थभेद इति। युगपज् ज्ञेयानुपलब्धेश्च योगिन इति वा चार्थः। योगी खलु ऋद्धौ प्रादुर्भूतायां विकरणधर्मा निर्माय सेन्द्रियाणि शरीरान्तराणि तेषु तेषु युगपज् ज्ञेयान्युपलभते तच्चैतद्विभौ ज्ञातर्युपपद्यते नाणौ मनसीति। विभुत्वे वा मनसो ज्ञानस्य नात्मगुणत्वप्रतिषेधः। विभु च मनस्तदन्तःकरणभूतमिति तस्य सर्वेन्द्रियैर्युगपत् संयोगाद्युगपज् ज्ञानान्युत्पद्येरन्निति।

भा०:-एक समय में अनेक ज्ञान उत्पन्न न होने से ज्ञान मन का भी गुण नहीं हो सकता। तो फिर किस का गुण है? स्वतन्त्र आत्मा का। आत्मा स्वाधीन है, और करण उस के अधीन है. घ्राण इन्द्रियादि साधनों से गन्धादि विषयों का ज्ञान आत्मा को होता है इस से अनुमान होता कि अन्तःकरण रूप साधन से सुखादिकों का अनुभव और स्मरण आत्मा को होते हैं। जिस का ज्ञान गुण है वह आत्मा और जो सुखादि ज्ञान का साधन अन्तःकरण है उसी को मन कहते। नाम मात्र का भेद है. अर्थ में भेद नहीं, जो मन को व्यापक मानो, तो उस का सब इन्द्रियों के साथ संयोग होने से एक काल में अनेक ज्ञान हो जायंगे। या सूत्र में चकार से यह भाव सूचित होता है कि अयोगियों को एक साथ अनेक पदार्थों का ज्ञान न होने से ज्ञान मन का गुण नहीं। क्योंकि योगियों को ऋद्धि उत्पन्न होने से एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न होते हैं। अर्थात् योगिगण करण विशेष की अपेक्षा रहित इन्द्रिय सहित अन्य शरीरों को उत्पन्न करके उन शरीरों में एक ही साथ अनेक ज्ञेय पदार्थों को प्रत्यक्ष करते हैं। परन्तु ऐसा ज्ञान केवल वि-

ज्ञाता में सम्भव है। अणुरूप मन में नहीं हो सकता। जो मन भी विभुरूप माना जावे तो मन का सब इन्द्रियों के साथ एक काल में संयोग होने से एक ही साथ सब इन्द्रियों के विषयों को अनेक पदार्थों का ज्ञान होना चाहिये॥१९॥

तदात्मगुणत्वेपि तुल्यम् ॥ २० ॥

विभुरात्मा सर्वेन्द्रियैः संयुक्त इति युगपज् ज्ञानोत्पत्तिप्रसङ्ग इति।

भा०:—ज्ञान को आत्मा का गुण मानें, तो भी दोष तुल्य है। क्योंकि आत्मा को व्यापक होने से सब इन्द्रियों के साथ संयोग है तो एक काल में अनेक ज्ञान क्यों नहीं होते हैं? ॥ २० ॥

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात्तदनुत्पत्तिः ॥ २१ ॥

गन्धाद्युपलब्धेरिन्द्रियार्थसन्निकर्षवदिन्द्रियमनःसन्निकर्षोपि कारणं तस्य चायौगपद्यमणुत्वान्मनसः। अयौगपद्यादनुत्पत्तिर्युगपज् ज्ञानानामात्मगुणत्वेऽपीति। यदि पुनरात्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षमात्राद् गन्धादिज्ञानमुत्पद्यते।

भा०:—इन्द्रिय मन का संयोग न होने से, एक काल में अनेक ज्ञान नहीं होते। अर्थात् जैसे गन्ध आदि विषयों के ज्ञान में, इन्द्रिय और विषय के संयोग की अपेक्षा है, वैसे ही इन्द्रिय और मन का योग भी विषय के ज्ञान में हेतु है। मन सूक्ष्म है इसलिये एक साथ संयोग न होने से एक संग अनेक ज्ञानों का होना असम्भव है ॥ २१ ॥

नोत्पत्तिकारणानपदेशात् ॥ २२ ॥

आत्मेन्द्रियसन्निकर्षमात्राद् गन्धादिज्ञानमुत्पद्यते इति नात्रोत्पत्तिकारणमपदिश्यते येनैतत्प्रतिपद्येमहीति ॥

भा०:—उत्पत्ति का कारण नहीं कहा गया इसलिये बुद्धि आत्मा का गुण नहीं हो सकती। और बुद्धि को आत्मा का गुण मानने में दोष भी होगा॥२२॥

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्वप्रसङ्गः ॥२३॥

तदात्मगुणत्वेपि तुल्यमित्येतदनेन समुच्चीयते। द्विविधो हि गुणनाशहेतुः गुणानामाश्रयाभावो विरोधी च गुणः। नित्यत्वादात्मनोऽनुपपन्नः पूर्वः विरोधी च बुद्धेर्गुणो न गृह्यते तस्मादात्मगुणत्वे सति बुद्धेर्नित्यत्वप्रसङ्गः।

भा०:—विनाश के कारण की अनुपलब्धि से बुद्धि की सर्वदा स्थिति रहेगी। और फिर बुद्धि का नित्यत्व मानने पड़ेगा, क्योंकि गुण के नाश का कारण दो प्रकार का देखने में आता है। एक तो उस के आश्रय का अभाव और दूसरा विरोधी गुण। आत्मा नित्य है इसलिये उस का नाश न होने से बुद्धि

के आश्रय का अभाव नहीं कह सकते। रहा विरोधी गुण सो बुद्धि का विरोधी दूसरा गुण कोई देखने में नहीं आता इसलिये बुद्धि को जो आत्मा का गुण मानोगे, तो उस को नित्य मानना पड़ेगा ॥ २३ ॥

अनित्यत्वग्रहाद्बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद्विनाशः शब्दवत् ॥ २४ ॥

अनित्या बुद्धिरिति सर्वशरीरिणां प्रत्यात्मवेदनीयमेतत्। गृह्यते च बुद्धिसन्तानस्तत्र बुद्धेर्बुद्ध्यन्तरं विरोधी गुण इत्यनुमीयते यथा शब्दसन्ताने शब्दः शब्दान्तरविरोधीति। असंख्येयेषु ज्ञानकारितेषु संस्कारेषु स्मृतिहेतुष्वात्मसमवेतेष्वात्ममनसोश्च सन्निकर्षे समाने स्मृतिहेतौ सति न कारणस्यायौगपद्यमस्तीति युगपत्स्मृतयः प्रादुर्भवेयुः यदि बुद्धिरात्मगुणः स्यादिति। तत्र कश्चित्सन्निकर्षस्यायौगपद्यमुपपादयिष्यन्नाह।

भा०:-'बुद्धि अनित्य है, इस बात का प्रत्येक को अनुभव है। अर्थात् ज्ञान उत्पन्न और नष्ट होते हैं, तब उस के विनाश का कारण दूसरा ज्ञान ही है जैसे शब्द की परम्परा में पहिले शब्द का, दूसरा शब्द नाशक होता है ॥२४॥

बुद्धि को आत्मा का गुण मानने से, एक काल में अनेक स्मरण हो जाने का दोष आता है, क्योंकि स्मरण के साधन ज्ञानकृत अनेक संस्कार आत्मा में विद्यमान हैं। दूसरा स्मृति का कारण आत्मा और मन का संयोग है सो भी वर्तमान है तब कारणों का एक काल में न होना, यह तो कह सके हो नहीं, तो फिर एक साथ अनेक स्मरणों को कौन रोक सकेगा ? इस पर आत्मा और मन के संयोग को एक काल में न होने का उपपादन करने वाला कोई कहता है।

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ॥ २५ ॥

ज्ञानसाधनः संस्कारो ज्ञानमुच्यते ज्ञानसंस्कृतैरात्मप्रदेशैः पर्यायेण मनः संनिकृष्यते। आत्ममनःसन्निकर्षात्स्मृतयोऽपि पर्यायेण भवन्तीति।

भा०:-ज्ञान के साधन संस्कार को भी ज्ञान कहते। ज्ञान समवेत आत्मा के प्रदेशों के साथ मन का संयोग बारी २ से होता है इसलिये आत्मा और मन के सम्बन्ध से स्मरण भी क्रम ही से हुआ करते हैं ॥ २५ ॥

अर्थात् आत्मा तो व्यापक है और मन सूक्ष्म है तो जिस स्थान में संस्कार युक्त आत्मा है, वहां मन के संयोग होने से स्मरण होता है।

और जिस स्मृति का हेतु संस्कार युक्त आत्मप्रदेश होगा उस प्रदेश में मन के संयोग होनेसे वही स्मरण होगा अतः एकसाथ अनेक स्मरण उत्पन्न नहीं होते हैं।

नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥ २६ ॥

सदेहस्यात्मनो मनसा संयोगो विपच्यमानकर्माशयसहितो जीवनमिष्यते तत्रास्य प्राक् प्रायणादन्तःशरीरे वर्त्तमानस्य मनसः शरीराद्बहिर्ज्ञानसंस्कृतैरात्मप्रदेशैः संयोगो नोपपद्यतइति ।

भा०:—मन की क्रिया शरीर के भीतर होती इस लिये उक्त बात ठीक नहीं है। शरीर के भीतर विद्यमान मनका शरीर के बाहर वर्त्तमान ज्ञान-संस्कृत आत्मप्रदेशों के साथ संयोग हो नहीं सकता ॥ २६ ॥

साध्यत्वादहेतुः ॥ २७ ॥

विपच्यमानकर्माशयमात्रं जीवनमेवं च सति साध्यमन्तःशरीरवृत्तित्वं मनस इति ।

भा०:—जब तक मनका देह के भीतर रहना सिद्ध न हो जाय, तब तक वह हेतु कैसे हो सकता है ?॥२७॥

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥२८॥

सुस्मूर्षया खल्वयं मनः प्रणिदधानः चिरादपि कं चिदर्थं स्मरति स्मरतश्च शरीरधारणं दृश्यते आत्ममनःसन्निकर्षजश्च प्रयत्नो द्विविधो धारकः प्रेरकश्च निःसृते च शरीराद्बहिर्मनसि धारकस्य प्रयत्नस्याभावाद् गुरुत्वात्पतनं स्यात् शरीरस्य स्मरत इति ।

भा०:—स्मरण करने वाले का शरीर धारण सिद्ध है इस लिये प्रतिषेध नहीं हो सकता अर्थात् यह आत्मा स्मरण की इच्छा से मन को एकाग्र कर विलंब से भी किसी विषय का स्मरण करता है उस समय उसका शरीर ठहरा हुआ देख पड़ता है आत्मा और मन के संयोग से उत्पन्न प्रयत्न दो प्रकार का है एक 'धारक' और दूसरा 'प्रेरक'। जब मन शरीर के बाहिर निकला, तब धारक प्रयत्न के न होने से गुरुता के कारण स्मरण करने वाले का शरीर पड़ जाना चाहिये ॥ २८ ॥

न तदाशुगतित्वान्मनसः ॥२९॥

आशुगति मनस्तस्य बहिः शरीरादात्मप्रदेशेन ज्ञानसंस्कृतेन सन्निकर्षः प्रत्यागतस्य च प्रयत्नोत्पादनमुभयं युज्यतइति। उत्पाद्य वा धारकं प्रयत्नं शरीरान्निःसरणं मनसोऽतस्तत्रोपपन्नं धारणमिति ।

भा०:—मन की शीघ्र गति होने से उक्त दोष नहीं आ सकता। मन शीघ्र गति के कारण बाहिर ज्ञान संस्कृत आत्मा के प्रदेश में मिल कर फिर झट लौटकर धारक प्रयत्न को उत्पन्न कर देगा या धारक प्रयत्न को उत्पन्न कर, शरीर से निकलेगा इससे शरीर धारण की उपपत्ति होजायगी ॥ २९ ॥

न स्मरणकालानियमात् ॥३०॥

किं चित्क्षिप्रं स्मर्यते किं चिच्चिरेण यदा चिरेण तदा सुस्मूर्षया मनसि धार्यमाणे चिन्ताप्रबन्धे सति कस्य चिदर्थस्य लिङ्गभूतस्य चिन्तनमाराधितं स्मृतिहेतुर्भवति । तच्चैतच्चिरनिश्चरिते मनसि नोपपद्यतइति । शरीरसंयोगानपेक्षश्चात्ममनःसंयोगो न स्मृतिहेतुः शरीरस्य भोगायतनत्वाद् उपभोगायतनं पुरुषस्य ज्ञातुः शरीरं न ततो निश्चरितस्य मनस आत्मसंयोगमात्रं ज्ञानसुखादीनामुत्पत्तौ कल्पते क्लृप्तौ वा शरीरवैयर्थ्यमिति ।

भा०:—स्मरण काल के नियत न होने से तुम्हारा कहना उचित नहीं। कभी शीघ्र स्मरण होता और कभी विलंब से। जब विलंब से किसी वस्तु का स्मरण होता, तब स्मरण की इच्छा से मन का एक विषय में चिन्तन लगातार किया जाता, जो कि विषय किसी वस्तु के स्मरण में कारण है। और यह बात मन के चिरकाल तक बाहर रहने से नहीं बन सकती क्योंकि भोग का स्थान शरीर है इस लिये शरीर के संयोग की अपेक्षा न रखकर आत्मा और मन का संयोग स्मृति का कारण नहीं हो सकता ॥ ३० ॥

आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः ॥३१॥

आत्मप्रेरणेन वा मनसो बहिः शरीरात् संयोगविशेषः स्याद् यदृच्छया वाऽऽकस्मिकतया ज्ञतया वा मनसः सर्वथा चानुपपत्तिः । कथं स्मर्तव्यत्वादिच्छातः स्मरणज्ञानासम्भवाच्च । यदि तावदात्मा अमुष्यार्थस्य स्मृतिहेतुः संस्कारः अमुष्मिन्नात्मप्रदेशे समवेतस्तेन मनः संयुज्यतामिति मनः प्रेरयति तदा स्मृत एवासावर्थो भवति न स्मर्तव्यः । न चात्मप्रत्यक्ष आत्मप्रदेशः संस्कारो वा तत्रानुपपन्नात्मप्रत्यक्षेण संवित्तिरिति । सुस्मूर्षया चायं मनः प्रणिदधानश्चिरादपि कं चिदर्थं स्मरति नाकस्मात् । ज्ञत्वं च मनसो नास्ति ज्ञानप्रतिषेधादिति एतच्च ।

भा०:—आत्मा की प्रेरणा से या दैव संयोग से या ज्ञानिता से संयोग विशेष नहीं हो सकता। क्योंकि जो आत्मा अमुक विषय के स्मरण कारण संस्कार अमुक प्रदेश में है, उस के साथ मनका संयोग हो, इस इच्छा से मन

को प्रेरणा करे, तो वह अर्थ स्मृत होगया। स्मरण के योग्य न रहा यह आत्मा स्मृति की इच्छा से मन को एकाग्र कर विलंब से भी किसी विषय का स्मरण करता है अकस्मात् नहीं॥ ३१॥

व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानम्॥३२॥

यदा खल्वयं व्यासक्तमनाः क्वचिद् देशे शर्करया कण्टकेन वा पादव्यथनमाप्नोति तदात्ममनःसंयोगविशेष एषितव्यः। दृष्टं हि दुःखं दुःखवेदनं चेति तत्रायं समानः प्रतिषेधः। यदृच्छया तु विशेषो नाकस्मिकी क्रिया नाकस्मिकः संयोग इति।

*कर्मादृष्टमुपभोगार्थं क्रियाहेतुरिति चेत्समानम्॥

कर्मादृष्टं पुरुषस्थं पुरुषोपभोगार्थं मनसि क्रियाहेतुरेवं दुःखं दुःखसंवेदनं च सिध्यति चेत्येवं चेन्मन्यसे समानं स्मृतिहेतावपि संयोगविशेषो भवितुमर्हति। तत्र यदुक्तमात्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेष इत्ययमप्रतिषेध इति। पूर्वस्तु प्रतिषेधो नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनस इति। कः खल्विदानीं कारणयौगपद्यसद्भावे युगपदस्मरणस्य हेतुरिति।

भा०:—जब कभी मनुष्यका मन किसी विषय में लगरहा है उसी समय अकस्मात् पैर में कङ्कड़ी या कांटा चुभ गया तो पैर में पीड़ा होती है, तब आत्मा और मन का संयोग विशेष मानना पड़ेगा. क्योंकि दुःख का ज्ञान होता है। वहां यह निषेध समान है, जो भोग के लिये प्रारब्ध कर्मको मन में क्रिया का हेतु मानोगे, तो स्मरण में भी संयोग विशेष होना चाहिये। अच्छा तो फिर उस शंका का क्या समाधान है जो कई एक कारण एक साथ रहते अनेक स्मृति क्यों नहीं होती हैं ?॥ ३२॥

प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद्भावादयुगपत्स्मरणम्॥३३॥

यथा खल्वात्ममनसोः सन्निकर्षः संस्कारश्च स्मृतिहेतुरेवं प्रणिधानं लिङ्गादिज्ञानानि तानि च न युगपद्भवन्ति तत्कृता स्मृतीनां युगपदनुत्पत्तिरिति।

भा०:—जैसे आत्मा और मन का संयोग तथा संस्कार स्मृति के कारण हैं, वैसे ही चित्त की एकाग्रता और लिङ्ग आदि के ज्ञान भी कारण हैं और वह सब एक साथ नहीं होते इस लिये एक काल में अनेक स्मृति उत्पन्न नहीं होती हैं॥ ३३॥

प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्त्ते यौगपद्यप्रसङ्गः॥३४॥

यत्खल्विदं प्रातिभमिव ज्ञानं प्रणिधानाद्यनपेक्षं स्मार्त्तमुत्पद्यते कदा

चिन्तस्य युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गो हेत्वभावात् अतः स्मृतिहेतोरसंवेदनात् प्रातिभेन समानाभिमानः। बह्वर्थविषये वै चिन्ताप्रबन्धे कश्चिदेवार्थः कस्य चित्स्मृतिहेतुः तस्यानुचिन्तनात् तस्य स्मृतिर्भवति न चायं स्मर्ता सर्वं स्मृतिहेतुं संवेदयते एवं मे स्मृतिरुत्पन्नेत्यसंवेदनात्प्रातिभमिव ज्ञानमिदं स्मार्त्तं (मित्यभिमन्यते न त्वस्ति प्रणिधानाद्यपेक्षं स्मार्त्तमिति।

*** प्रातिभे कथमिति चेत् पुरुषकर्मविशेषा)दुपभोगवन्नियमः।**

प्रातिभमिदानीं ज्ञानं युगपत् कस्मान्नोत्पद्यते यथोपभोगार्थं कर्म युगपदुपभोगं न करोति एवं पुरुषकर्मविशेषः प्रतिभाहेतुर्न युगपदनेकं प्रातिभं ज्ञानमुत्पादयति।

*** हेत्वभावादयुक्तमिति चेद् न करणस्य प्रत्ययपर्याये सामर्थ्याद् ॥**

उपभोगवन्नियम इत्यस्ति दृष्टान्तो हेतुर्नास्तीति चेन्मन्यसे न करणप्रत्ययपर्याये सामर्थ्याद् नैकस्मिन् ज्ञेये युगपदनेकं ज्ञानमुत्पद्यते। न चानेकस्मिंस्तदिदं दृष्टेन प्रत्ययपर्यायेणानुमेयं करणसामर्थ्यमित्थंभूतमिति न ज्ञातुर्विकरणधर्मणो देहनानात्वे प्रत्ययौगपद्यादिति। अयं च द्वितीयः प्रतिषेधः व्यवस्थितशरीरस्य चानेकज्ञानसमवायादेकप्रदेशे युगपदनेकार्थस्मरणं स्यात् क्वचिदेवावस्थितशरीरस्य ज्ञातुरिन्द्रियार्थप्रबन्धेन न ज्ञानमनेकस्मिन्नात्मप्रदेशे समवैति। तेन यदा मनः संयुज्यते तदा ज्ञातपूर्वस्यानेकस्य युगपत् स्मरणं प्रसज्यते। प्रदेशसंयोगपर्यायाभावादिति। आत्मप्रदेशानामद्रव्यान्तरत्वादेकार्थसमवायस्याविशेषे स्मृतियौगपद्यप्रतिषेधानुपपत्तिः। शब्दसन्ताने तु श्रोत्राधिष्ठानप्रत्यासत्त्या शब्दश्रवणवत्संस्कारप्रत्यासत्त्या मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिप्रसङ्गः। पूर्व एव तु प्रतिषेधो नानेकज्ञानसमवायादेकप्रदेशे युगपत् स्मृतिप्रसङ्ग इति। पुरुषधर्मो ज्ञानमन्तःकरणस्येच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखानि धर्मा इति कस्य चिद्दर्शनं तत्प्रतिषिध्यते।

भा०:—मन की एकाग्रता आदि की अपेक्षा न करके प्रातिभ ज्ञान की नाईं स्मरण होता; ऐसा मानने से उसकी हेतु के अभाव से युगपत् उत्पत्ति होजायगी। स्मृति हेतु के विद्यमान रहते भी ज्ञान न होने से 'प्रातिभ' के समान मान लिया अनेक विषयों में लगातार सोचने से कोई एक अर्थ किसी के स्मरण का हेतु होता है। जिसके विचार से उसकी स्मृति होती, पर स्मरण कर्त्ता की स्मृति के सब कारणों का ज्ञान नहीं रहता, क्योंकि इस

प्रकार मुझको स्मरण हुआ, ' यह ज्ञान नहीं होता। यह स्मरण ' प्रातिभ ' के तुल्य कहाता है। बुद्धि की फुरती से जो ज्ञान अतिशीघ्र होता, उसे ' प्रातिभज्ञान ' कहते। बुद्धि की फुरती को ' प्रतिभा ' कहते उससे जो उत्पन्न हो उसका नाम प्रातिभ है ॥ ३४ ॥

अब जो लोग ज्ञान पुरुष का धर्म है और इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, और दुःख यह अन्तःकरण के धर्म हैं ऐसा मानते उनका खण्डन करते हैं।

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्त्योः ॥३५॥

अयं खलु जानीते तावदिदं सुखसाधनमिदं मे दुःखसाधनमिति ज्ञातं स्वस्य सुखसाधनमाप्तुमिच्छति दुःखसाधनं हातुमिच्छति प्राप्तुमिच्छाप्रयुक्तस्यास्य सुखसाधनावाप्तये समीहाविशेष आरम्भो जिहासाप्रयुक्तस्य दुःखसाधनपरिवर्जनं निवृत्तिरेवं ज्ञानेच्छाप्रयत्नद्वेषसुखदुःखानामेकेनाभिसंबन्धः। एककर्तृत्वं ज्ञानेच्छाप्रवृत्तीनां समानाश्रयत्वं च तस्मात् ज्ञस्येच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखानि धर्मा नाचेतनस्येति आरम्भनिवृत्त्योश्च प्रत्यगात्मनि दृष्टत्वात् परत्रानुमानं वेदितव्यमिति। अत्र भूतचैतनिक आह।

भा०:—ज्ञाता के आरम्भ और निवृत्ति के कारण इच्छा और द्वेष हैं, इस लिये इच्छा, द्वेष, आदि आत्मा के धर्म हैं। अर्थात् पहिले आत्मा इस बात को जानता है कि ' यह मेरे सुख का साधन ' और 'यह दुःख का कारण है' फिर सुख के साधन के पाने की और दुःख के कारण के छोड़ने की इच्छा करता है। इच्छा से सुख के साधन की प्राप्ति के लिये यत्न करता और छोड़ने की इच्छा से दुःख के कारण से निवृत्त होता है। इस प्रकार ज्ञान इच्छा, यत्न, सुख, और दुःख, इन का एक के साथ सम्बन्ध है। अर्थात् ज्ञानेच्छादि का कर्ता और आश्रय एक ही है इसलिये इच्छा, आदि धर्म चेतन आत्मा ही के हैं अचेतन अन्तःकरण के नहीं इसपर 'भूतचैतन्य वादी' शङ्का करता है ॥३५॥

तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः ॥३६॥

आरम्भनिवृत्तिलिङ्गाविच्छाद्वेषाविति यस्यारम्भनिवृत्ती तस्येच्छाद्वेषौ तस्य ज्ञानमिति प्राप्तं पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानां शरीराणामारम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेषज्ञानैर्योग इति चैतन्यम्।

भा०:—इच्छा, और द्वेष आरम्भ और निवृत्ति के हेतु हैं। तो जिस के आरम्भ और निवृत्ति हों उसी के इच्छा और द्वेष भी होने चाहिये फिर जिस को इच्छा, द्वेष, होंगे उस को ज्ञान भी होना आवश्यक है। 'पार्थिव,'

' जलीय, ' ' तैजस, और ' वायवीय, ' शरीरों की आरम्भ और निवृत्ति देखने में आती हैं इसलिये इच्छा, द्वेष, ज्ञान, सब शरीर ही के धर्म हैं ॥३६॥

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ॥ ३७ ॥

शरीरचैतन्यनिवृत्तिः आरम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेषज्ञानैर्योग इति प्राप्तं परश्वादेः करणस्यारम्भनिवृत्तिदर्शनाच्चैतन्यमिति। अथ शरीरस्येच्छादिभिर्योगः परश्वादेस्तु करणस्यारम्भनिवृत्ती व्यभिचरतः न तर्ह्ययं हेतुः पार्थिवाप्यतैजसवायवीयानां शरीराणामारम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेषज्ञानैर्योग इति । अयं तर्ह्यन्योऽर्थस्तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः पृथिव्यादीनां भूतानामारम्भस्तावत् स स्थावरशरीरेषु तदवयवव्यूहलिङ्गः प्रवृत्तिविशेषः लोष्टादिषु लिङ्गाभावात् प्रवृत्तिविशेषाभावो निवृत्तिः आरम्भनिवृत्तिलिङ्गाविच्छाद्वेषाविति । पार्थिवाद्येष्वणुषु तद्दर्शनादिच्छाद्वेषयोस्तद्योगाज् ज्ञानयोग इति सिद्धं भूतचैतन्यमिति ।

भा०:–यदि आरम्भ और निवृत्ति के देखने से इच्छा, द्वेष, और ज्ञान से सम्बन्ध होने से शरीर को चेतन मानो, तो कुठारी आदि करणों की भी आरम्भ और निवृत्ति देखने में आती हैं उनको भी इच्छा, द्वेष, तथा ज्ञान के सम्बन्ध से चेतनता होनी चाहिये । अर्थात् क्रिया के देखने से यदि शरीर में चेतनता मानोगे, तो अचेतन कुठार आदि पदार्थों में भी चेतनता माननी पड़ेगी इस लिये उक्त हेतु ठीक नहीं ॥ ३७ ॥

कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३८ ॥

कुम्भादिमृदवयवानां व्यूहलिङ्गः प्रवृत्तिविशेष आरम्भः सिकतादिषु प्रवृत्तिविशेषाभावो निवृत्तिः । न च मृत्सिकतानामारम्भनिवृत्तिदर्शनादिच्छाद्वेषप्रयत्नज्ञानैर्योगः तस्मात्तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोरित्यहेतुरिति ।

भा०:–कुंभादिकों में उपलब्धि न होने से, उक्त हेतु ठीक नहीं सारांश यह है कि मृत्तिका के घटादि अवयवों में आरम्भ और रेत आदिकों में निवृत्ति देख पड़ती, पर आरम्भ और निवृत्ति के देखने से मृत्तिका और रेत में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, और ज्ञान का संबंध नहीं हो सक्ता है ॥ ३८ ॥

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ॥ ३९ ॥

तयोरिच्छाद्वेषयोर्नियमानियमौ विशेषकौ भेदकौ ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्ते प्रवृत्तिनिवृत्ती न स्वाश्रये किं तर्हि प्रयोज्याश्रये । तत्र प्रयुज्यमानेषु भूतेषु

प्रवृत्तिनिवृत्ती स्तः न सर्वेष्वित्यनियमोपपत्तिः। यस्य तु ज्ञत्वाद्भूतानामिच्छाद्वेषनिमित्ते आरम्भनिवृत्ती स्वाश्रये तस्य नियमः स्यात्। यथा भूतानां गुणान्तरनिमित्ता प्रवृत्तिर्गुणप्रतिबन्धाच्च निवृत्तिर्भूतमात्रे भवति नियमेनैवं भूतमात्रे ज्ञानेच्छाद्वेषनिमित्ते प्रवृत्तिनिवृत्ती स्वाश्रये स्यातां न तु भवतः तस्मात् प्रयोजकाश्रिता ज्ञानेच्छाद्वेषप्रयत्नाः प्रयोज्याश्रये तु प्रवृत्तिनिवृत्ती इति सिद्धम्। एकशरीरे ज्ञातृबहुत्वं निरनुमानं भूतचैतनिकस्यैकशरीरे बहूनि भूतानि ज्ञानेच्छाद्वेषप्रयत्नगुणानीति ज्ञातृबहुत्वं प्राप्तम्। ओमिति ब्रुवतः प्रमाणं नास्ति यथा नानाशरीरेषु नानाज्ञातारो बुद्ध्यादिगुणव्यवस्थानात्। एवमेकशरीरेऽपि बुद्ध्यादिव्यवस्थानुमानं स्यात् ज्ञातृबहुत्वस्येति।

* दृष्टश्चान्यान्यगुणनिमित्तः प्रवृत्तिविशेषो भूतानां सोऽनुमानमन्यत्रापि॥

दृष्टः करणलक्षणेषु भूतेषु परश्वादिषु उपादानलक्षणेषु च मृत्प्रभृतिष्वन्यगुणनिमित्तः प्रवृत्तिविशेषः सोऽनुमानमन्यत्रापि स्थावरशरीरेषु तदवयवव्यूहलिङ्गः प्रवृत्तिविशेषो भूतानामन्यगुणनिमित्त इति। स च गुणः प्रयत्नसमानाश्रयः संस्कारो धर्माधर्मसमाख्यातः सर्वार्थः पुरुषार्थाराधनाय प्रयोजको भूतानां प्रयत्नवदिति। आत्मास्तित्वहेतुभिरात्मनित्यत्वहेतुभिश्च भूतचैतन्यप्रतिषेधः कृतो वेदितव्यः। नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानावस्थानादिति च समानः प्रतिषेध इति। क्रियामात्रं क्रियोपरममात्रं चारम्भनिवृत्ती इत्यभिप्रेत्योक्तं तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेधः। अन्यथा त्विमे आरम्भनिवृत्ती आख्याते न च तथाविधे पृथिव्यादिषु दृश्येते तस्मादयुक्तं तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्वप्रतिषेध इति भूतेन्द्रियमनसां समानः प्रतिषेधो मनस्तूदाहरणमात्रम्॥

भा०:—इच्छा और द्वेष के भेदक नियम और अनियम हैं आत्मा की इच्छा द्वेष निमित्तक प्रवृत्ति और निवृत्ति स्वाश्रय नहीं किंतु उनका आश्रय शरीर है। प्रेरित भूतों में प्रवृत्ति और निवृत्ति होती, सबों में नहीं, इस प्रकार अनियम की उपपत्ति होती और जिसके ज्ञान से इच्छा, द्वेष, निमित्तक भूतों की आरम्भ निवृत्ति स्वाश्रय हैं। उसका नियम हो जैसे गुणान्तर निमित्तक प्रवृत्ति और गुण के रोक से निवृत्ति, सबभूतों में नियम से होती। ऐसे ही सब भूतों में ज्ञान, इच्छा, और द्वेष निमित्तक प्रवृत्ति निवृत्ति स्वाश्रय हो

जायगी, इससे यह सिद्ध हो गया कि ज्ञान, इच्छा, द्वेष, और प्रयत्न आत्मा के आश्रित हैं। और प्रवृत्ति निवृत्ति प्रयोज्य के आश्रित हैं ॥ ३९ ॥

यथोक्तहेतुत्वात्पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ॥४०॥

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गमित्यतःप्रभृति यथोक्तं संगृह्यते तेन भूतेन्द्रियमनसां चैतन्यप्रतिषेधः पारतन्त्र्यात् । परतन्त्राणि भूतेन्द्रियमनांसि धारणप्रेरणव्यूहनक्रियासु प्रयत्नवशात्प्रवर्त्तन्ते चैतन्ये पुनः स्वतन्त्राणि स्युरिति । अकृताभ्यागमाच्च प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भ इति चैतन्ये भूतेन्द्रियमनसां परकृतं कर्म पुरुषेणोपभुज्यत इति स्यात् अचैतन्ये तु तत्साधनस्य स्वकृतकर्मफलोपभोगः पुरुषस्येत्युपपद्यत इति । अथायं सिद्धोपसंग्रहः ॥

भा०:–उक्त हेतु पारतंत्र्य और अकृताभ्यागम' से चेतनता मन का गुण नहीं। इस सूत्र में मन उपलक्षण है, इन्द्रिय और शरीर का भी चैतन्य गुण नहीं है। इच्छा, द्वेष, यत्न, आदि आत्मा के साधक हैं। यहां से लेकर जो २ आत्मा के सिद्ध कराने वाले हेतु कहे हैं, वे सब समझ लेने चाहिये। भूत, इन्द्रिय, और मन ये सब पराधीन हैं। धारण आदि कामों में यत्न वश प्रवृत्त होते हैं। यदि चेतनता इनका धर्म माना जाय, तो यह स्वतंत्र होजाय, अकृतका अभ्यागम अर्थात् करे कोई और भोगना दूसरे को पड़े। जो भूत इन्द्रिय और मन को चेतन मानें, तो अच्छे, बुरे, कामों के कर्त्ता तो ये सब ठहरे और भोगने वाला आत्मा हो यह अयोग्य है। और जब इन सब को चेतन आत्मा के साधन मानते हैं, तब आत्मा को अपने किये कर्मों का फल भोगना उचित ही है क्योंकि भूत, इन्द्रिय और मन जड़ हैं, पाप पुण्य करने में आत्मा के साधन मात्र हैं ॥ ४० ॥

परिशेषाद्यथोक्तहेतूपपत्तेश्च ॥ ४१ ॥

आत्मगुणो ज्ञानमिति प्रकृतम् । परिशेषो नाम प्रसक्तप्रतिषेधे अन्यत्राप्रसङ्गाच्छिष्यमाणे संप्रत्ययः । भूतेन्द्रियमनसां प्रतिषेधे द्रव्यान्तरं न प्रसज्यते शिष्यते चात्मा तस्य गुणो ज्ञानमिति ज्ञायते । यथोक्तहेतूपपत्तेश्चेति दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणादित्येवमादीनामात्मप्रतिपत्तिहेतूनामप्रतिषेधादिति । परिशेषज्ञापनार्थं प्रकृतस्यापनादिज्ञानार्थं च यथोक्तहेतूपपत्तिवचनमिति । अथ चोपपत्तेश्चेति हेत्वन्तरमेवेदं नित्यः खल्वयमात्मा यस्मादेकस्मिन् शरीरे धर्मं चरित्वा कायभेदात् स्वर्गे देवेषूपपद्यते अधर्मं चरित्वा देहभेदाद् नरकेषूपपद्यते इति । उपपत्तिः शरीरान्तरप्राप्तिलक्षणा सा सति सत्त्वे नित्ये चाश्रयवती ।

बुद्धिप्रबन्धमात्रे तु निरात्मके निराश्रया नोपपद्यतइति । एकसत्त्वाधिष्ठानश्चानेकशरीरयोगः संसार उपपद्यते शरीरप्रबन्धोच्छेदश्चापवर्गो मुक्तिरित्युपपद्यते । बुद्धिसन्ततिमात्रे त्वेकसत्त्वानुपपत्तेर्न कश्चिद्दीर्घमध्वानं संधावति न कश्चिच्छरीरप्रबन्धाद्विमुच्यतइति संसारापवर्गानुपपत्तिरिति । बुद्धिसंततिमात्रे च सत्त्वभेदात्सर्वमिदं प्राणिव्यवहारजातमप्रतिसंहित * मव्यावृत्तमपरिनिष्ठितं च स्यात् । ततः स्मरणाभावान्नान्यदृष्टमन्यः स्मरतीति । स्मरणं च खलु पूर्वज्ञातस्य समानेन ज्ञात्रा ग्रहणमज्ञासिषममुमर्थं ज्ञेयमिति सोयमेको ज्ञाता पूर्वज्ञातमर्थं गृह्णाति तच्चास्य ग्रहणं स्मरणमिति तद् बुद्धिप्रबन्धमात्रे निरात्मके नोपपद्यते॥

भा०ः—परिशेष और उक्त हेतुओं की उपपत्ति से ज्ञान आत्मा का गुण है प्रसक्त में प्रतिषेध होने से और अन्यत्र प्रसंग न होने से शिष्यमाण में ज्ञान होने का नाम परिशेष है, जैसे किसी ने कहा कि 'देवदत्त बाईं आंख से नहीं देख सक्ता' तो इससे यही सिद्ध होगा कि दाहिनी से देख सक्ता है । अब भूत, इन्द्रिय और मन का निषेध हो गया तब दूसरा द्रव्य तो रहा नहीं केवल आत्मा शेष रहा तो ज्ञान गुण आत्मा ही का सिद्ध हुआ । देखने और छूने से एक ही विषय के ज्ञान होने से इत्यादि जो पहिले हेतु कहे गये उनकी उपपत्ति से भी ज्ञानादि गुण आत्मा ही के समझने चाहिये । या उपपत्ति से यह दूसरा ही हेतु सूत्रकार ने अलग कहा है निश्चय यह आत्मा नित्य है, क्योंकि एक शरीर में धर्म कर के, उसको छोड़ स्वर्ग में देव शरीर पाकर सुख भोगता है और अधर्म करके दूसरे देह से नरक भोगता है यह शरीरान्तर प्राप्ति रूप उपपत्ति आत्मा के नित्यत्व से सिद्ध होती है । यदि बिन आत्मा के बुद्धि के प्रबन्ध मात्र से ही काम चल जाता, तो यह बात न बनती और एक जीव को अनेक देह का संयोग रूप संसार तथा शरीर प्रबन्ध का

---

*पूर्वेद्युरर्धकृतानामपरेद्युः परिसमापना दृष्टा समारब्धं मयैव समापनीयमिति प्रतिसंधाय । अप्रतिसंधाने तु न समापयेयुः । परिसमापने वा चैत्रारब्धमचैत्रः समापयेत् । यतः स्वयमारब्धात् परारब्धमव्यावृत्तमविशिष्टं स्वस्यापि परत्वात् । अपरिनिष्ठितं च कर्मजातं स्यात् । तथा हि । वैश्यस्तोमे वैश्य एवाधिकारी न ब्राह्मणराजन्यौ एवं राजसूये राजैव न ब्राह्मणो वैश्यो वा । एवं सोमसाधनके ब्राह्मण एवाधिकृतो न राजन्यवैश्यौ शूद्रश्चानधिकृत एवेति परिनिष्ठा सा बुद्धिसंततिमात्रे न स्यात् । कुतः । सल्लक्षणानां सर्वेषामेव त्रैलोक्यधर्मत्वाविशेषेण भेदात् । अन्यापोहसामान्यस्य च व्यावर्तिनत्वादित्यर्थः । ता० टी०।

उच्छेद अर्थात् फिर देह का संबन्ध न होना, जिसे मुक्ति कहते। यह भी सब सिद्ध हो सकता है, बुद्धि परंपरा मात्र मानने से संसार या मुक्ति आदि व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकते हैं॥ ४१॥

स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात्॥ ४२॥

उपपद्यते इति आत्मन एव स्मरणं न बुद्धिसंतनिमात्रस्येति। तुशब्दोऽवधारणे कथं ज्ञस्वभावत्वात् ज्ञ इत्यस्य स्वभावः स्वो धर्मः अयं खलु ज्ञास्यति जानाति अज्ञासीदिति त्रिकालविषयेणानेकेन ज्ञानेन संबध्यते तच्चास्य त्रिकालविषयं ज्ञानं प्रत्यात्मवेदनीयं ज्ञास्यामि जानामि अज्ञासिषमिति वर्त्तते तद्यस्यायं स्वो धर्मस्तस्य स्मरणं न बुद्धिप्रबन्धमात्रस्य निरात्मकस्येति। स्मृतिहेतूनामयौगपद्यादयुगपद्स्मरणमित्युक्तम्। अथ केभ्यः स्मृतिरुत्पद्यतइति स्मृतिः खलु।

भा०:—ज्ञाता में स्वाभाविकपन से स्मरण आत्मा ही का गुण है बुद्धि संतान का नहीं। 'यह आत्मा जानेगा,' 'जानता है' और 'इसने जाना,' इस प्रकार त्रिकालविषयक अनेक ज्ञानों से युक्त होता और यह त्रिकाल विषयक ज्ञान प्रत्येक के अनुभव से सिद्ध है। स्मृति के कारण एक समय नहीं रहते इसलिये एक काल में अनेक स्मरण नहीं होते, यह पहिले कह चुके हैं। अब जिन २ कारणों से स्मरण होता उन्हें लिखते हैं॥ ४२॥

प्रणिधाननिबन्धाभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्यपरिग्रहाश्रयाश्रितसंबन्धानन्तर्यवियोगैककार्यविरोधातिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छाद्वेषभयार्थित्वक्रियाराग धर्माधर्मनिमित्तेभ्यः॥ ४३॥

सुस्मूर्षया मनसो धारणं प्रणिधानं सुस्मूर्षितलिङ्गचिन्तनं चार्थस्मृतिकारणम्। निबन्धः खल्वेकग्रन्थोपयमोऽर्थानाम् एकग्रन्थोपयताः खल्वर्था अन्योन्यस्मृतिहेतव आनुपूर्व्येणेतरथा वा भवन्तीति धारणाशास्त्रकृतो वा प्रज्ञातेषु वस्तुषु स्मर्त्तव्यानामुपनिःक्षेपो निबन्ध * इति। अभ्यासस्तु

* धारणाशास्त्रं जैगीषव्यादि प्रोक्तं तत्कृतो ज्ञातेषु वस्तुषु नाडीचक्रहृत्पुण्डरीककण्ठकूपनासाग्रतालुललाटब्रह्मरन्ध्रादिषु स्मर्तव्यानां बीजसंस्थानाभरणभृतां च देवतानामुपनिक्षेपः समारोपः। तथा च तत्रतत्र देवताः समारोपितास्तत्तदवयवग्रहणात्स्मर्यन्तइत्यर्थः। ता० टी०।

समाने विषये ज्ञानानामभ्यावृत्तिरभ्यासजनितः संस्कार आत्मगुणोभ्यासशब्दे-नोच्यते स च स्मृतिहेतुः समान इति । लिङ्गं पुनः संयोगि समवाय्येकार्थ समवायि विरोधि चेति । संयोगि यथा धूमोऽग्नेः गोर्विषाणं पाणिः पादस्य रूपं स्पर्शस्य अभूतं भूतस्येति । लक्षणं पशवयवस्थं गोत्रस्य स्मृतिहेतुः बिदानामिदं गर्गाणामिदमिति । सादृश्यं चित्रगतं प्रतिरूपकं देवदत्तस्येत्येवमादि । परिग्रहात्स्वेन वा स्वामी स्वामिना वा स्वं स्मर्यते । आश्रयाद् ग्रामण्या तदधीनं संस्मरति । आश्रितात् तदधीनेन ग्रामण्यमिति । संबन्धाद् अन्तेवासिना युक्तं गुरुं स्मरति ऋत्विजा याज्यमिति। आनन्तर्यादिति करणीयेष्वर्थेषु वियोगाद् येन विप्रयुज्यते तद्वियोगप्रतिसंवेदी भृशं स्मरति । एककार्यात् कर्त्रन्तरदर्शनात् कर्त्रन्तरे स्मृतिः । विरोधाद् विजिगीषमाणयोरन्यतरदर्शनादन्यतरः स्मर्यते । अतिशयाद् येनातिशय उत्पादितः । प्राप्तेः यतोनेन किं चित्प्राप्तमाप्तव्यं वा भवति तमभीक्ष्णं स्मरति । व्यवधानात् कोशादिभिरसिप्रभृतीनि स्मर्यन्ते सुखदुःखाभ्यां तद्धेतुः स्मर्यते । इच्छाद्वेषाभ्यां यमिच्छति यं च द्वेष्टि तं स्मरति । भयाद् यतो बिभेति । अर्थित्वाद् येनार्थी भोजनेनाच्छादनेन वा । क्रियया रथेन रथकारं स्मरति । रागाद् यस्यां स्त्रियां रक्तो भवति तामभीक्ष्णं स्मरति । धर्माज् जात्यन्तरस्मरणमिह चाधीतश्रुतावधारणमिति । अधर्मात्प्रागनुभूतदुःखसाधनं स्मरति । न चैतेषु निमित्तेषु युगपत्संवेदनानि भवन्तीति युगपदस्मरणमिति । निदर्शनं चेदं स्मृतिहेतूना न परिसंख्यानमिति । अनित्यायां च बुद्धौ उत्पन्नापवर्गित्वात् कालान्तरावस्थानाच्च नित्यानां संशयः किमुत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिः शब्दवदाहो स्वित्कालान्तरावस्थायिनी कुम्भवदिति । उत्पन्नापवर्गिणीति पक्षः परिगृह्यते कस्मात् ।

भा०ः—स्मरण की इच्छा से मन को एक स्थान में लगाने का नाम 'प्रणिधान' है । जिसके स्मरण की इच्छा हो, उसके लिङ्ग की चिन्ता उस वस्तु के स्मरण का कारण होती है । एक ग्रंथ में अनेक विषयों के सम्बन्ध को 'निबन्ध' कहते हैं । एक ग्रन्थ में निबद्ध अनेक अर्थ परस्पर स्मरण के कारण होते हैं अर्थात् एक अर्थ का ज्ञान दूसरे अर्थ की स्मृति का निमित्त होता । एक विषय में वार २ ज्ञान के होने से संस्कार उत्पन्न होता, उसीको 'अभ्यास' कहते, यह भी स्मरण का कारण है । चौथा 'लिंग' स्मरण का हेतु है, जैसे धुआं के देखने से अग्नि का स्मरण होता । 'लक्षण' अर्थात् चिन्ह पशु के अंग में रहने से गोत्र के स्मरण का हेतु होता, जिसके होने से

यह विद् के वंश का और वह गर्ग गोत्र वालों का है ऐसा स्मरण होता है। 'सादृश्य' अर्थात् समानता जैसे चित्र से जिसका वह चित्र है, उसका स्मरण होता। 'परिग्रह' स्वस्वामिभाव जैसे सेवक के देखने से स्वामी का या स्वामी के दर्शन से सेवक का स्मरण हो जाता। 'आश्रय' और 'आश्रित' ये दोनों एक दूसरे के स्मारक होते हैं। 'सम्बन्ध' गुरु शिष्यभाव आदि. गुरु के दर्शन से शिष्य का, और शिष्य के देखने से गुरु का स्मरण होता है। 'आनन्तर्य्य' जैसे एक कार्य के अनन्तर जब दूसरा कार्य प्रायः किया जाता है तब एक कार्य के करने या सुनने से दूसरे का स्मरण होता है। 'वियोग' से स्त्री पुत्र आदि प्रिय जनों का स्मरण आता। 'एक कार्य' से स्मरण होता जैसे एक काम के करने वाले यदि अनेक हों, तो उन में से एक के देखने से औरों का स्मरण हो जाता है। 'विरोध' से भी स्मरण होता जिनका आपस में विरोध है उनमें से एक के दर्शनादि से दूसरे का स्मरण हो जाता। 'विशेष' संस्कार यज्ञोपवीत आदि से आचार्य आदि का स्मरण होता। 'प्राप्ति' धनादिकों के दाता का स्मरण कराती है। 'व्यवधान' अर्थात् आवरण जैसे म्यान के देखने से खड्ग का स्मरण। 'सुख' और 'दुःख' से इनके कारण का स्मरण होता। 'इच्छा' और 'द्वेष' से जिसकी इच्छा या जिसके साथ बैर होता उनकी स्मृति होती। 'भय' से जिससे डरता, उसका स्मरण होता। 'अर्थीपन' से दाता का स्मरण करता। 'क्रिया' रथादि क्रिया से उसके बनाने वाले का स्मरण होता। 'राग' अर्थात् प्रेम से जिस पर प्रेम होता उसका अधिक स्मरण करता। 'धर्म' और 'अधर्म' से दूसरे जन्म में भोगे सुख या दुःख तथा उनके कारणों का स्मरण होता है। ये प्रणिधान आदि सत्ताईस उदाहरण हैं। कुछ स्मरण के कारणों की गिनती नहीं है ॥ ४३ ॥

बुद्धि क्या शब्द की भांति उत्पत्ति विनाश वाली है, घटादिकों की नाईं कालान्तर में ठहरने वाली है इन दो पक्षों में से पहिला पक्ष सिद्ध करते हैं।

कर्मानवस्थायिग्रहणात् ॥४४॥

कर्मणोनवस्थायिनो ग्रहणादिति क्षिप्तस्येषोरापतनात् क्रियासंतानो गृह्यते प्रत्यर्थनियमाच्च बुद्धीनां क्रियासंतानवद्बुद्धिसंतानोपपत्तिरिति। अवस्थितग्रहणे च व्यवधीयमानस्य प्रत्यक्षनिवृत्तेः। अवस्थिते च कुम्भे गृह्यमाणे सन्तानेनैव बुद्धिर्वर्त्तते प्रागव्यवधानात् तेन व्यवहिते प्रत्यक्षज्ञानं निवर्तते कालान्तरावस्थाने तु बुद्धेर्दृश्यव्यवधानेपि प्रत्यक्षमवतिष्ठेतेति। स्मृतिज्ञानिङ्गं बु-

द्ध्यवस्थाने संस्कारस्य बुद्धिजस्य स्मृतिहेतुत्वात्। यश्च मन्येतावतिष्ठते बुद्धिः दृष्टा हि बुद्धिविषये स्मृतिः सा च बुद्धावनित्यायां कारणाभावान्न स्यादिति तदिदमलिङ्गं कस्माद् बुद्धिजो हि संस्कारो गुणान्तरं स्मृतिहेतुर्न बुद्धिरिति।

*हेत्वाभावादयुक्तमिति चेद् बुद्ध्यवस्थानात् प्रत्यक्षत्वे स्मृत्यभावः *

यावदवतिष्ठते बुद्धिस्तावदसौ बोद्धव्योऽर्थः प्रत्यक्षः प्रत्यक्षे च स्मृतिरनुपपन्नेति ॥

भा०:-अनवस्थायी (नाशवान्) कर्म के ग्रहण करने से उत्पत्ति और विनाश वाली है। फेंके हुए बाण के गिरने तक अनेक क्रियां देखने में आती हैं प्रत्येक अर्थ के लिये बुद्धि नियत है जैसे बाण में अनेक क्रियां होतीं, वैसे ही उनके ज्ञान भी अनेक होते हैं। जब घट सामने धरा है, तब परंपरा से बुद्धि विद्यमान रहती और जब आड़ हो जाती, तब प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं रहता, तो आड़ होने पर भी प्रत्यक्ष बना रहता ॥ ४४ ॥

जब तक ज्ञान बना रहता है, तब तक ज्ञान योग्य पदार्थ का प्रत्यक्ष होता और जब प्रत्यक्ष विद्यमान है, तब स्मरण हो नहीं सकता।

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद्विद्युत्संपाते रूपाव्यक्तग्रहणवत् ॥ ४५ ॥

यद्युत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिः प्राप्तमव्यक्तं बोद्धव्यस्य ग्रहणं यथा विद्युत्संपाते वैद्युतस्य प्रकाशस्यानवस्थानादव्यक्तं रूपग्रहणमिति व्यक्तं तु द्रव्याणां ग्रहणं तस्मादयुक्तमेतदिति ॥

भा०:-जो बुद्धि उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती ऐसा मानोगे, तो ज्ञान योग्य विषय का अस्पष्ट ज्ञान होगा जैसे बिजली के पड़ने के समय उसके प्रकाश की अस्थिरता के कारण रूप का ज्ञान स्पष्ट नहीं होता और पदार्थों का ज्ञान स्पष्ट होता है इसलिये उक्त कथन ठीक नहीं ॥ ४५ ॥

हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा ॥ ४६ ॥

उत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिरिति प्रतिषेद्धव्यं तदेवाभ्यनुज्ञायते विद्युत्संपाते रूपाव्यक्तग्रहणवदिति। यत्राव्यक्तग्रहणं तत्रोत्पन्नापवर्गिणी बुद्धिरिति।

भा०:-बुद्धि उत्पन्न होती और नाश को प्राप्त होती है। यह प्रतिषेध के

* कलकत्ता आदि की छपी पुस्तक में प्रमाद से इस को सूत्र करके छापा है।

योग्य है और बिजुली के चमक लपक से रूप के अव्यक्त ग्रहण की नाईं इस हेतु के ग्रहण या कहने ही से प्रतिषेद्धव्य का अङ्गीकार सिद्ध होता है ॥४६॥

*ग्रहणे हेतुविकल्पाद् ग्रहणविकल्पो न बुद्धिविकल्पात् ॥४७॥

यदिदं क्वचिदव्यक्तं क्वचिद्व्यक्तं ग्रहणमयं ग्रहणहेतुविकल्पाद् यत्रानवस्थितो ग्रहणहेतुः तत्राव्यक्तं ग्रहणं यत्रावस्थितस्तत्र व्यक्तं न तु बुद्धेरवस्थानानवस्थानाभ्यामिति । कस्मादर्थग्रहणं हि बुद्धिर्यत्र तदर्थग्रहणमव्यक्तं व्यक्तं वा बुद्धिः सेति । विशेषाग्रहणे च सामान्यग्रहणमात्रं व्यक्तग्रहणं तत्र विषयान्तरे बुद्ध्यन्तरानुत्पत्तिर्निमित्ताभावात् । यत्र समानधर्मयुक्तश्च धर्मी गृह्यते विशेषधर्मयुक्तश्च तद्व्यक्तं ग्रहणं यत्र तु विशेषे अगृह्यमाणे सामान्यग्रहणमात्रं तदव्यक्तं ग्रहणम् । समानधर्मयोगाच्च विशिष्टधर्मयोगो विषयान्तरं तत्र यत्तु ग्रहणं न भवति तद्ग्रहणं निमित्ताभावाद् न बुद्धेरनवस्थानादिति । यथा विषयं च ग्रहणं व्यक्तमेव प्रत्यर्थनियतत्वाच्च बुद्धीनां सामान्यविषयं च ग्रहणं स्वविषयं प्रतिव्यक्तं विशेषविषयं च ग्रहणं स्वविषयं प्रतिव्यक्तं प्रत्यर्थनियता हि बुद्धयः तदिदमव्यक्तग्रहणं देशितं क्वविषये बुद्ध्यनवस्थानकारितं स्यादिति ।

*धर्मिणस्तुधर्मभेदेबुद्धिनानात्वस्यभावाभावाभ्यांतदुपपत्तिः ।

धर्मिणः खल्वर्थस्य समानाश्च धर्मा विशिष्टाश्च तेषु प्रत्यर्थनियता नानाबुद्धयः ता उभय्यो यदि धर्मिणि वर्त्तन्ते तदा व्यक्तं ग्रहणं धर्मिणमभिप्रेत्य व्यक्ताव्यक्तयोर्ग्रहणयोरुपपत्तिरिति न धर्ममव्यक्तं ग्रहणं बुद्धेर्बुद्धिद्वयस्य वानवस्थायित्वादुपपद्यतइति । इदं हि न ।

भा०ः--ज्ञान कारण के विकल्प से ज्ञान का विकल्प है न कि बुद्धि के विकल्प से । जहां ज्ञान का हेतु अस्थिर है वहां अस्पष्ट ज्ञान होता और जहां स्थिर रहता वहां स्पष्ट ज्ञान होता है, क्योंकि अर्थ का ज्ञान बुद्धि है चाहो व्यक्त हो या अव्यक्त वह बुद्धि है । विशेष के ज्ञान न रहते जो सामान्य मात्र का ज्ञान है उसे अव्यक्त ज्ञान कहते और जहां साधारण धर्म युक्त धर्मी का विशेष धर्म से भी ज्ञान होता वह स्पष्ट ज्ञान है ॥ ४७ ॥

प्रदीपार्चिः संतत्यभिव्यक्तग्रहणवत्तद्ग्रहणम् ॥ ४८ ॥

अनवस्थायित्वेपि बुद्धेस्तेषां द्रव्याणां ग्रहणं व्यक्तं प्रतिपत्तव्यम् । कथं प्रदीपार्चिः संतत्यभिव्यक्तग्रहणवत प्रदीपार्चिषा संतत्या वर्त्तमानानां ग्रहणा-

---

*इस को अजमेर आदि की छपी पुस्तक में प्रमाद से भाष्य में छापा है।

नवस्थानं ग्राह्यानवस्थानं च प्रत्यर्थनियतत्वाद्वा बुद्धीनां यावन्ति प्रदीपार्चींषि तावत्यो बुद्धय इति । दृश्यते चात्र व्यक्तं प्रदीपार्चिषां ग्रहणमिति । चेतना शरीरगुणः सति शरीरे भावादसति चाभावादिति ।

भा०:-बुद्धि की अस्थिरता होने पर भी पदार्थों के ज्ञान का स्वीकार करना उचित है जैसे दीप की जोत लगातार नई नई उत्पन्न होती और नष्ट हो जाती हैं । उनका ज्ञान भी उत्पन्न हो, विनाश को प्राप्त होता है, क्योंकि ज्ञान का होना वस्तु के आधीन है । जब पदार्थ ही न रहा, तब उस का ज्ञान क्योंकर रह सकता है इस लिये जितनी जोति, उतने ज्ञान मानने पड़ेंगे, पर तो भी दीपक की जोतियों का स्पष्ट ज्ञान होता है, वैसे ही अन्यत्र भी जानना चाहिये । अब इस बात का विचार किया जाता है कि शरीर में जो चेतनता देख पड़ती वह किसका गुण है ॥ ४८ ॥

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः ॥ ४९ ॥

सांशयिकः सति भावः स्वगुणोऽप्सु द्रवत्वमुपलभ्यते परगुणश्चोष्णता तेनायं संशयः किं शरीरगुणश्चेतना शरीरे गृह्यते अथ द्रव्यान्तरगुण इति । न शरीरगुणश्चेतना कस्मात् ।

भा०:-पदार्थों में स्वगुण और परगुण की उपलब्धि से संदेह होता है । जैसे पानी में अपना गुण 'द्रवता' और दूसरे की 'उष्णता' इस से संदेह होता है कि शरीर में जो चेतनता देखने में आती, वह क्या शरीर का गुण है या दूसरे पदार्थ का, चेतनता देह का गुण नहीं है क्योंकि- ॥ ४९ ॥

यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम् ॥ ५० ॥

न रूपादिहीनं शरीरं गृह्यते चेतनाहीनं तु गृह्यते यथोष्णताहीना आपः तस्मान्न शरीरगुणश्चेतनेति ।

* संस्कारवदिति चेन्न कारणानुच्छेदात् ।

यथाविधे द्रव्ये संस्कारः तथाविध एवोपरमो न तत्र कारणोच्छेदादत्यन्तं संस्कारानुपपत्तिर्भवति यथाविधे शरीरे चेतना गृह्यते तथाविध एवात्यन्तोपरमश्चेतनाया गृह्यते तस्मात्संस्कारवदित्यसमः समाधिः । अथापि शरीरस्थं चेतनोत्पत्तिकारणं स्यात् द्रव्यान्तरस्थं वा उभयस्थं वा तन्न नियमहेत्वभावात् । शरीरस्थेन कदा चिच्चेतनोत्पद्यते कदा चिन्नेति नियमे हेतुर्नास्तीति । द्रव्यान्तरस्थेन च शरीरएव चेतनोत्पद्यते न लोष्टादिष्वित्यत्र नियमहेतुरस्तीति । उभयस्य निमित्तत्वे शरीरसमानजातीयद्रव्ये चेतना नो-

त्पद्यते शरीरएव चोत्पद्यते इति नियमहेतुर्नास्तीति । यच्च मन्येत सति श्यामादिगुणे द्रव्ये श्यामाद्युपरमो दृष्टः एवं चेतनोपरमः स्यादिति ।

भा०:—जो रूपादि गुण शरीर के हैं, वह जब तक शरीर है तब तक विद्यमान रहते रूपादि गुण रहित शरीर देखने में नहीं आता। और चेतना शून्य शरीर देखा जाता है इस लिये चेतनता शरीर का गुण नहीं है । जो कहो कि कालापन आदि गुण द्रव्य में रहते और फिर उसी द्रव्य में उनका अभाव भी देखने में आता इसीप्रकार देहमें चेतनता का अभाव भी होसकेगा ॥५०॥

न पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः ॥ ५१ ॥

नात्यन्तरूपोपरमो द्रव्यस्य श्यामे रूपे निवृत्ते पाकजं गुणान्तरं रक्तं रूपमुत्पद्यते शरीरे तु चेतनामात्रोपरमोऽत्यन्तमिति । अथापि ॥

भा०:-रूप का अत्यन्त अभाव पदार्थ में नहीं होता। श्याम रूपके अभाव होने पर पाक से दूसरा लाल गुण उत्पन्न हो जाता है, पर शरीर में चेतनता सर्वथा नष्ट हो जाती है ॥ ५१ ॥

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ॥५२॥

यावत्सु द्रव्येषु पूर्वगुणप्रतिद्वन्द्विसिद्धिस्तावत्सु पाकजोत्पत्तिर्दृश्यते पूर्वगुणैः सह पाकजानामवस्थानस्याग्रहणात् । न च चेतनाप्रतिद्वन्द्विसिद्धौ सहानवस्थायि गुणान्तरं गृह्यते येनानुमीयेत तेन चेतनाया विरोधः । तस्मादप्रतिषिद्धा चेतना यावच्छरीरं वर्तेत न तु वर्त्तते तस्मान्न शरीरगुणश्चेतना इति। इतश्च न शरीरगुणः चेतना ।

भा०:-जितने पदार्थों में पूर्वगुण के विरोधी दूसरे गुण की सिद्धि रहती, उतनों में पाक से उत्पन्न गुण देखने में आते हैं, क्योंकि पूर्व गुणों के साथ पाक जन्य गुणों की स्थिति नहीं होती । शरीर में चेतना विरोधी की सिद्धि में साथ न रहने वाला दूसरा ज्ञात नहीं होता कि जिससे चेतना के विरोध का अनुमान किया जाय इसलिये अप्रतिषिद्ध चेतना को जब तक शरीर रहता है, तब तक रहना चाहिये, पर रहती तो नहीं इसलिये चेतनता शरीर का गुण नहीं है ॥ ५२ ॥

शरीरव्यापित्वात् ॥५३॥

शरीरं शरीरावयवाश्च सर्वे चेतनोत्पत्त्या व्याप्ता इति न क्वचिदनुत्पत्तिश्चेतनायाः शरीरवच्छरीरावयवाश्चेतना इति प्राप्तं चेतनबहुत्वं तत्र यथा प्रतिशरीरं चेतनबहुत्वे सुखदुःखज्ञानानां व्यवस्था लिङ्गमेवमेकशरीरेपि स्याद् न

तु भवति । तस्मान्न शरीरगुणश्चेतनेति । यदुक्तं न क्वचिच्छरीरावयवे चेतनाया अनुत्पत्तिरिति स न ।

भा०:-शरीरव्यापित्व से चेतनता शरीर का गुण नहीं हो सकती। अर्थात् शरीर और उसके अंग हाथ, पैर, आदि सब चेतनता की उत्पत्ति से युक्त हैं इस लिये चेतनता की अनुत्पत्ति नहीं; तो शरीर की नाईं उसके अवयव भी चेतन हुए, तो इस प्रकार अनेक चेतन हो जांयगे जैसे प्रति शरीर चेतन भिन्न हैं। इस में सुख दुःख ज्ञानों की व्यवस्था प्रमाण है वैसे ही एक शरीर में भी होनी चाहिये, पर ऐसा होता नहीं। अर्थात् एक काल में अनेक ज्ञान नहीं होते इस लिये चेतनता शरीर का गुण नहीं है ॥ ५३ ॥

केशनखादिष्वनुपलब्धेः ॥५४॥

केशेषु नखादिषु चानुत्पत्तिश्चेतनाया इति अनुपपन्नं शरीरव्यापित्वमिति।

भा०:-केश, नख, आदि शरीर के अवयवों में चेतनता नहीं देख पड़ती इसलिये उक्त कथन ठीक नहीं है ॥ ५४ ॥

त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसङ्गः ॥५५॥

इन्द्रियाश्रयत्वं शरीरलक्षणं त्वक्पर्यन्तं जीवमनःसुखदुःखसंवित्त्यायतनभूतं शरीरं तस्मान्न केशादिषु चेतनोत्पद्यते। अर्थकारितस्तु शरीरोपनिबन्धः केशादीनामिति । इतश्च न शरीरगुणश्चेतना ॥

भा०:-इन्द्रियों का आधार त्वचापर्यन्त शरीर कहाता और वही जीव मन, सुख, दुःख, ज्ञान का स्थान है इस लिये केशादि में चेतनता का प्रसंग नहीं होता। इस लिये चेतनता शरीर का गुण नहीं है ॥ ५५ ॥

शरीरगुणवैधर्म्यात् ॥५६॥

द्विविधः शरीरगुणोऽप्रत्यक्षश्च गुरुत्वम् । इन्द्रियग्राह्यश्च रूपादिः विधान्तरं तु चेतना नाप्रत्यक्षा संवेद्यत्वाद् नेन्द्रियग्राह्या मनोविषयत्वात् तस्माद् द्रव्यान्तरगुण इति ।

भा०:-शरीर के गुण दो प्रकार के देखने में आते एक 'अप्रत्यक्ष, जैसे गुरुता, आदि । दूसरे 'प्रत्यक्ष, जैसे रूप, आदि । चेतनता इन से विलक्षण है, क्योंकि ज्ञान के विषय होने से प्रत्यक्ष है और मन का विषय होने से इन्द्रियों का विषय नहीं इसलिये चेतनता शरीर का गुण नहीं हो सकती ॥ ५६ ॥

न रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ॥५७॥

यथेतरेतरविधर्माणो रूपादयो न शरीरगुणत्वं जहत्येवं रूपादिवैधर्म्या-च्चेतना शरीरगुणत्वं न हास्यतीति ॥

भा०:—जैसे रूपादि से परस्पर विधर्म हो कर भी शरीर के गुण होते वैसे ही रूपादि से विरुद्धधर्मवाली चेतना भी शरीर ही का गुण क्यों नहीं? ॥५७॥

ऐन्द्रियकत्वाद्रूपादीनामप्रतिषेधः ॥५८॥

अप्रत्यक्षत्वाच्चेति यथेतरेतरविधर्माणो रूपादयो न द्वैविध्यमतिवर्तन्ते तथा रूपादिवैधर्म्याच्चेतना न द्वैविध्यमतिवर्त्तेत यदि शरीरगुणः स्यादिति । अतिवर्त्तते तु तस्मान्न शरीरगुण इति भूतेन्द्रियमनसां ज्ञानप्रतिषेधात् । सिद्धे सत्यारम्भो विशेषज्ञापनार्थः । बहुधा परीक्ष्यमाणं तत्त्वं सुनिश्चिततरं भवतीति । परीक्षिता बुद्धिः मनस इदानीं परीक्षाक्रमः तत्प्रतिशरीरमेकमनेक-मिति विचारे ॥

भा०:—रूपादिकों को इन्द्रिय विषय होने से प्रतिषेध नहीं अर्थात् जैसे आपस में विधर्म रूप आदि द्वैविध्य को नहीं छोड़ते वैसे ही चेतनता भी द्वैविध्य को न छोड़ती । जो शरीर का गुण होती पर छोड़ती है इसलिये शरीर का गुण नहीं है । जब भूत इन्द्रिय और मन को ज्ञान का निषेध कर दिया, तब चेतनता शरीर का गुण नहीं । इस के विचार की क्या आवश्य-कता थी (इस का उत्तर यह है कि) जो तत्त्व कई प्रकार से परीक्षा किया गया वह अति निश्चित होता पुनः उस में कुछ सन्देह नहीं रहता । बुद्धि की परीक्षा हो चुकी । अब मन की परीक्षा की जाती है । वहां पहिले इस बात का विचार करते हैं कि मन प्रत्येक शरीर में एक है या अनेक ? ॥ ५८ ॥

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः ॥५९॥

अस्ति खलु वै ज्ञानायौगपद्यमेकैकस्येन्द्रियस्य यथाविषयं करणस्यैकप्रत्य-यनिर्वृत्तौ सामर्थ्यान्न तदेकत्वे मनसो लिङ्गं यत्तु खल्विदमिन्द्रियान्तराणां विषयान्तरेषु ज्ञानायौगपद्यमिति तल्लिङ्गम् । कस्मात्सम्भवति खलु वै बहुषु मनःस्विन्द्रियमनःसंयोगयौगपद्यमिति ज्ञानयौगपद्यं स्यात् । न तु भवति तस्माद्विषये प्रत्ययपर्यायादेकं मनः ॥

भा०:—एक काल में अनेक ज्ञान नहीं होते, इसलिये प्रति शरीर में मन एक ही है । इन्द्रिय को एक समय में एक ज्ञान उत्पन्न कराने की शक्ति है इसलिये एक इन्द्रिय से अनेक ज्ञान नहीं होते, जैसे आंख से रूप का ज्ञान होता और शब्द का नहीं । ऐसे ही कान से शब्द का ज्ञान होता, पर रूप

का नहीं. यही वृत्तान्त अन्य इन्द्रियों का है । यद्यपि इस कारण से मन का एक होना सिद्ध नहीं हो सकता, तथापि भिन्न इन्द्रियों से जो अनेक ज्ञान एक काल में नहीं होते, इस से यह सिद्ध होता कि मन एक है जो मन अनेक होते. तो सब इन्द्रियों के साथ मन का संयोग होने से एक काल में अनेक ज्ञान हो जाते पर ऐसा होता नहीं इसलिये मन एक है ॥ ५९ ॥

न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ॥६०॥

अयं खल्वध्यापकोऽधीते व्रजति कमण्डलुं धारयति पन्थानं पश्यति शृणोत्यारण्यजान् शब्दान् बिभेति व्याललिङ्गानि बुभुत्सते स्मरति च गन्तव्यं संस्त्यायनमिति क्रमस्याग्रहणाद्युगपदेताः क्रिया इति प्राप्तं मनसो बहुत्वमिति।

भा०:—एक समय में अनेक क्रियाओं के ज्ञान होने से उक्त कथन ठीक नहीं । एक पढ़ने वाला पढ़ता, चलता, कमण्डल धारण किये, मार्ग को देखता, वन के शब्दों को सुनता, डरता हुआ, सांप के चिन्हों को जानने की इच्छा किये, जिस स्थान को जाना है उस का स्मरण भी करता है । यहां क्रम का ज्ञान न होने से एक साथ अनेक क्रियाओं के ज्ञान से मन अनेक हैं यह सिद्ध होता है । इस का समाधान—

अलातचक्रदर्शनवत्तदुपलब्धिराशुसंचारात् ॥६१॥

आशुसंचारादलातस्य भ्रमतो विद्यमानः क्रमो न गृह्यते क्रमस्याग्रहणादविच्छेदबुद्ध्या चक्रवद्बुद्धिर्भवति । तथा बुद्धीनां क्रियाणां चाशुवृत्तित्वाद्विद्यमानः क्रमो न गृह्यते क्रमस्याग्रहणाद्युगपत् क्रिया भवन्तीति अभिमानो भवति । किं पुनः क्रमस्याग्रहणाद् युगपत् क्रियाभिमानः अथ युगपद्भावादेव युगपदनेकक्रियोपलब्धिरिति । नात्र विशेषप्रतिपत्तेः कारणमुच्यते उक्तमिन्द्रियान्तराणां विषयान्तरेषु पर्यायेण बुद्धयो भवन्तीति तच्चाप्रत्याख्येयमात्मप्रत्यक्षत्वात् । अथापि दृष्टश्रुतानर्थांश्चिन्तयतः क्रमेण बुद्धयो वर्तन्ते न युगपदनेनानुमातव्यमिति । वर्णपदवाक्यबुद्धीनां तदर्थबुद्धीनां चाशुवृत्तित्वात् क्रमस्याग्रहणम् । कथं वाक्यस्थेषु खलु वर्णेषूच्चरत्सु प्रतिवर्णं तावच्छ्रवणं भवति श्रुतं वर्णमेकमनेकं वा पदभावेन प्रतिसंधत्ते प्रतिसंधाय पदं व्यवस्यति पदव्यवसायेन स्मृत्या पदार्थं प्रतिपद्यते पदसमूहप्रतिसंधानाच्च वाक्यं व्यवस्यति संबद्धांश्च पदार्थान् गृहीत्वा वाक्यार्थं प्रतिपद्यते । न चासां क्रमेण वर्तमानानां बुद्धीनामाशुवृत्तित्वात् क्रमो गृह्यते तदेतदनुमानमन्यत्र बुद्धिक्रियायौगपद्याभिमानस्येति । न चास्ति मुक्तसंशयं युगपदुत्पत्तिर्बुद्धीनां यया मनसो बहुत्वमेकशरीरेऽनुमीयतइति ॥

भा०:-अति शीघ्र चलने से, घूमते हुए * अधजले काठ का विद्यमान भी क्रम ज्ञात नहीं होता इसी प्रकार ... इसी प्रकार ज्ञान और क्रियाओं के अति शीघ्र होने से विद्यमान क्रम का बोध नहीं होता। और क्रम का ज्ञान न होने से एक संग क्रिया होती यह अभिमान होता है। अब यहां यह पूर्व पक्ष होता है कि क्रम का ज्ञान न होने से एक समय अनेक क्रियाओं का ज्ञान होता, या एक काल में अनेक क्रियाओं के होने से ही एक समय में अनेक क्रियाओं का बोध होता है? इस का उत्तर पहिले हो चुका है कि भिन्न २ इन्द्रियों से अन्य २ विषयों में क्रम से ज्ञान होते हैं और यह अनुभव सिद्ध है इसलिये इस का खण्डन नहीं हो सकता है ॥ ६१ ॥

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥६२॥

अणु मन एकं चेति धर्मसमुच्चयो ज्ञानायौगपद्यात्। महत्त्वे मनसः सर्वेन्द्रियसंयोगाद्युगपद्विषयग्रहणं स्यादिति। मनसः खलु सेन्द्रियस्य शरीरे वृत्तिलाभो नान्यत्र शरीरात्। ज्ञातुश्च पुरुषस्य शरीरायतना बुद्ध्यादयो विषयोपभोगो जिहासितहानमीप्सितावाप्तिश्च सर्वे च शरीराश्रया व्यवहाराः। तत्र खलु विप्रतिपत्तेः संशयः किमयं पुरुषकर्मनिमित्तः शरीरसर्गः आहो भूतमात्रादकर्मनिमित्त इति। श्रूयते खल्वत्र विप्रतिपत्तिरिति। तत्रेदं तत्त्वम्।

भा०:-उक्त कारण से मन सूक्ष्म है यह भी सिद्ध होता है। यदि मन व्यापक होता तो सब इन्द्रियों के साथ एक संग संयोग होने से अनेक ज्ञान एक काल में हो जाते, पर ऐसा होता नहीं इस से मन सूक्ष्म है यह सिद्ध हो गया। मन की परीक्षा हो चुकी ॥ ६२ ॥ शरीर की उत्पत्ति जीवों के कर्म के आधीन है, या स्वतन्त्र पंचभूतों से होती है?। इस का उत्तरः—

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥६३॥

पूर्वशरीरे या प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भलक्षणा तत्पूर्वकृतं कर्मोक्तं तस्य फलं तज्जनितौ धर्माधर्मौ तत्फलस्यानुबन्ध आत्मसमवेतस्यावस्थानं तेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यस्तस्योत्पत्तिः शरीरस्य न स्वतन्त्रेभ्य इति। यदधिष्ठानोऽयमात्मायमहमिति मन्यमानो यत्राभियुक्तो यत्रोपभोगतृष्णया विषयानुपलभमानो धर्माधर्मौ संस्करोति तदस्य शरीरं तेन संस्कारेण धर्माधर्मलक्षणेन भूतसहितेन (पतिते) ऽस्मिन् शरीरे उत्तरं निष्पद्यते निष्पन्नस्य चास्य पूर्वशरीर-

---

* लूहक, या जलती हुई बनेती आदि के अति शीघ्र घुमाने से जो तेज का चक्र ऐसा देख पड़ता है उसे (अलातचक्र) कहते हैं।

वत्पुरुषार्थक्रिया पुरुषस्य च पूर्वशरीरवत् प्रवृत्तिरिति कर्मापेक्षेभ्यो भूतेभ्यः शरीरसर्ग एतस्मिन्नुपपद्यते इति। दृष्टा च पुरुषगुणेन प्रयत्नेन प्रयुक्तेभ्यो भूतेभ्यः पुरुषार्थक्रियासमर्थानां द्रव्याणां रथप्रभृतीनामुत्पत्तिः तथानुमातव्यं शरीरमपि पुरुषार्थक्रियासमर्थमुत्पद्यमानं पुरुषस्य गुणान्तरापेक्षेभ्यो भूतेभ्य उत्पद्यते इति। अत्र नास्तिक आह ॥

भा०:-पूर्वशरीर में किये कर्मों के फलानुबन्ध से देह की उत्पत्ति होती है। अर्थात् धर्म और अधर्म रूप अदृष्ट से प्रेरित पंच भूतों से शरीर की उत्पत्ति होती, स्वतंत्र भूतों से नहीं। जिस में स्थित होकर यह आत्मा अहं बुद्धि कर के भोगों की तृष्णा से विषयों को भोगता हुआ धर्म और अधर्म का संपादन करता है वह इस का शरीर है। धर्म और अधर्म रूप संस्कार युक्त भूतों से इस शरीर के नष्ट होने पर दूसरा देह बनाया जाता है और उत्पन्न हुये इस शरीर की पहले की नांई पुरुषार्थ क्रिया और पुरुष की पूर्व शरीर की भांति प्रवृत्ति होती है। यह बात कर्म सापेक्ष भूतों से शरीर की उत्पत्ति मानने से सिद्ध होती अन्यथा नहीं। लोक में यह देखने में आता है कि पुरुष के प्रयत्न से प्रेरणा किये भूतों से पुरुषार्थ क्रिया में समर्थ रथ आदि पदार्थों की उत्पत्ति होती इस से अनुमान होता है कि पुरुषार्थ क्रिया समर्थ उत्पन्न हुआ शरीर पुरुष गुण धर्माधर्म सापेक्ष भूतों से उत्पन्न होता है ॥६३॥
नास्तिक शंका करता है कि--

भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवत्तदुपादानम् ॥६४॥

यथा कर्मनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यो निर्वृत्ता मूर्तयः सिकताशर्करापाषाणगैरिकाञ्जनप्रभृतयः पुरुषार्थकारित्वादुपादीयन्ते तथा कर्मनिरपेक्षेभ्यो भूतेभ्यः शरीरमुत्पन्नं पुरुषार्थकारित्वादुपादीयत इति ॥

भा०:-जैसे कर्मनिरपेक्ष भूतों से उत्पन्न हुए रेत, कंकड़, पत्थर, और गेरू आदि पदार्थ पुरुषार्थ साधक होने से ग्रहण किये जाते, वैसे ही कर्म निरपेक्ष भूतों से उत्पन्न शरीर पुरुषार्थ साधक होने से लिया जाता है ॥६४॥

न साध्यसमत्वात् ॥६५॥

यथा शरीरोत्पत्तिरकर्मनिमित्ता साध्या तथा सिकताशर्करापाषाणगैरिकाञ्जनप्रभृतीनामप्यकर्मनिमित्तः सर्गः साध्यः साध्यसमत्वादसाधनमिति। भूतेभ्यो मूर्त्युपादानवदिति चानेन साम्यम् ॥

भा०:-साध्य के समान होने से नास्तिक का कहना ठीक नहीं है। अर्थात् जैसे 'शरीर की उत्पत्ति कर्म निमित्त नहीं, यह साध्य है, वैसे ही रेत,कंकड़,

आदि पदार्थों की उत्पत्ति में, 'कर्मों की अपेक्षा नहीं' यह भी तो साध्य ही है फिर दृष्टान्त क्योंकर हो सक्ती है ॥ ६५ ॥

नोत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ॥६६॥

विषमश्चायमुपन्यासः। कस्माद् निर्बीजा इमा मूर्तय उत्पद्यन्ते बीजपूर्विका तु शरीरोत्पत्तिः। मातापितृशब्देन लोहितरेतसी बीजभूते गृह्येते तत्र सत्वस्य गर्भवासानुभवनीयं कर्म पित्रोश्च पुत्रफलानुभवनीये कर्मणी मातुर्गर्भाशये शरीरोत्पत्तिं भूतेभ्यः प्रयोजयन्तीत्युपपन्नं बीजानुविधानमिति ॥

भा०:-रेत,कंकड़,आदि का दृष्टान्त भी प्रकृत में नहीं लगसक्ता,क्योंकि यह वस्तु विना बीज उत्पन्न होतीं,पर देह की उत्पत्ति बीज से है। सूत्र में माता पिता से रक्त और बीज का ग्रहण किया है। गर्भ वास भोगने का प्राणी का कर्म और पुत्र रूप फल भोगने को पिता और माता के कर्म पंच भूतों से माता के गर्भ में शरीर की उत्पत्ति कराते हैं ॥६६॥

तथाऽऽहारस्य ॥६७॥

उत्पत्तिनिमित्तत्वादिति प्रकृतम्। भुक्तं पीतमाहारस्तस्य पक्तिर्निर्वृत्तं रसद्रव्यं मातृशरीरे चोपचिते बीजे गर्भाशयस्थे बीजसमानपाकं मात्रया चोपचयो बीजे यावद्व्यूहसमर्थः संचय इति। संचितं चार्बुदमांसपेशीकललकण्डरा शिरःपाण्यादिना च व्यूहेनेन्द्रियाधिष्ठानभेदेन व्यूह्यते व्यूहे च गर्भनाड्यावतारितं रसद्रव्यमुपचीयते यावत्प्रसवसमर्थमिति। न चायमन्नपानस्य स्थाल्यादिगतस्य कल्पत इति। एतस्मात्कारणात्कर्मनिमित्तत्वं शरीरस्य विज्ञायत इति ॥

भा०:-खाया,पिया,आहार भी शरीर की उत्पत्ति में कारण है। आहार पचने से माता के शरीर में रस रूप पदार्थ बढ़ता है उसी के अनुसार गर्भ में का बीज बढ़के रचना के योग्य एकट्ठा हो,बीज और लोहू मिलना, फिर मास की गांठ इत्यादि अनेक रूप ग्रहण करता। फिर गर्भ की नाड़ी से उतर,रस द्रव्य बढ़कर उत्पत्ति के योग्य होता है। यह बात वर्त्तन में रक्खे हुए खाने पीने के पदार्थों में देख नहीं पड़ती इस से जान पड़ता है कि शरीर की उत्पत्ति में कर्म कारण हैं ॥६७॥

प्राप्तौ चानियमात् ॥६८॥

न सर्वो दंपत्योः संयोगो गर्भाधानहेतुर्दृश्यते तत्रासति कर्मणि न भवति सति च भवतीत्यनुपपन्नो नियमाभाव इति कर्मनिरपेक्षेषु भूतेषु शरीरोत्पत्तिहेतुषु नियमः स्यात् न ह्यत्र कारणाभाव इति। यथापि ॥

भा०:-स्त्री और पुरुष के सब संयोग गर्भ रहने के कारण नहीं होते इस से सिद्ध होता है कि वसे प्रारब्ध कर्म के रहने से होता और उस के न र-

हने से गर्भ नहीं होता है। कर्म की अपेक्षा न कर भूतों से शरीर की उत्पत्ति मानोगे तो नियम न रहेगा ॥ ६८ ॥

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ॥६९॥

यथा खल्विदं शरीरं धातुप्राणसंवाहिनीनां नाडीनां शुक्रान्तानां धातूनां च स्नायुत्वगस्थिशिरापेशीकलकण्डराणां च शिरोबाहूदराणां सक्थ्नां च कोष्ठगानां च वातपित्तकफानां च मुखकण्ठहृदयामाशयपक्वाशयाधःस्रोतसां च परमदुःखसंपादनीयेन सन्निवेशेन व्यूहनमशक्यं पृथिव्यादिभिः कर्मनिरपेक्षैस्त्पादयितुमिति कर्मनिमित्ता शरीरोत्पत्तिरिति विज्ञायते। एवं च प्रत्यात्मनियतस्य निमित्तस्याभावान्निरतिशयैरात्मभिः संबन्धात्सर्वात्मनां च समानैः पृथिव्यादिभिरुत्पादितं शरीरं पृथिव्यादिगतस्य च नियमहेतोरभावात् सर्वात्मनां सुखदुःखसंवित्त्यायतनं समानं प्राप्तम्। यत्तु प्रत्यात्मं व्यवतिष्ठते तत्र शरीरोत्पत्तिनिमित्तं कर्म व्यवस्थाहेतुरिति विज्ञायते। परिपच्यमानो हि प्रत्यात्मनियतः कर्माशयो यस्मिन्नात्मनि वर्तते तस्यैवोपभोगायतनं शरीरमुत्पाद्य व्यवस्थापयति। तदेवं शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगनिमित्तं कर्मेति विज्ञायते। प्रत्यात्मव्यवस्थानं तु शरीरस्यात्मना संयोगं प्रचक्ष्मह इति ॥

भा०:—कर्म की अपेक्षा न रखकर पंच भूतों से शरीर की बनावट जैसी चाहिये वैसी होनी कठिन है इसलिये शरीर की उत्पत्ति में कर्म को निमित्त मानना पड़ता है, पर ऐसा मानने पर भी प्रत्येक आत्मा का सब शरीरों के साथ संबन्ध होने से सभी शरीर इस के हो जायंगे। तब यही इस का शरीर है और नहीं यह नियम न रहेगा, इसलिये जैसे शरीर की उत्पत्ति में कर्म को कारण माना है वैसे ही किसी एक शरीर के साथ आत्मा के विशेष संयोग होने में भी कर्म ही कारण है और जिस शरीर के साथ आत्मा का विशेष संयोग होता वही शरीर उस का कहा जाता है ॥ ६९ ॥

एतेनानियमः प्रत्युक्तः * ॥७०॥

---

* तदेवमात्मगुणनिबन्धने शरीरसर्गे व्यवस्था दर्शिता। ये तु मेनिरे न कर्मनिबन्धनः शरीरसर्गोऽपि तु प्रकृत्यादिनिबन्धनः। प्रकृतयो हि स्वयमेव धर्माधर्मरूपनिमित्तानपेक्षाः सत्त्वरजस्तमोरूपतया प्रवृत्तिशीलाः स्वं स्वं विकारमारभन्ते प्रतिबन्धापगममात्रे तु धर्माधर्मावपेक्षन्ते। तद्यथा कृषीवलः केदारादपां पूर्णात्केदारान्तरमपूर्णमापिप्लावयिषुरपां सेतुमात्रं भिनत्ति। तास्तु निम्नाभिसर्पणस्वभावा अपहृतसेतवः स्वयमेव केदारमाप्लावयन्ति एवमाप्लावयन्ति प्रकृतयोऽपि विकारानिति। यथाहुः निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवदिति तान्प्रत्याह। ता० टी०।

योऽयमकर्मनिमित्ते शरीरसर्गे सत्यनियम इत्युच्यते अयं शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्मेत्यनेना (नियमः) प्रत्युक्तः । कस्तावदयं नियमः यथैकस्यात्मनः शरीरं तथा सर्वेषामिति नियमः । अन्यस्यान्यथान्यस्यान्यथेत्यनियमे भेदो व्यावृत्तिर्विशेष इति । दृष्टा च जन्मव्यावृत्तिरुच्चाभिजनो निकृष्टाभिजन इति प्रशस्तं निन्दितमिति व्याधिबहुलमरोगमिति समग्रं विकलमिति पीडाबहुलं सुखबहुलमिति पुरुषातिशयलक्षणोपपन्नं विपरीतमिति प्रशस्तलक्षणं निन्दितलक्षणमिति पट्विन्द्रियं मृद्विन्द्रियमिति । सूक्ष्मश्च भेदोऽपरिमेयः सोयं जन्मभेदः प्रत्यात्मनियतात्कर्मभेदादुपपद्यते असति कर्मभेदे प्रत्यात्मनियते निरतिशयित्वादात्मनां समानत्वाच्च पृथिव्यादीनां पृथिव्यादिगतस्य नियमहेतोरभावात्सर्वं सर्वात्मनां प्रसज्येत न त्विदमित्थंभूतं जन्म तस्मान्नाकर्मनिमित्ता शरीरोत्पत्तिरिति ॥

भा०:-शरीर की रचना को कर्म निमित्त न मानने से जो अनियम पाया था, उस का पहिले सूत्र से खण्डन हो गया कोई उत्तम कुल में जन्म लेता, दूसरा नीच कुल में, किसी का देह उत्तम, किसी का बुरा, कोई रोगी, किसी के रोग का नाम भी नहीं, किसी का पूरा शरीर, दूसरे का हीन, किसी का दुःखी, और किसी का सुखी, किसी के इन्द्रिय तेज, दूसरे के इन्द्रिय निर्बल, इत्यादि और भी बहुत सूक्ष्म भेद हैं जो ज्ञान में नहीं आते । यह सब भेद प्रत्येक आत्मा के नियत कर्मों के भेद से सिद्ध होते हैं । कर्म के भेद न मानने से सब आत्माओं के तुल्य होने से और पंचभूतों के नियामक किसी के न रहने से सब आत्माओं के एक से शरीर हो जाते पर ऐसा होता नहीं इस लिये शरीर की उत्पत्ति में कर्म निमित्त है ॥ ७० ॥

उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः ॥७१॥

कर्मनिमित्ते शरीरसर्गे तेन शरीरेणात्मनो वियोग उपपन्नः । कस्मात्कर्मक्षयोपपत्तेः । उपपद्यते खलु कर्मक्षयः सम्यग्दर्शनात् प्रक्षीणे मोहे वीतरागः पुनर्भवहेतु कर्म कायवाङ्मनोभिर्न करोति इत्युत्तरस्यानुपचयः पूर्वोपचितस्य विपाकप्रतिसंवेदनात्प्रक्षयः । एवं प्रसवहेतोरभावात् पतितेऽस्मिन् शरीरे पुनः शरीरान्तरानुपपत्तेरप्रतिसंधिः । अकर्मनिमित्ते तु शरीरसर्गे भूतक्षयानुपपत्तेस्तद्वियोगानुपपत्तिरिति ॥

भा०:-शरीर की उत्पत्ति को कर्म निमित्तक मानने से शरीर के साथ आत्मा का वियोग कर्म का नाश होने से सिद्ध होता है । सम्यक् ज्ञान होने

से मोह का नाश होता, फिर विषयों में वैराग होने से विरक्त पुरुष पुनर्जन्म होने के कारण कर्म्मों को शरीर वाणी और मन से नहीं करता इसलिये आगे कर्म संचित नहीं होते, पहिले कर्मों के फल भोगलेने से वह नष्ट हो जाते, इस प्रकार जन्म के कारण कर्म के अभाव से फिर दूसरा देह नहीं मिलता। जो शरीर की उत्पत्ति में कर्म को निमित्त न मानोगे तो पंच भूतों के नाश न होने से शरीर का वियोग कभी न होगा ॥ ७१ ॥

तददृष्टकारितमिति चेत् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ॥७२॥

अदर्शनं खल्वदृष्टमित्युच्यते अदृष्टकारिता भूतेभ्यः शरीरोत्पत्तिः। न जात्वनुत्पन्ने शरीरे द्रष्टा निरायतनो दृश्यं पश्यति तच्चास्य दृश्यं द्विविधं विषयश्च नानात्वं चाव्यक्तात्मनोस्तदर्थः शरीरसर्गः तस्मिन्नवसिते चरितार्थानि भूतानि न शरीरमुत्पादयन्तीत्युपपन्नः शरीरवियोग इति। एवं चेन्मन्यसे पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे पुनः शरीरोत्पत्तिः प्रसज्यतइति या चानुत्पन्ने शरीरे दर्शनानुत्पत्तिरदर्शनाभिमता या चापवर्गे शरीरनिवृत्तौ दर्शनानुत्पत्तिरदर्शनभूता नैतयोरदर्शनयोः क्वचिद्विशेष इत्यदर्शनस्यानिवृत्तेरपवर्गे पुनः शरीरोत्पत्तिप्रसङ्ग इति (चरितार्थता विशेष इति चेत्) ॥

भा०:—इस सूत्र में 'अदृष्ट' इस पद से अदर्शन इष्ट है भूतों से शरीर की उत्पत्ति अदृष्टकारित है क्योंकि शरीर की उत्पत्ति के विना द्रष्टा विन आश्रय के देखने योग्य वस्तु को देख नहीं सकता। वह दृश्य दो प्रकार का है 'विषय' और ,प्रकृति. पुरुष को अनेकता इस के लिये शरीर की सृष्टि है। उस के पूरे हो जाने से कृतकार्य भूत फिर शरीर को उत्पन्न नहीं करते। इस रीति शरीर का वियोग भी सिद्ध हो गया. जो ऐसा मानोगे तो फिर मुक्ति में शरीर की उत्पत्ति हो जायगी। इस का आशय यह है कि जो अदर्शन को शरीर की उत्पत्ति में कारण मानोगे तो मुक्ति में भी अदर्शन विद्यमान ही है फिर शरीर की उत्पत्ति क्यों न होगी. क्योंकि अदर्शनों में कुछ भेद तो है ही नहीं ॥ ७२ ॥

न करणाकरणयोरारम्भदर्शनात् ॥७३॥

चरितार्थानि भूतानि दर्शनावसानान्न शरीरान्तरमारभन्तइत्ययं विशेष एवं चेदुच्यते न करणाकरणयोरारम्भदर्शनात्। चरितार्थानां भूतानां विषयोपलब्धिकरणात्पुनःपुनः शरीरारम्भो दृश्यते प्रकृतिपुरुषयोर्नानात्वदर्शनस्याकरणान्निरर्थकः शरीरारम्भः पुनःपुनर्दृश्यते। तस्मादकर्मनिमित्तायां भूतसृष्टौ न

दर्शनार्था शरीरोत्पत्तिर्युक्ता युक्ता तु कर्मनिमित्तसर्गे दर्शनार्था शरीरोत्पत्तिः कर्मविपाकः संवेदनं दर्शनमिति तददृष्टकारितमिति चेत् कस्य चिद्दर्शनमदृष्टं नाम परमाणूनां गुणविशेषः क्रियाहेतुस्तेन प्रेरिताः परमाणवः संमूर्छिताः शरीरमुत्पादयन्तीति तन्मनः समाविशति स्वगुणेनादृष्टेन प्रेरितं समनस्के शरीरे द्रष्टुरुपलब्धिर्भवतीति । एतस्मिन् वै दर्शने गुणानुच्छेदात्पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे ऽपवर्गे शरीरोत्पत्तिः परमाणुगुणस्यादृष्टस्यानुच्छेद्यत्वादिति ॥

भा०:—चरितार्थ भूत दर्शन के पूरे हो जाने से, दूसरे शरीर का आरम्भ नहीं करते। यही विशेष यदि कहो तो विषय के ज्ञान कराने से चरितार्थ भूतों से बार २ शरीर की उत्पत्ति होती। प्रकृति पुरुष के अनेकत्व के दर्शन के विना ही फिर २ व्यर्थ शरीर की उत्पत्ति देखने में आती है इसलिये शरीर की उत्पत्ति को कर्म निमित्तक न मान कर अदर्शन को शरीर की उत्पत्ति में कारण मानना ठीक नहीं। जो कहो अदृष्ट परमाणुओं का विशेष गुण है जिस से प्रेरित परमाणु शरीर को उत्पन्न करते उस में मन का प्रवेश होता, स्वगुण अदृष्ट से प्रेरित मन युक्त, शरीर में आत्मा को ज्ञान होता है, इस पक्ष में परमाणुओं के गुण अदृष्ट का नाश न होने से मोक्ष में भी फिर शरीर की उत्पत्ति हो जायगी ॥ ७३ ॥

मनःकर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ॥७४॥

मनोगुणेनादृष्टेन समावेशिते मनसि संयोगव्युच्छेदो न स्यात् तत्र किं कृतं शरीरादपसर्पणं मनस इति। (तदिदं दृष्टान्तस्य साध्यसमत्वमभिधीयते इति अथ वा नाकृताभ्यागमप्रसङ्गाद् अणुश्यामता दृष्टान्ते) कर्माशयक्षये तु कर्माशयान्तराद्विपच्यमानादपसर्पणोपपत्तिरिति। अदृष्टादेवापसर्पणमिति चेद् योऽदृष्टः शरीरोपसर्पणहेतुः स एवापसर्पणहेतुरपीति। नैकस्य जीवनप्रायणहेतुत्वानुपपत्तेः। एवं च सति एको दृष्टं जीवनप्रायणयोर्हेतुरिति प्राप्तं नैतदुपपद्यते ॥

भा०:—जो अपने गुण अदृष्ट से शरीर में मन का प्रवेश कहोगे, तो संयोग का नाश न होगा और तब शरीर से मन का निकल जाना किस कारण से कहोगे। एक कर्माशय के नाश से और दूसरे कर्माशय के विपाक से उक्त विषय की उपपत्ति हो सकती है। यदि कहो कि अदृष्ट ही से मन का शरीर से निकलना होता है, तो जो अदृष्ट शरीर संयोग में हेतु है वही वियोग का कारण होगा, तब तो एक ही अदृष्ट को जीवन मरण दोनों का कारण कहना पड़ेगा और यह बात सर्वथा अनुचित है ॥ ७४ ॥

नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः ॥७५॥

विपाकसंवेदनात् कर्माशयक्षये शरीरपातः प्रायणं कर्माशयान्तराच्च पुनर्जन्म भूतमात्रात्तु कर्मनिरपेक्षाच् शरीरोत्पत्तौ कस्य क्षयाच् शरीरपातः प्रायणमिति प्रायणानुपपत्तेः खलु वै नित्यत्वप्रसङ्गं विद्मः यादृच्छिके तु प्रायणे प्रायणभेदानुपपत्तिरिति। पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्ग इत्येतत्समाधित्सुराह ॥

भा०:–विपाक संवेदन से कर्माशय का नाश होने से शरीर का जो पात है उसे मरण कहते। दूसरे कर्माशय से फिर जन्म होता कर्म निरपेक्ष भूतों से शरीर की उत्पत्ति मानोगे तो किस के नाश से शरीर का पात कहोगे और उस के न होने से नित्यत्व हो जायगा। जो कहो अकस्मात् मरण हो जाता तो फिर उस में भेद न होना चाहिये और मुक्ति दशा में फिर जन्म का प्रसंग हो जायगा ॥ ७५ ॥ इस का उत्तर चाहने वाला कहता है कि:—

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत्स्यात् ॥७६॥

यथा अणोः श्यामता नित्या अग्निसंयोगेन प्रतिबिद्धा न पुनरुत्पद्यते एवमदृष्टकारितं शरीरमपवर्गे पुनर्नोत्पद्यतइति ॥

भा०:–जैसे परमाणुओं का कालापन अग्नि से नष्ट हुआ फिर उत्पन्न नहीं होता ऐसे ही अदृष्ट कारित शरीर मोक्ष काल में उत्पन्न नहीं होगा ॥७६॥

नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ॥७७॥

नायमस्ति दृष्टान्तः कस्माद् अकृताभ्यागमप्रसङ्गात्। अकृतं प्रमाणतोऽनुपपन्नं तस्याभ्यागमोऽभ्युपपत्तिर्व्यवसायः एतच् श्रद्दधानेन प्रमाणतोऽनुपपन्नं मन्तव्यम्। तस्मान्नायं दृष्टान्तो न प्रत्यक्षं न चानुमानं किं चिदुच्यतइति। तदिदं दृष्टान्तस्य साध्यसमत्वमभिधीयत इति अथवा * नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् अणुश्यामतादृष्टान्तेनाकर्मनिमित्तां शरीरोत्पत्तिं समादधानस्याकृताभ्यागमप्रसङ्गः। अकृते सुखदुःखहेतौ कर्मणि पुरुषस्य सुखं दुःखमभ्यागच्छतीति प्रसज्येत। ओमिति ब्रुवतः प्रत्यक्षानुमानागमविरोधः। प्रत्यक्षविरोधस्तावद्भिन्नमिदं सुख दुःखं प्रत्यात्मवेदनीयत्वात् प्रत्यक्षं सर्वशरीरिणाम्। को भेदः तीव्रं मन्दं चिर-

---

* यथाश्रुति वा सूत्रार्थः। अकृतस्य कर्मणः फलोपभोगप्रसङ्गादिति। यदा खलु परमाणुगुण एव नित्यः शरीराद्यारम्भकस्तदासौ नित्यत्वान्न केन चिरिक्रयते तस्याकृतस्यैव फलं पुरुषरुपभुज्येत ततश्चायमास्तिकानां विहितनिषिद्ध प्रवृत्तिनिवृत्त्योऽनर्थकः शास्त्रप्रणयनं चानर्थकं भवेदिति भावः। ता० टी० ॥

माणु नानाप्रकारमेकप्रकारमिति एवमादिर्विशेषः। नचास्ति प्रत्यात्मनियतः सुखदुःखहेतुविशेषः न चासति हेतुविशेषे फलविशेषो दृश्यते। कर्मनिमित्ते तु सुखदुःखयोगे कर्मणां तीव्रमन्दतोपपत्तेः कर्मसञ्चयानां चोत्कर्षापकर्षभावाच्च नानाविधैकविधभावाच्च कर्मणां सुखदुःखभेदोपपत्तिः। सोऽयं हेतुभेदाभावाद् दृष्टः सुखदुःखभेदो न स्यादिति प्रत्यक्षविरोधः। तथाऽनुमानविरोधः दृष्टं हि पुरुषगुणव्यवस्थानात्सुखदुःखव्यवस्थानम्। यः खलु चेतनावान् साधननिर्वर्तनीयं सुखं बुद्ध्वा तदीप्सन् साधनावाप्तये प्रयतते स सुखेन युज्यते न विपरीतः। यश्च साधननिर्वर्तनीयं दुःखं बुद्ध्वा तज्जिहासुः साधनपरिवर्जनाय यतते स च दुःखेन त्यज्यते न विपरीतः। अस्ति चेदं यत्नमन्तरेण चेतनानां सुखदुःखव्यवस्थानं तेनापि चेतनगुणान्तरव्यवस्थाकृतेन भवितव्यमित्यनुमानम्। तदेतदकर्मनिमित्ते सुखदुःखयोगे विरुध्यते इति। तच्च गुणान्तरमसंवेद्यत्वाददृष्टं विपाककालानियमाच्चाव्यवस्थितम्। बुद्ध्यादयस्तु संवेद्याश्चापवर्गिणश्चेति। अथागमविरोधः बहु खल्विदमार्षमृषीणामुपदेशजातमनुष्ठानपरिवर्जनाश्रयमुपदेशफलं च शरीरिणां वर्णाश्रमविभागेनानुष्ठानलक्षणा प्रवृत्तिः परिवर्जनलक्षणा निवृत्तिः तच्चोभयमेतस्यां दृष्टौ नास्ति कर्म सुचरितं दुश्चरितं वा कर्मनिमित्तः पुरुषाणां सुखदुःखयोग इति विरुध्यते। सेयं पापिष्ठानां मिथ्यादृष्टिरकर्मनिमित्ता शरीरसृष्टिरकर्मनिमित्तः सुखदुःखयोग इति॥

इति वात्स्यायनीये न्यायभाष्ये तृतीयोऽध्यायः॥ ३ ॥

भा०:–परमाणुओं के कालापन के दृष्टान्त से अकर्म निमित्त शरीर की उत्पत्ति के समाधान करने वाले को 'अकृत के अभ्यागम' प्रसङ्ग आता है। अर्थात् सुख, दुःख के कारण कर्मों के किये बिना ही पुरुष को सुख और दुःख भोगने पड़ने हैं। यह दोष आवेगा जो स्वीकार करो तो प्रत्यक्ष अनुमान और शास्त्र प्रमाण का विरोध आवेगा। पहिले प्रत्यक्ष प्रमाण का विरोध प्रत्येक आत्मा को भिन्न २ सुख दुःख का अनुभव होता है कि किसी को विशेष सुख किसी को साधारण सुख, किसी को अधिक सुख, किसी को न्यून, कोई चिरकाल सुख भोगता, किसी का सुख थोड़े समय तक रहता इत्यादि विशेषता दीख पड़ती है। और प्रत्येक आत्मा के लिये नियत सुख और दुःख का विशेष कारण नहीं है। और बिना विशेष कारण के फल में विशेषता कहीं देखने में नहीं आती तब कारण का भेद न रहने पर भी सुख दुःख में भेद मानना पड़ेगा। यही प्रत्यक्ष विरोध है। पुरुष गुण की व्यवस्था से सुख और दुःख की व्यवस्था लोक में देख पड़ती है जैसे जो बुद्धिमान् सुख को साधन से साध्य जान कर जो सुख जिस साधन से

सिद्ध होसकता उस सुख के सिद्ध करने की इच्छा कर ।। हुआ उसी साधन की प्राप्ति के लिये यत्न करता है वह सुख पाता है, अन्य नहीं। इसी प्रकार जो दुःख को साधन से साध्य जान जिस साधन से जो दुःख होता, उस दुःख से बचने के लिये उसके साधन को त्यागने के लिये यत्न करता है वह दुःख से बचता है उससे उलटा करने वाला दुःख पाता है। इस दृष्टान्त से अनुमान होता है कि जीवों को यहां विन यत्न जो सुख दुःख होते हैं उनका कोई कारण अवश्य होगा। और दृष्ट कारण कोई देखने में नहीं आता इससे अतिरिक्त पूर्व जन्म के कर्मों के और कारण कौन हो सकता है? यह बात शरीर प्राप्ति को कर्म निमित्तक न मानने से विरुद्ध होती. यही अनुमान का विरोध है। प्रामाणिक महात्मा ऋषियों ने कितने कर्मों के करने का. और बहुतेरे कर्मों के छोड़ने का. उपदेश किया है और उस उपदेश का फल विद्यमान है क्योंकि देहधारी वर्ण और आश्रम के विभाग से अपने कर्त्तव्यों में प्रवृत्त और अनुचित कर्मों से निवृत्त होते हैं। यह बात देह सृष्टिको कर्म निमित्तक न मानने से सिद्ध नहीं होती यह आगम विरोध हुआ. इसलिये शरीर की उत्पत्ति और जीव को सुख दुःख का संयोग कर्म निमित्तक नहीं यह नास्तिकों की कल्पना मिथ्या है यह सिद्ध हो गया ॥ ७१ ॥

न्यायशास्त्र के तृतीय अध्याय का अनुवाद पूरा हुआ ॥

मनसोनन्तरा प्रवृत्तिः परीक्षितव्या तत्र खलु यावद्धर्माधर्माश्रयशरीरादि परीक्षितं सर्वा सा प्रवृत्तेः परीक्षेत्याह ।

मन के अनन्तर (बाद) प्रवृत्ति की परीक्षा करनी चाहिये पर धर्म और अधर्म का आश्रय शरीर आदि की परीक्षा की गई। यह प्रवृत्ति की पहिली परीक्षा है।

प्रवृत्तिर्यथोक्ता ॥१॥

तथा परीक्षितेति । प्रवृत्त्यनन्तरास्तर्हि दोषाः परीक्ष्यन्तामित्यत आह ।

भा०:—प्रवृत्ति के लक्षण (अ० १।१।१७) में कहे गये हैं उसी प्रकार जानना इस लिये इसकी परीक्षा की आवश्यकता नहीं ॥ १ ॥

तथा दोषाः ॥२॥

परीक्षिता इति । बुद्धिसमानाश्रयत्वादात्मगुणाः प्रवृत्तिहेतुत्वात् पुनर्भवप्रतिसंधानसामर्थ्याच्च संसारहेतवः संसारस्यानादित्वादनादिना प्रबन्धेन प्रवर्तन्ते मिथ्याज्ञाननिवृत्तिस्तत्त्वज्ञानात् तन्निवृत्तौ रागद्वेषप्रबन्धोच्छेदेऽपवर्ग इति । प्रादुर्भावतिरोधानधर्मका इत्येवमाद्युक्तं दोषाणामिति । प्रवर्त्तनालक्षणा दोषा इत्युक्तं । तथा चेमे मानेर्ष्यासूयाविचिकित्सामत्सरादयः ते कस्मान्नोपसंख्यायन्त इत्यत आह

भा०:—उसी प्रकार दोष की अर्थात् इन की परीक्षा हुई । बुद्धि के समान आश्रय होने से आत्मा के गुण हैं और प्रवृत्ति के कारण हैं पुनर्जन्म के कारण होने से संसार के हेतु संसार के अनादित्व से अनादि प्रबन्ध से वर्त्तते हैं । तत्वज्ञान से मिथ्याज्ञान की निवृत्ति फिर उससे राग, द्वेष, के प्रबन्ध का उच्छेद तदनन्तर मुक्ति होती है । प्रादुर्भाव, तिरोध, धर्मक दोष प्रवर्त्तना लक्षण दोष यह प्रथम कह चुके हैं, मान, ईर्ष्या असूया, संदेह, मत्सर आदि भी दोष हैं । इनकी क्यों नहीं गणना की इस लिये कहते हैं कि:—

तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ॥३॥

तेषां दोषाणां त्रयो राशयस्त्रयः पक्षाः रागपक्षः कामो * मत्सरः स्पृहा तृष्णा लोभ इति, द्वेषपक्षः क्रोध ईर्ष्याऽसूया द्रोहोऽमर्ष इति मोहपक्षो मिथ्याज्ञानं विचिकित्सा मानः प्रमाद इति त्रैराश्यान्नोपसंख्यायन्त इति । लक्षणस्य तर्ह्यभेदात्त्रित्वमनुपपन्नं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् आसक्तिलक्षणो रागः अमर्षलक्षणो द्वेषः मिथ्याप्रतिपत्तिलक्षणो मोह इति । एतत्प्रत्यात्मवेदनीयं सर्वशरीरिणां विजानात्ययं शरीरी रागमुत्पन्नमस्ति मेऽध्यात्मं रागधर्म इति विरागं च विजानाति नास्ति मेऽध्यात्मं रागधर्म इति एवमितरयोरपीति । मानेर्ष्यासूयाप्रभृतयस्तु त्रैराश्यमनुपतिता इति नोपसंख्यायन्ते ।

---

* कामः स्त्रीगतोऽभिलाषः । प्रक्षीयमाणवस्त्वपरित्यागेच्छा मत्सरः । अस्वपरस्वादानेच्छा स्पृहा । पुनर्भवप्रतिसंधानहेतुभूता तृष्णा । प्रमाणविरुद्धपरद्रव्यापहारेच्छा लोभः । न्या०वा० ।

* उन दोषों की तीन राशि हैं अर्थात् एक एक के भीतर अनेक दोष

राग १

* काम=रति की इच्छा को कहते हैं, रति का अर्थ विजातीय संयोगकी इच्छा को कहते जैसे स्त्री पुरुष को परस्पर संयोग की अभिलाषा।

मत्सर=जिस वस्तु में अपना कोई प्रयोजन न हो, पर उस में प्रतिसन्धान करना पराये के अनुकूल पदार्थ के निवारण या घात की इच्छा या दूसरे की गुण की घात की इच्छा करने को कहते हैं।

स्पृहा=धर्म से अविरुद्ध किसी पदार्थ के पाने की इच्छा करनी।

तृष्णा=यह मेरा पदार्थ नष्ट न हो-ऐसी इच्छा को तृष्णा कहते हैं। 'कृपणता' भी इसी के भीतर है (उचित व्यय न करके धन की रक्षा करनी-'कृपणता' है)।

लोभ=धर्म के विरुद्ध (अन्याय या पाप से) दूसरे के पदार्थ की इच्छा करनी।

माया=दूसरे को ठगने की इच्छा करनी।

दम्भ=कपट से (ऊपरी वेष बनाकर अर्थात बाहर और भीतर और) धर्मात्मा बन कर अपनी प्रसिद्धि या प्रतिष्ठालाभ की इच्छा करनी।

द्वेष २

क्रोध=अपनी इच्छा के विरुद्ध होने में जो नेत्रों के लाल होने आदि का हेतु-दोष विशेष है।

ईर्ष्या=जो वस्तु सुगमता से आवे और पर को मिल सके ऐसी वस्तु को दूसरे को मिलने में द्वेष रखना।

असूया-दूसरे के गुणों में दोष लगाना या द्वेष रखना।

द्रोह=नाश करने के लिये जो द्वेष होता उसे द्रोह कहते हैं। द्रोह हिंसा का कारण है।

अमर्ष=किसी ने दूसरे के साथ अपराध किया है परन्तु वह (जिस पर अपराध किया) उस का बदला नहीं ले सकता (असमर्थ होने से) इस पर जो क्रोध होता उस को अमर्ष कहते हैं।

अभिमान=शत्रु या अपकार करने वाले पर कुछ न कर सकने से अपने पर क्रोध होना और अहंभाव भी अभिमान है।

मोह ३

मिथ्याज्ञान=अयथार्थ ज्ञान या जो वस्तु जैसी हो उस के उलटा जानना।

संशय=एक धर्मी (वस्तु) में विरुद्ध धर्मों का ज्ञान आदि (जैसा कि अ०१।१।२३)

तर्क=जैसा कि अ० १ । १ । ४० में कहा गया है।

मान=जो गुण अपने में न हो उस को भ्रम से अपने में समझ कर आप को श्रेष्ठ जानना।

प्रमाद=कर्त्तव्य जानने पर भी न करने की बुद्धि होनी एवं अकर्त्तव्य जानने पर भी करने की बुद्धि होनी।

भय=दुःख के हेतु आने पर उसे छोड़ न सकने का ज्ञान भय है।

शोक=इष्ट वियोग होने में उसे लाभ या प्राप्त न कर सकने का ज्ञान।

हैं। तीन राशि जैसे=१ राग, २ द्वेष और ३ मोह। इन में से राग के भीतर १ काम २ मत्सर, ३ स्पृहा, ४ तृष्णा, ५ लोभ, ६ माया और ७ दम्भ आदि। द्वेष के भीतर-१ क्रोध, २ ईर्ष्या, ३ असूया, ४ द्रोह, ५ अमर्ष, और ६ अभिमान आदि और मोह के भीतर-१ मिथ्याज्ञान, २ संशय, ३ तर्क, ४ मान, ५ प्रमाद, ६ भय, और ७ शोक है। अब प्रत्येक के भिन्न २ लक्षण कहते हैं;-'राग' कहते किसी पदार्थ में आसक्ति होने (लिप्त) को, अमर्ष या इच्छा विरुद्ध होने से क्रोध होना 'द्वेष' का लक्षण है और मिथ्या बुद्धि की सिद्धि होनी 'मोह' का लक्षण है॥३॥

नैकप्रत्यनीकभावात् ॥ ४ ॥

नार्थान्तरं रागादयः कस्मादेकप्रत्यनीकभावात् । तत्त्वज्ञानं सम्यङ्मति-रार्यप्रज्ञा संबोध इत्येकमिदं प्रत्यनीकं त्रयाणामिति ।

भा०:-एक विरोधी होने से राग आदि भिन्न नहीं तत्त्वज्ञान सम्यङ्मति आर्यप्रज्ञा, संबोध, जिसे कहते हैं वह एक ही तीनों का विरोधी है। अर्थात् तत्त्वज्ञान होने से रागादि नष्ट हो जाते इसलिये तत्त्वज्ञान एक ही सर्व का विरोधी है॥ ४ ॥

व्यभिचारादहेतुः ॥ ५ ॥

एकप्रत्यनीकाः पृथिव्यां श्यामादयोऽग्निसंयोगेनैकेन एकयोनयश्च पाकजा इति सति चार्थान्तरभावे ॥

भा०.-व्यभिचार (दोष) होने से उक्त हेतु ठीक नहीं, पृथिवी में श्याम आदि रूपों का एक अग्नि संयोग विरोधी है पर वे परस्पर भिन्न हैं। अर्थात् यह कहना कि एक विरोधी होने से रागादि अभिन्न हैं, यह ठीक नहीं, क्योंकि जिनका एक विरोधी हो वह परस्पर पृथक् नहीं, ऐसा नियम नहीं है॥ ५ ॥

तेषां मोहः पापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥ ६ ॥

मोहः पापः पापतरो वा द्वावभिप्रेत्योक्तं कस्माद् नामूढस्येतरोत्पत्तेः अमूढस्य रागद्वेषौ नोत्पद्येते मूढस्य तु यथासंकल्पमुत्पत्तिर्विषयेषु रञ्जनीयाः संकल्पा रागहेतवः कोपनीयाः संकल्पा द्वेषहेतवः उभये च संकल्पा न मिथ्याप्रतिपत्तिलक्षणत्वान्मोहादन्ये ताविमौ मोहयोनी रागद्वेषाविति। तत्त्वज्ञानाच्च मोहनिवृत्तौ रागद्वेषानुत्पत्तिरित्येकप्रत्यनीकभावोपपत्तिः। एवं च कृत्वा तत्त्वज्ञानाद् दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति व्याख्यातमिति। प्राप्तस्तर्हि।

भा०:-रागादिकों में मोह बहुत बुरा है, क्योंकि जिसको मोह नहीं होता उसे राग, द्वेष, भी नहीं होते। विषयों में रंजनीय संकल्प राग के कारण कोपनीय संकल्प द्वेष के हेतु होते हैं। दोनों प्रकार के संकल्प मिथ्या प्रतिपत्ति रूप होने से मोह से भिन्न नहीं। राग और द्वेष का मोह कारण है। तत्त्व के ज्ञान से मोह की निवृत्ति होने पर राग, द्वेष उत्पन्न नहीं होते हैं। अब सर्वथा सिद्ध हुआ कि केवल मोह ही से राग आदि उत्पन्न होते और मोह का नाशक तत्त्वज्ञान है। इस लिये अ० १।१। सू० २ में जो लिखा गया है कि दुःख, जन्म आदि के उत्तरोत्तर नष्ट होने से मोक्ष होता है तो फिरः- ॥ ६ ॥

निमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तरभावो दोषेभ्यः ॥ ७ ॥

अन्यद्धि निमित्तमन्यच्च नैमित्तिकमिति दोषनिमित्तत्वाददोषो मोहइति।

भा०:-जो मोह दोष का निमित्तक है तो निमित्त और नैमित्तिक भिन्न २ होने से मोह दोष नहीं हो सकता है ॥ ७ ॥

न दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ॥ ८ ॥

प्रवर्त्तनालक्षणा दोषा इत्यनेन दोषलक्षणेनावरुध्यते दोषेषु मोह इति।

भा०:-दोष के (अ० १।१। सू० १८) लक्षण में मोह की दोषों में गिनती है फिर मोह दोष क्यों नहीं कहा जाय ॥ ८ ॥

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानामप्रतिषेधः ॥९॥

द्रव्याणां गुणानां वा ऽनेकविधविकल्पो निमित्तनैमित्तिकभावे तुल्यजातीयानां दृष्ट इति।

दोषानन्तरं प्रेत्यभावस्तस्याऽसिद्धिः। आत्मनो नित्यत्वात्। न खलु नित्यं किं चिज्जायते म्रियतइति जन्ममरणयोर्नित्यत्वादात्मनो ऽनुपपत्तिः उभयं च प्रेत्यभाव इति तत्रायं सिद्धान्तवादः।

भा०:-एक सजातीय पदार्थ और गुणों का अनेक प्रकार का कार्य कारण भाव देखने में आता इस लिये प्रतिषेध (खण्डन) नहीं हो सकता। अब प्रेत्यभाव की परीक्षा किये जाती है ॥ ९ ॥

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥ १० ॥

नित्योऽयमात्मा प्रैति पूर्वशरीरं जहाति म्रियतइति प्रेत्य च पूर्वशरीरं हित्वा भवति जायते शरीरान्तरमुपादत्तइति तच्चैतदुभयं पुनरुत्पत्तिः प्रेत्य-

भावः (इत्यत्रोक्तं पूर्वशरीरं हित्वा शरीरान्तरोपादानं प्रेत्यभाव) इति तच्चै-तन्नित्यत्वे संभवतीति । यस्य तु सत्त्वोत्पादः सत्त्वनिरोधः प्रेत्यभावः तस्य कृतहानमकृताभ्यागमश्च दोषः । उच्छेदहेतुवादे ऋष्युपदेशाश्चानर्थका इति । कथमुत्पत्तिरिति चेत् ।

भा०:–जो यह शंका हो कि आत्मा को नित्य कहा है और नित्य आत्मा का जन्म लेना एवं मरना नहीं हो सकता। और प्रेत्यभाव (अ० १।१।१९) मर कर जन्म लेने को कहते हैं तो इस से नित्य आत्मा का प्रेत्यभाव सिद्ध हो नहीं सकता। इस पर कहते हैं कि आत्मा नित्य है इस लिये 'प्रेत्यभाव' सिद्ध होता है । नित्य यह आत्मा नित्य होने से पूर्व शरीर को छोड़ता और दुसरे शरीर को ग्रहण करता है इसी का नाम प्रेत्यभाव है किन्तु ऐसा नहीं समझना कि आत्मा नष्ट हो जाता और पुनः उत्पन्न होता यह आत्मा के नित्यत्व से हो सकता है * जो शरीर की उत्पत्ति और उसके नाश ही को ' प्रेत्यभाव ' मानते उनके मत में कृतहान अर्थात् किये हुए कर्मों का नाश (न भोगना) और बिन किये कर्मों की प्राप्ति (भोग करना) यह दोष आता है और ऋषियों के उपदेश या वेदवाक्य भी निरर्थक होते हैं। उत्पत्ति क्यों कर होती है ऐसा कहो तो:–॥ १० ॥

व्यक्ताद्व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ॥ ११ ॥

केन प्रकारेण किंधर्मकात्कारणाद् व्यक्तं शरीराद्युत्पद्यतइति व्यक्ताद्भूत-समाख्यातात्पृथिव्यादितः परमसूक्ष्मान्नित्याद्व्यक्तं शरीरेन्द्रियविषयोपकर-णाधारं प्रज्ञातं द्रव्यमुत्पद्यते । व्यक्तं च खल्विन्द्रियग्राह्यं तत्सामान्यात्कार-णमपि व्यक्तम् । किं सामान्यम् रूपादिगुणयोगः रूपादिगुणयुक्तेभ्यः पृथि-व्यादिभ्यो नित्येभ्यो रूपादिगुणयुक्तं शरीराद्युत्पद्यते। प्रत्यक्षप्रामाण्याद् दृष्टो हि रूपादिगुणयुक्तेभ्यो मृत्प्रभृतिभ्यस्तथाभूतस्य द्रव्यस्योत्पादः तेन चादृष्टस्या नुमानमिति । रूपादीनामन्वयदर्शनात् प्रकृतिविकारयोः पृथिव्यादीनां नि-त्यानामतीन्द्रियाणां कारणभावोनुमीयतइति ।

भा०:–परमसूक्ष्म नित्य व्यक्त पृथिवी आदि से शरीर इन्द्रिय विषयोप करण का आधार व्यक्त द्रव्य उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष प्रमाण से इन्द्रिय ग्राह्य

---

* अर्थात् जो वस्तु अनित्य होता है वह होकर नष्ट हो जाता । पुनः उसकी उत्पत्ति नहीं होती । अगर आत्मा अनित्य होता तो पुनः उसका एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर में जाना क्योंकर होता ।

व्यक्त है उस के तुल्य जातीय होने से कारण भी व्यक्त होना चाहिये रूप आदि गुणों का योग ही समानता है अर्थात् रूप आदि गुण युक्त नित्य पृथिवी आदि भूतों से रूप आदि गुण युक्त शरीर उत्पन्न होता है, क्योंकि रूपादि गुण युक्त मृत्तिकादि से वैसे ही रूपादि गुणयुक्त वस्तुओं की उत्पत्ति देखने में आती है इस से अनुमान होता है कि व्यक्त से व्यक्त उत्पन्न होता है ॥ ११ ॥

न घटाद् घटानिष्पत्तेः ॥ १२ ॥

इदमपि प्रत्यक्षं न खलु व्यक्ताद् घटाद् व्यक्तो घट उत्पद्यमानो दृश्यते इति व्यक्ताद् व्यक्तस्यानुत्पत्तिदर्शनान्न व्यक्तं कारणमिति ।

भा०:—जब व्यक्त घट से व्यक्त घट उत्पन्न नहीं होता यह प्रत्यक्ष देखने में आता है, तो व्यक्त कारण से व्यक्त उत्पन्न होता है ऐसा जो कहा सो नहीं हो सकता ॥ १२ ॥

व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः ॥ १३ ॥

न ब्रूमः सर्वं सर्वस्य कारणमिति किन्तु यदुत्पद्यते व्यक्तं द्रव्यं तत्तथाभूतादेवोत्पद्यतइति । व्यक्तं च तन्मृद् द्रव्यं कपालसंज्ञकं यतो घट उत्पद्यते न चैतन्निन्हुवानः क्वचिदभ्यनुज्ञां लब्धुमर्हतीति । तदेतत्तत्त्वम् । अतः परं प्रावादुकानां दृष्टयः प्रदर्श्यन्ते ।

भा०:—हम यह नहीं कहते कि सब सब का कारण है किन्तु जो व्यक्त द्रव्य उत्पन्न होता है वह उसी प्रकार के व्यक्त कारण से उत्पन्न होता है. जैसे मट्टीरूप द्रव्य जिससे घट हुआ है वह व्यक्त है इसको कोई छिपा नहीं सकता यह तत्त्व है ॥ १३ ॥

अब वादियों के विचार दिखलाये जाते हैं ।

अभावाद्भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥ १४ ॥

असतः सदुत्पद्यतइत्ययं पक्षः कस्मात् । उपमृद्य प्रादुर्भावात् उपमृद्य बीजमङ्कुर उत्पद्यते नानुपमृद्य न चेद्बीजोपमर्दोऽङ्कुरकारणम् अनुपमर्देऽपि बीजस्याङ्कुरोत्पत्तिः स्यादिति । अत्राभिधीयते ।

भा०:—शून्यवादी—अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है । यह किसी का पक्ष है क्योंकि बीज के नाश से अंकुर उत्पन्न होता है, बीज के उपमर्द (तोड़ कर नाश) बिना अंकुर नहीं निकलता है इस लिये व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति माननी आवश्यक नहीं ॥ १४ ॥

व्याघातादप्रयोगः ॥ १५ ॥

उपमृद्य प्रादुर्भावादित्ययुक्तः प्रयोगो व्याघातात्। यदुपमृद्नाति न तदुपमृद्य प्रादुर्भवितुमर्हति विद्यमानत्वात्। यच्च प्रादुर्भवति न तेनाप्रादुर्भूतेनाविद्यमानेनोपमर्द इति।

भा०:-तुम्हारे कहने में व्याघात दोष आता है, इससे उक्त प्रयोग ठीक नहीं। जो उपमर्दन करता है वह अब विद्यमान होगा तब उपमर्दक नहीं हो सकता क्योंकि प्रगट होने के पूर्व वह विद्यमान ही नहीं फिर उपमर्दक कैसे होगा ? ॥ १५ ॥

नातीतानागतयोः कारकशब्दप्रयोगात् ॥ १६ ॥

अतीते चानागते चाविद्यमाने कारकशब्दाः प्रयुज्यन्ते। पुत्रो जनिष्यते जनिष्यमाणं पुत्रमभिनन्दति, पुत्रस्य जनिष्यमाणस्य नाम करोति, अभूत्कुम्भो भिन्नं कुम्भमनुशोचति भिन्नस्य कुम्भस्य कपालानि, अजाताः पुत्राः पितरं तापयन्तीति बहुलं भाक्ताः प्रयोगा दृश्यन्ते। का पुनरियं भक्तिः आनन्तर्यं भक्तिः आनन्तर्यसामर्थ्यादुपमृद्य प्रादुर्भावार्थः प्रादुर्भविष्यन्नङ्कुर उपमृद्नातीति भाक्तं कर्तृत्वमिति।

भा०:-तुम ने जो हमारे पक्ष (कि बीज का नाश करके अंकुर उत्पन्न होता है) का खण्डन किया है सो ठीक नहीं क्योंकि अतीत और अनागत में कारक शब्दों का प्रयोग होता है, जैसे पुत्र उत्पन्न होगा, उत्पन्न होने वाले पुत्र का नाम रखता है। घट हुआ फूटे घड़े का शोच करता, इत्यादि बहुधा गौण प्रयोग देखने में आते हैं। प्रगट होने वाला अंकुर उपमर्दन करता है इस प्रकार अंकुर को गौण कर्तृत्व है इस लिये उक्त दोष नहीं आसकता है ॥१६॥

न विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः ॥ १७ ॥

न विनष्टाद्बीजादङ्कुर उत्पद्यत इति तस्मान्नाभावाद्भावोत्पत्तिरिति।

भा०:—नष्ट बीज से अंकुर नहीं होता इसलिये अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इसी से नाश करके उत्पन्न होना औपचारिक (गौण वा भाक्त) प्रयोग जानना ॥ १७ ॥

क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ॥ १८ ॥

उपमर्दप्रादुर्भावयोः पौर्वापर्यनियमः क्रमः स खल्वभावाद्भावोत्पत्तेर्हेतुर्निर्दिश्यते स च न प्रतिषिध्यत इति। व्याहतव्यूहानामवयवानां पूर्वव्यूहनि-

वृत्तौ व्यूहान्तराद् द्रव्यनिष्पत्तिर्नाभावात् । बीजावयवाः कुतश्चिन्निमित्तात्प्रादुर्भूतक्रियाः पूर्वव्यूहं जहति व्यूहान्तरं चापद्यन्ते व्यूहान्तरादङ्कुर उत्पद्यते। दृश्यन्ते खलु अवयवास्तत्संयोगाश्चाङ्कुरोत्पत्तिहेतवः । न चानिवृत्ते पूर्वव्यूहे बीजावयवानां शक्यं व्यूहान्तरेण भवितुमित्युपमर्दप्रादुर्भावयोः पौर्वापर्यनियमः क्रमः तस्मान्नाभावाद्भावोत्पत्तिरिति । न चान्यद्बीजावयवेभ्योऽङ्कुरोत्पत्तिकारणमित्युपपद्यते बीजोपादाननियम इति । अथापर आह—

भा०:—क्रम के निर्देश से अभाव का खण्डन नहीं है। उपमर्द (नाश) और प्रादुर्भाव (उत्पत्ति) का जो पौर्वापर्य नियम होता है उसको क्रम कहते हैं। वह अभाव से भाव की उत्पत्ति में हेतु है, और उसका निषेध नहीं है। अवयवों की पहिली बनावट नष्ट होती और दूसरी बनावट से वस्तु उत्पन्न होती है अर्थात् बीज के अवयवों में किसी कारण से (जल सींचना) क्रिया उत्पन्न होने से पूर्व रचना का (रूप आकृति) त्याग और दूसरी के प्रगट होने से अंकुर प्रगट होता है। बीज के अवयव और उनके संयोग अंकुर की उत्पत्ति में कारण देख पड़ते हैं। पहिली रचना के नाश बिन बीज के अवयवों में दूसरी रचना हो नहीं सकती, इससे उपमर्द और प्रादुर्भाव के पौर्वापर्य नियम को क्रम होना सिद्ध हुआ इस लिये अभाव से भाव की उत्पत्ति नहीं और बीज के अवयवों से भिन्न अंकुर की उत्पत्ति में कोई कारण देखने में नहीं आता इसलिये बीज ही अङ्कुर का उपादान कारण है अर्थात् कारण से कार्य होता है यह सिद्ध हुआ ॥ १८ ॥ दूसरा कहता है कि:—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥ १९ ॥

पुरुषोऽयं समीहमानो नावश्यं समीहाफलं प्राप्नोति तेनानुमीयते पराधीनं पुरुषस्य कर्मफलाराधनमिति यदधीनं स ईश्वरः । तस्मादीश्वरः कारणमिति।

भा०:—अब कर्म से शरीर की उत्पत्ति होती है और सुख दुःख का भोग होता है इस पर कोई कहता है कि यह पुरुष (जीवात्मा) उद्योग करता है। पर नियम से फल नहीं पाता इस से अनुमान होता है कि पुरुषार्थ का फल पराधीन (दूसरे के देने से मिलता) है जिस के अधीन है वह ईश्वर है, इसलिये यह सिद्ध हुआ कि शरीर की उत्पत्ति में ईश्वर कारण है ॥ १९ ॥

न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः ॥२०॥

ईश्वराधीना चेत्फलनिष्पत्तिः स्यादपि तर्हि पुरुषस्य समीहामन्तरेण फलं निष्पद्येतेति ।

भा०:-सो नहीं है क्योंकि जो फल का सिद्ध होना ईश्वर के अधीन होता तो बिना यत्न के भी कार्य सिद्ध हो जाता पर बिना उद्योग कोई काम सिद्ध नहीं होता इसलिये उक्त पक्ष ठीक नहीं ॥ २० ॥

तत्कारितत्वादहेतुः ॥२१॥

पुरुषकारमीश्वरोऽनुगृह्णाति फलाय पुरुषस्य यतमानस्येश्वरः फलं संपादयतीति। यदा न संपादयति तदा पुरुषकर्माफलं भवतीति। तस्मादीश्वरकारितत्वादहेतुः। पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेरिति गुणविशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः तस्यात्म (कल्पा) त्कल्पान्तरानुपपत्तिः अधर्ममिथ्याज्ञानप्रमादहान्या धर्मज्ञानसमाधिसंपदा च विशिष्टमात्मान्तरमीश्वरः तस्य च धर्मसमाधिफलमणिमाद्यष्टविधमैश्वर्यम्। संकल्पानुविधायी चास्य धर्मः प्रत्यात्मवृत्तीन् धर्माधर्मसंचयान् पृथिव्यादीनि च भूतानि प्रवर्तयति एवं च स्वकृताभ्यागमस्यालोपेन निर्माणप्राकाम्यमीश्वरस्य स्वकृतकर्मफलं वेदितव्यम्। आप्तकल्पश्चायं यथा पिताऽपत्यानां तथा पितृभूत ईश्वरो भूतानाम्। न चात्मकल्पादन्यः कल्पः सम्भवति। न तावदस्य बुद्धिं विना कश्चिद्धर्मो लिङ्गभूतः शक्य उपपादयितुम्। आगमाच्च द्रष्टा बोद्धा सर्वज्ञाता ईश्वर इति। बुद्ध्यादिभिश्चात्मलिङ्गैर्निरुपाख्यमीश्वरं प्रत्यक्षानुमानागमविषयातीतं कः शक्त उपपादयितुम्। स्वकृताभ्यागमलोपेन च प्रवर्तमानस्यास्य यदुक्तं प्रतिषेधजातमकर्मनिमित्ते शरीरसर्गे तत्सर्वं प्रसज्यत इति। अपर इदानीमाह।

भा०:-कर्म के करने से जो कर्म फल होता है, उसमें कर्म आपही फलका कारण नहीं हो सकता; क्योंकि कर्म जड़ है। जड़ आप ही फल सम्पादन में समर्थ नहीं हो सकता, कर्म जो फल को करता है वह ईश्वर के कराने या ईश्वर के कारण होने से करता है। इस से बिना कर्म के फल की सिद्धि नहीं होती इस से हेतु से कर्म ही को कारण कहना ठीक नहीं है क्योंकि जो कर्म ही कारण होता तो भी कभी निष्फल न होता। जीव के मनोरथ अनुसार कर्म सफल नहीं होता इस से जीव का कर्म या व्यापार प्रधान कारण नहीं है। प्रधान कारण अदृष्ट अर्थात् कर्मानुसार फल होने में ईश्वर कृत नियम है और उसका सहायक व्यापार है। जिस कर्म का फल मनोरथ के अनुसार नहीं होता वह अदृष्ट के अभाव से नहीं होता अब यह जानना चाहिये कि वह ईश्वर कौन है। वह ईश्वर सब को उपासना करने के योग्य जगत् की उत्पत्ति और जगत् का पालन और संहार का कर्त्ता वेदों के द्वारा हित और अहित का उपदेश करने

वाला सर्व शक्तिमान् नित्य ज्ञान युक्त जीवों से भिन्न सब प्राणियों के पिता के समान है। यह बात आप्त के उपदेश से सिद्ध है। पुरुष कर्म को करता है परन्तु कर्म का फल [illegible] आधीन है धर्म अधर्म का फल देने वाला ईश्वर है। यह अनुमान से सिद्ध होता है। और पुरुषों के कर्मों के फल नहीं मिलने ही से इस सृष्टि का कर्ता ईश्वर है यह भी अनुमान किया जाता है क्योंकि जब जीवों का कर्म निष्फल होता है पुरुष अपने मनोरथ के प्राप्त करने में समर्थ नहीं है तब भारी विचित्र अनेक नियम सयुक्त सृष्टि उत्पन्न करने में कैसे समर्थ होसक्ता है। असमर्थ पराधीन अल्पज्ञ (जीव) से इस सृष्टि का उत्पन्न होना प्रमाण से सिद्ध नहीं हो सकता और पञ्च भूत आदि जड़ से ऐसी सृष्टि विचित्र कार्य्य और नियम युक्त हो नहीं सकती इससे चेतन सर्व शक्तिमान् ईश्वर का कर्म का फल देने वाला जीवों के कर्मानुसार सृष्टि की उत्पत्ति में सृष्टि का निमित्त कारण और उत्पादक है और पृथिवी आदि भूत उपादान कारण हैं। यह अनुमान से सिद्ध होता है।

अब जो विना कारण स्वभाव ही से उत्पन्न होना मानते हैं उनके मत का खण्डन करने के लिये पूर्व पक्ष रूप से उनका मत दिखलाते हैं।—॥२१॥

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात् ॥२२॥

अनिमित्ता शरीराद्युत्पत्तिः (कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात) कण्टकस्य तैक्ष्ण्यं पर्वतधातूनां चित्रता ग्राव्णां श्लक्ष्णता निर्निमित्तं चोपादानं दृष्टं तथा शरीरसर्गोऽपीति ।

भा०:—अब तीसरे का मत कहते हैं स्वभाव वादी विना किसी कारण से सृष्टि का होना मानना कांटे का तीखापन, पहाड़ी धातुओं की विचित्रता, और पत्थरों का चिकनापन विन कारण का देख पड़ता है इस से पदार्थों की उत्पत्ति विना कारण सिद्ध होती है। इसी प्रकार शरीर की सृष्टि स्वभाव ही से होती है ॥ २२ ॥

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः ॥ २३ ॥

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिरित्युच्यते यतश्चोत्पद्यते तन्निमित्तम् । अनिमित्तस्य निमित्तत्वान्नानिमित्ता भावोत्पत्तिरिति ।

भा०:-पदार्थों की उत्पत्ति विना निमित्त के होती है, यदि ऐसा हो, तो जिस पदार्थ से उत्पन्न होना है, वही उस का निमित्त है, तो अनिमित्त को निमित्त होने से भाव [illegible] उत्पत्ति अनिमित्तक न हुई ॥ २३ ॥

निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः ॥२४॥

अन्यद्धि (निमित्तमन्यश्च) निमित्तप्रत्याख्यानं न च प्रत्याख्यानमेव प्रत्याख्येयं यथा ऽनुदकः कमण्डलुरिति नोदकप्रतिषेध उदकं भवतीति । स खल्वयं वादो ऽकर्मनिमित्तः शरीरादिसर्ग इत्येतस्मान्न भिद्यते अभेदात्तत्प्रतिषेधेनैव प्रतिषिद्धो वेदितव्य इति । अन्ये तु मन्यन्ते ।

भा०:-निमित्त और वस्तु है तथा निमित्त का खण्डन कुछ और पदार्थ है । खण्डन और जिस का खण्डन किया जाय वे दो एक ही नहीं होते, अनुदक कमण्डलु ऐसा कहने से, जल का निषेध समझा जाता न कि जल का निषेध जल होता है। पर यह पूर्व पक्ष शरीरादिकों की रचना कर्म निमित्तक नहीं, उस से पृथक् सिद्ध नहीं होता इसलिये उसके खण्डन से ही इस का खण्डन जानना चाहिये । बहुत से लोग यों कहते हैं कि-॥२४॥

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥ २५ ॥

किमनित्यं नाम यस्य कदाचिद् भावस्तदनित्यम् । उत्पत्तिधर्मकमनुत्पन्नं नास्ति विनाशधर्मकं चाविनष्टं नास्ति । किं पुनः सर्वं भौतिकं च शरीरादि अभौतिकं च बुद्ध्यादि तदुभयमुत्पत्तिविनाशधर्मकं विज्ञायते तस्मात्तत्सर्वमनित्यमिति ।

भा०: जिस का कभी भाव हो और फिर न रहे वह अनित्य है । उत्पत्ति धर्मक अनुत्पन्न नहीं होता और विनाश धर्मक अविनाशी नहीं होता फिर क्या सिद्ध हुआ कि सब भौतिक (जो पृथिवी आदि पांच भूतों से बने हैं) वे शरीरादि और अभौतिक बुद्धि आदि दोनों उत्पत्ति विनाश धर्मक होने से— अनित्य हैं ॥ २५ ॥

नानित्यतानित्यत्वात् ॥ २६ ॥

यदि तावत्सर्वस्यानित्यता नित्या तन्नित्यत्वान्न सर्वमनित्यम् । अथानित्या तस्यामविद्यमानायां सर्वं नित्यमिति ।

भा०:-जो सब की अनित्यता नित्य है, तो उस की नित्यता से सब अनित्य नहीं हो सकते, और जो अनित्य है तो उस के न होने से सब नित्य हैं ॥२६॥

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत् ॥२७॥

तस्या अनित्यताया अप्यनित्यत्वम् । कथं यथा अग्निर्दाह्यं विनाश्यानुविनश्यति एवं सर्वस्यानित्यता सर्वं विनाश्यानुविनश्यतीति ।

भा०:-इस अनित्यता का भी अनित्य होना अग्नि की नाईं है जैसे अग्नि जलाने योग्य वस्तु का नाश कर, आप भी नष्ट हो जाता है, वैसे ही सब की अनित्यता सब का विनाश कर पीछे आप भी नष्ट हो जाती है। ॥२७॥

नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धिव्यवस्थानात् ॥२८॥

अयं खलु वादो नित्यं प्रत्याचष्टे नित्यस्य च प्रत्याख्यानमनुपपन्नम्। कस्माद् यथोपलब्धि व्यवस्थानाद् यस्योत्पत्तिविनाशधर्मकत्वमुपलभ्यते प्रमाणतस्तदनित्यं यस्य नोपलभ्यते तद्विपरीतम्। न च परमसूक्ष्माणां भूतानामाकाशकालदिगात्ममनसां तद्गुणानां च केषां चित्सामान्यविशेषसमवायानां चोत्पत्तिविनाशधर्मकत्वं प्रमाणत उपलभ्यते तस्मान्नित्यान्येतानीति। अयमन्य एकान्तः।

भा०:-नित्य पदार्थ का खण्डन नहीं हो सकता। जिस के उत्पत्ति, और विनाश प्रमाण से सिद्ध हैं वह अनित्य है और जिस के उत्पत्ति और विनाश प्रमाण से सिद्ध न हो सकें, वह नित्य है। और परम सूक्ष्म भूत आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन, उन के गुणों का और किही सामान्य विशेष समवायों का उत्पत्ति और विनाश धर्मक होना प्रमाण से सिद्ध नहीं होता इसलिये ये नित्य हैं। अब जिन लोगों के मत से सब पदार्थ नित्य हैं-उस की समीक्षा करते हैं ॥ २८ ॥

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥२९॥

भूतमात्रमिदं सर्वं तानि च नित्यानि भूतोच्छेदानुपपत्तेरिति।

भा०:-सब नित्य हैं पांच भूतों के नित्य होने से ये सब भूतमात्र हैं और वे नित्य हैं इसलिये सभी नित्य हैं ॥ २९ ॥

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥३०॥

उत्पत्तिकारणं चोपलभ्यते विनाशकारणं च तत्सर्वनित्यत्वे व्याहन्यतइति।

भा०:-घट आदि पदार्थों के उत्पत्ति और विनाश का कारण देख पड़ता है इसलिये सब पदार्थ नित्य नहीं हो सकते ॥ ३० ॥

तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ॥३१॥

तस्योत्पत्तिविनाशकारणमुपलभ्यतइति मन्यसे न तद्भूतलक्षणहीनमर्थान्तरं गृह्यते भूतलक्षणावरोधाद्भूतमात्रमिदमित्ययुक्तोयं प्रतिषेध इति।

भा०:-भूत के लक्षण के अवरोध (सम्बन्ध) रहने से प्रतिषेध नहीं हो

सकता । अर्थात् जिस के उत्पत्ति और विनाश का कारण प्राप्त होता मानते हो, उस में भी परमाणुओं की भांति भूतत्व विद्यमान है इसलिये नित्यत्व का निषेध नहीं हो सकता ॥ ३१ ॥

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ॥३२॥

कारणसमानगुणस्योत्पत्तिः कारणं चोपलभ्यते । न चैतदुभयं नित्यविषयं न चोत्पत्तितत्कारणोपलब्धिः शक्या प्रत्याख्यातुं न चाविषया काचिदुपलब्धिः । उपलब्धिसामर्थ्यात्कारणेन समानगुणं कार्यमुत्पद्यतइत्यनुमीयते । स खलूपलब्धेर्विषय इति । एवं च तल्लक्षणावरोधोपपत्तिरिति । उत्पत्तिविनाशकारणप्रयुक्तस्य ज्ञातुः प्रयत्नो दृष्ट इति । प्रसिद्धश्चावयवी तद्धर्मा उत्पत्तिविनाशधर्मा चावयवी सिद्ध इति । शब्दकर्मबुद्ध्यादीनां चाव्याप्तिः पञ्चभूतनित्यत्वात् तल्लक्षणावरोधाच्चेत्यनेन शब्दकर्मबुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्च न व्याप्ताः तस्मादनैकान्तः ।

*स्वप्नविषयाभिमानवद् मिथ्योपलब्धिरिति चेद् भूतोपलब्धौ तुल्यम् ।

यथा स्वप्ने विषयाभिमान एवमुत्पत्तिकारणाभिमानइति एवं चैतद्भूतोपलब्धौ तुल्यं पृथिव्याद्युपलब्धिरपि स्वप्नविषयाभिमानवत् प्रसज्यते ।

* पृथिव्याद्यभावे सर्वव्यवहारविलोप इति चेत् तदितरत्र समानम् ।

उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धिविषयस्याप्यभावे सर्वव्यवहारविलोप इति। सोयं नित्यानामतीन्द्रियत्वादविषयत्वाच्चोत्पत्तिविनाशयोः स्वप्नविषयाभिमानवदित्यहेतुरिति । अवस्थितस्योपादानस्य धर्ममात्रं निवर्त्तते धर्ममात्रमुपजायते स खलूत्पत्तिविनाशयोर्विषयः । यच्चोपजायते तत्प्रागप्युपजननादस्ति यच्च निवर्त्तते तन्निवृत्तमप्यस्तीति एवं च सर्वस्य नित्यत्वमिति ॥

भा०:—कारण के समान गुण वाले की उत्पत्ति और उस के कारण की उपलब्धि (ज्ञान) होने से तुम्हारा कहना युक्त नहीं है । क्योंकि उत्पत्ति और उस के कारण की उपलब्धि का खण्डन नहीं हो सकता । विन विषय का कोई ज्ञान नहीं होता इसलिये कारण के तुल्य गुण वाला कार्य उत्पन्न होता है ऐसा अनुमान किया जाता । उत्पत्ति विनाशवाला कारण प्रेरित ज्ञाता (जानने वाले) का प्रयत्न देख पड़ता है । उत्पत्ति विनाश धर्मवाला

अवयवी (अङ्गवाला) सिद्ध होता है। शब्द, कर्म, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, और प्रयत्न. ये उक्त हेतु से व्याप्त नहीं, इसलिये व्यभिचार (दोष) आता है। यदि कहो कि स्वप्न विषय अभिमान की नाईं उपलब्धि मिथ्या है, तो पृथिवी आदिकों की उपलब्धि भी स्वप्न विषयक अभिमान की नाईं मिथ्या हो जायगी । जो कहो कि पृथिवी आदि के अभाव होने से सब व्यवहार लुप्त हो जायंगे, तो उत्पत्ति विनाश कारण उपलब्धि विषय के न होने से भी सब व्यवहारों का लोप (गायब) हो जायगा। विद्यमान उपादान का केवल धर्म निवृत्त हो जाता और धर्म मात्र ही उत्पन्न होता है। वही उत्पति और विनाश का विषय है और जो उत्पन्न होता है, वह उत्पत्ति के पूर्व भी विद्यमान है और जो निवृत्त होता वह निवृत्त भी वर्त्तमान है। और इस प्रकार सभी की नित्यता सिद्ध होती है ॥ ३२ ॥

न व्यवस्थानुपपत्तेः ॥ ३३ ॥

अयमुपजनः इयं निवृत्तिरिति (व्यवस्था नोपपद्यते उपजातनिवृत्तयोर्विद्यमानत्वात् । अयं धर्म उपजातो ऽयं निवृत्त इति) सद्भावाविशेषादव्यवस्था इदानीमुपजननिवृत्ती नेदानीमिति कालव्यवस्था नोपपद्यते सर्वदा विद्यमानत्वाद् । अस्य धर्मस्योपजननिवृत्ती नास्येति व्यवस्थानुपपत्तिः उभयोरविशेषाद् । अनागतोऽतीत इति च कालव्यवस्थानुपपत्तिः वर्तमानस्य सद्भावलक्षणत्वाद् । अविद्यमानस्यात्मलाभ उपजनो विद्यमानस्यात्महानं निवृत्तिरित्येतस्मिन्सति नैते दोषाः । तस्माद्यदुक्तं प्रागप्युपजननादस्ति निवृत्तं चास्ति तदयुक्तमिति। अयमन्य एकान्तः ।

भा०:—उत्पन्न और निवृत्त के विद्यमान होने से यह 'उत्पत्ति' तथा यह 'निवृत्ति' ऐसी व्यवस्था सिद्ध नहीं होती है । अब उत्पत्ति और निवृत्ति हैं और अब नहीं हैं। यह काल की व्यवस्था नहीं बनती, क्योंकि सदा वर्त्तमान हैं भविष्यत्, और अभूत, इत्यादि काल की व्यवस्था भी सिद्ध न होगी । अविद्यमान को स्वरूप की प्राप्ति उत्पत्ति और स्वरूप हानि निवृत्ति इस प्रकार मानने से उक्त दोष नहीं आते, इसलिये उत्पत्ति के पूर्व भी विद्यमान और निवृत्त भी है यह कहना ठीक नहीं है ॥ ३३ ॥

सर्वं पृथग्भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥३४॥

सर्वं नाना न कश्चिदेको भावो विद्यते । कस्माद् भावलक्षणपृथक्त्वात् । भावस्य लक्षणमभिधानं येन लक्ष्यते भावः स समाख्याशब्दः तस्य पृथग्विषय-

स्थात्। सर्वो भावसगाख्याशब्दः समूहवाची कुम्भ इति संज्ञाशब्दो गन्धरसस्पर्शसमूहे बुध्नपार्श्वग्रीवादिसमूहे च वर्त्तते निदर्शनमात्रं चेदमिति।

भा०:—'सब अनेक हैं' कोई एक पदार्थ नहीं है क्योंकि जिन से पदार्थ लक्षित जान पड़ता है वे अनेक हैं अर्थात् सब शब्द समुदाय के वाचक हैं, जैसे 'कुंभ' यह शब्द, गंध, रस, स्पर्श, इन के समुदाय मजमुआ और पार्श्व ग्रीवा, आदिकों का वाचक है। अर्थात् इसी एक कुंभ शब्द के गंध आदि अनेक अर्थ हैं इस का वाच्य कोई एक अवयवी (अङ्ग वाला) नहीं है यह उदाहरण मात्र कहा गया है. ॥ ३४॥

नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ॥ ३५ ॥

अनेकविधलक्षणैरिति मध्यमपदलोपी समासः। गन्धादिभिश्च गुणैर्बुध्नादिभिश्चावयवैः संबद्ध एको भावो निष्पद्यते गुणव्यतिरिक्तं च द्रव्यमवयवातिरिक्तश्चावयवीति। विभक्तन्यायं चैतदुभयमिति। अथापि।

भा०:—अनेक लक्षणों से एक भाव की सिद्धि होने से उक्त कथन ठीक नहीं अर्थात् गंध आदि गुण, ग्रीवा आदि अवयवों (अङ्ग) से संबद्ध, एक भाव उत्पन्न होता है गुणों से भिन्न द्रव्य और अवयवों से पृथक् अवयवी कहाता है॥३५॥

लक्षणव्यवस्थानादेवाप्रतिषेधः ॥ ३६ ॥

न कश्चिदेको भाव इत्ययुक्तः प्रतिषेधः। कस्मात् लक्षणव्यवस्थानादेव। यदिह लक्षणं भावस्य संज्ञाशब्दभूतं तदेकस्मिन्व्यवस्थितं यं कुम्भमद्राक्षं तं स्पृशामि यमेवास्प्राक्षं तं पश्यामीति। नाणुसमूहो गृह्यतइति अणुसमूहे चागृह्यमाणे यद्गृह्यते तदेकमेवेति।

*अथाप्येतदनूक्तं नास्त्येको भावो यस्मात्समुदायः।

एकानुपपत्तेर्नास्त्येव समूहः नास्त्येको भावो यस्मात्समूहे भावशब्दप्रयोगः एकस्य चानुपपत्तेः समूहो नोपपद्यते एकसमुच्चयो हि समूह इति व्याहतत्वादनुपपन्नं नास्त्येको भाव इति। यस्य प्रतिषेधः प्रतिज्ञायते समूहे भावशब्दप्रयोगादिति हेतुं ब्रुवता स एवाभ्यनुज्ञायते। एकसमुच्चयो हि समूह इति। समूहे भावशब्दप्रयोगादिति च समूहमाश्रित्य प्रत्येकं समूहिप्रतिषेधो नास्त्येको भाव इति। सोऽयमुभयतो व्याघाताद्यत्किञ्चनवाद इति। अयमपर एकान्तः॥

भा०:—'कोई एक भाव नहीं' यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि संज्ञा भूत जो भाव का लक्षण है, वह एक ही में स्थित है जैसे यह बोध होना कि जिस

घट को मैंने देखा था, उसी को छूता हूं। जिस घट का स्पर्श किया था उसी को अब देखता हूं। यह व्यवहार परमाणु समुदाय में नहीं होता। जिसका ज्ञान होता है वह एक ही वस्तु है। एक भाव होना नहीं यह प्रतिज्ञा कर के समूह में भाव शब्द के प्रयोग होने से यह हेतु दिया, इस से जिस बात का निषेध किया वही सिद्ध होती है क्योंकि एक के राशि का नाम ही समूह है तब समूह का आश्रय कर समूही का प्रतिषेध करना सर्वथा असंगत है। तात्पर्य यह है कि जब एक न मानोगे तब समुदाय किस का कहोगे ॥ ३६ ॥

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः ॥ ३७ ॥

यावद्भावजातं तत्सर्वमभावः। कस्माद् भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः। असन् गौरश्वात्मना ऽनश्वो गौरसन्नश्वो गवात्मना ऽगौरश्व इत्यसत्प्रत्ययस्य प्रतिषेधस्य च भावशब्देन सामानाधिकरण्यात् सर्वमभाव इति।

* प्रतिज्ञावाक्ये पदयोः प्रतिज्ञाहेत्वोश्च व्याघातादयुक्तम्।

अनेकस्याशेषता सर्वशब्दस्यार्थो भावप्रतिषेधश्चाभावशब्दस्यार्थः। पूर्वं सोपाख्यमुत्तरं निरुपाख्यं तत्र समुपाख्यायमानं कथं निरुपाख्यमभावः स्यादिति न जात्वभावो निरुपाख्यो ऽनेकतया ऽशेषतया शक्यः प्रतिज्ञातुमिति सर्वमेतदभाव इति चेद् यदिदं सर्वमिति मन्यसे तदभाव इति एवं चेदनिवृत्तो व्याघातः अनेकमशेषं चेति नाभावप्रत्ययेन शक्यं भवितुम्। अस्ति चायं प्रत्ययः सर्वमिति तस्मान्नाभाव इति। प्रतिज्ञाहेत्वोश्च व्याघातः सर्वमभाव इति भावप्रतिषेधः प्रतिज्ञा भावेष्वितरेतराभावसिद्धेरिति हेतुः भावेष्वितरेतराभावमनुज्ञायाश्रित्य चेतरेतराभावसिद्धौ सर्वमभाव इत्युच्यते। यदि सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धिरिति नोपपद्यते अथ भावेष्वितरेतराभावसिद्धिः सर्वमभाव इति नोपपद्यते। ॥ ३७ ॥ सूत्रेण चाभिसम्बन्धः ॥

भा०:—भावों में परस्पर अभाव सिद्ध होने से सब अभाव रूप हैं। अश्व रूप से गौ नहीं है, इसी प्रकार गौ रूप से अश्व नहीं, एवं असत् प्रत्ययस्य निषेध का भाव शब्द के साथ अभेद होने से सब अभाव रूप हैं इस प्रतिज्ञा वाक्य में 'सब' और 'अभाव' इन पदों का और प्रतिज्ञा हेतु का, परस्पर विरोध होने से उक्त बात ठीक नहीं, क्योंकि अशेषपन (सम्पूर्णता) 'सब' इस शब्द का अर्थ है। और भाव का निषेध अभाव शब्द का अर्थ है पहिला सोपाख्य और दूसरा 'निरुपाख्य' तब जिस वस्तु का सम्यक् उपाख्यान किया जाय वह नि-

रूपाख्य अभाव क्यों कर हो सकता है। निरूपाख्य अभाव अनेकता या अशेषता रूप से कभी भी प्रतिज्ञात नहीं हो सकता। यदि चाहो कि यह सब अभावही है तो तुम जिसको यह सब मानते हो और अभाव कहते हो इस में व्याघात दोष आता है जैसे कोई कहै कि मेरे मुख में जिह्वा नहीं, तो उससे यही कहा जाय गा कि यदि तेरे जिह्वा नहीं तो बोलता कैसे है। इसी प्रकार सब कहना और अभाव बताना वैसा ही है। जब सब ऐसी प्रतीति है, तब अभाव कभी नहीं कह सकते हैं ॥ ३७ ॥

न स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ॥ ३८ ॥

न सर्वमभावः। कस्मात् स्वेन भावेन सद्भावाद्भावानां स्वेन धर्मेण भावा भवन्तीति प्रतिज्ञायते। कश्च स्वो धर्मो भावानां द्रव्यगुणकर्मणां सदादि सामान्यं द्रव्याणां क्रियावदित्येवमादिर्विशेषः स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्या इति च प्रत्येकं चानन्तो भेदः। सामान्यविशेषसमवायानां च विशिष्टा धर्मा गृह्यन्ते। सोयमभावस्य निरुपाख्यत्वात् संप्रत्यायको ऽर्थभेदो न स्यात्। अस्ति त्वयं तस्मान्न सर्वमभाव इति। अथ वा न स्वभावसिद्धेर्भावानामिति स्वरूपसिद्धेरिति। गौरिति प्रयुज्यमाने शब्दे जातिविशिष्टं द्रव्यं गृह्यते नाभावमात्रं यदि च सर्वमभावः गौरित्यभावः प्रतीयेत। गोशब्देन चाभाव उच्येत (तस्मात्तु गोशब्देन चाभाव उच्यते) यस्मात्तु गोशब्दप्रयोगे द्रव्यविशेषः प्रतीयते नाभावस्तस्मादयुक्तमिति। अथ वा न स्वभावसिद्धेरिति असन् गौरश्वात्मनेति गवात्मना कस्मान्नोच्यते अवचनाद्गवात्मना गौरस्तीति स्वभावसिद्धिः अनश्वो ऽश्व इति वा गौरगौरिति वा कस्मान्नोच्यते। अवचनात्स्वेन रूपेण विद्यमानता द्रव्यस्येति विज्ञायते अव्यतिरेके प्रतिषेधे च भावानामसंयोगादिसम्बन्धो व्यतिरेको ऽत्राऽव्यतिरेको ऽभेदाख्यसम्बन्धः प्रत्ययसामानाधिकरण्यं यथा न सन्ति कुण्डे बदराणीति। असन् गौरश्वात्मना ऽनश्वो गौरिति च गवाश्वयोरव्यतिरेकः प्रतिषिध्यते गवाश्वयोरेकत्वं नास्तीति। तस्मिन्प्रतिषिध्यमाने भावेन गवा सामानाधिकरण्यमसत्प्रत्ययस्यासन् गौरश्वात्मनेति यथा न सन्ति कुण्डे बदराणीति कुण्डे बदरसंयोगे प्रतिषिध्यमाने सद्भिरसत्प्रत्ययस्य सामानाधिकरण्यमिति।

भा०:—स्वकीय भाव से भावों के सद्भाव से सब अभावनहीं हो सकते। द्रव्य, गुण, कर्म, का सत् आदि सामान्य द्रव्यों का क्रियावत्व पृथिवी के स्पर्श पर्यंत और 'सामान्य' विशेष, समवाय, के विशेष धर्म ग्रहण किये जाते, सो यह भेद अभाव

के 'निरुपाख्य' होने से नहीं हो सकता और यह अर्थ भेद है, इस लिये सब अभाव नहीं कहे जा सकते। या इस सूत्र की व्याख्या यों करनी कि गो इस शब्द के प्रयोग से जाति विशिष्ट पदार्थ का ज्ञान होता है न कि केवल अभाव का यदि सब अभाव रूप ही होता, तो गो शब्द के उच्चारण से अभाव का भी बोध होता या अश्वरूप से गौ नहीं ऐसा कहते हो पर गो रूप से गौ नहीं ऐसा क्यों नहीं कहते इस लिये गो रूप से गौ है यह सिद्ध हुआ यही भावों की स्वभाव से सिद्धि है ॥ ३८ ॥

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ॥ ३९ ॥

अपेक्षाकृतमापेक्षिकम्। ह्रस्वापेक्षाकृतं दीर्घं दीर्घापेक्षाकृतं ह्रस्वं न स्वेनात्मनावस्थितं किंचित्कस्मात् अपेक्षासामर्थ्यात् तस्मान्न स्वभावसिद्धिर्भावानामिति।

भा०:—आपेक्षिक होने से स्वभाव सिद्धि नहीं हो सकती, जैसे ह्रस्व की अपेक्षा दीर्घ और ऐसे ही दीर्घ की अपेक्षा ह्रस्व कहाता। स्वरूप से स्थित कुछ भी नहीं है। अपेक्षा सामर्थ्य से भावों की स्वभाव सिद्धि नहीं है ॥ ३९ ॥

व्याहतत्वादयुक्तम् ॥ ४० ॥

यदि ह्रस्वापेक्षाकृतं दीर्घं किमिदानीमपेक्ष्य ह्रस्वमिति गृह्यते। अथ दीर्घापेक्षाकृतं ह्रस्वं दीर्घमनापेक्षिकम्। एवमितरेतराश्रययोरेकाभावेऽन्यतराभाव इति दीर्घापेक्षाव्यवस्थानुपपन्ना। स्वभावसिद्धावसत्यां समयोः परिमण्डलयोर्वा द्रव्ययोरापेक्षिके दीर्घत्वह्रस्वत्वे कस्मान्न भवतः अपेक्षायामनपेक्षायां च द्रव्ययोरभेदः। यावती द्रव्ये अपेक्षमाणे तावती एवानपेक्षमाणे नान्यतरत्र भेदः। आपेक्षिकत्वे तु सत्यन्यतरत्र विशेषोपजननः स्यादिति।

* किमपेक्षासामर्थ्यमिति चेत् द्वयोर्ग्रहणेऽतिशय ग्रहणोपपत्तिः।

द्वे द्रव्ये पश्यन्नेकत्र विद्यमानमतिशयं गृह्णाति तद्दीर्घमिति व्यवस्यति यच्च हीनं गृह्णाति तद्ध्रस्वमिति व्यवस्यतीति। एतच्चापेक्षासामर्थ्यमिति। अथेमे संख्यैकान्ताः। सर्वमेकं सदविशेषात्। सर्वं द्वेधा नित्यानित्यभेदात्। सर्वं त्रेधा ज्ञाता ज्ञानं ज्ञेयमिति सर्वं चतुर्द्धा प्रमाता प्रमाणं प्रमेयं प्रमितिरिति। एवं यथासम्भवमन्येऽपीति तत्र परीक्षा।

भा०:—व्याहत होने से उक्त कथन युक्त नहीं क्योंकि जो ह्रस्वापेक्षा

कृत दीर्घ है तो किस की अपेक्षा ह्रस्व का ग्रहण होता यदि कहोकि दीर्घ की अपेक्षा ह्रस्व का ग्रहण होता, तो अन्योन्याश्रय दोष होने से एक की भी सिद्धि न होगी इस लिये अपेक्षा व्यवस्था उत्पन्न नहीं हो सकती ॥ ४० ॥

अब यह संख्या के एकान्त हैं सब एक ही है सत् रूप से विशेषता न होने से सब दो प्रकार का है नित्य और अनित्य के भेद से सब तीन प्रकार का ज्ञाता, ज्ञान, और ज्ञेय, भेद से सब चार प्रकार का 'प्रमाता' 'प्रमाण' 'प्रमेय' और 'प्रमिति' रूप से ऐसे ही और भी यथा संभव जान लेना चाहिये। अब इन की परीक्षा की जाती है।

संख्यैकान्तासिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्यम् ॥ ४१ ॥

यदि साध्यसाधनयोर्नानात्वमेकान्तो न सिद्ध्यति व्यतिरेकाद् । अथ साध्यसाधनयोरभेदः एवमप्येकान्तो न सिध्यति साधनाभावात् न हि तम न्तरेण कस्य चित्सिद्धिरिति ।

भा०:—यदि साध्य और साधन का अनेक होना है, तो एकांत एक ही होना सिद्ध नहीं होता भेद होने से। और जो साध्य साधन का अभेद है तो भी साधन के न होने से एकांत सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि साधन के विना किसी वस्तु की सिद्धि नहीं होती है ॥ ४१ ॥

न कारणावयवभावात् ॥ ४२ ॥

न संख्यैकान्तानामसिद्धिः कस्मात्कारणस्यावयवभावात् । अवयवः कश्चित् साधनभूत इत्यव्यतिरेकः । एवं द्वैतादीनामपीति ॥

भा०:—संख्येकांत की असिद्धि नहीं, कारण के अवयवत्व से कोई अवयव साधन रूप होजायगा, इस रीति 'व्यतिरेक' नहीं आता, ऐसे ही द्वैतादि के विषय समझलेना चाहिये ॥ ४२ ॥

निरवयवत्वादहेतुः ॥ ४३ ॥

कारणस्यावयवभावादित्यहेतुः कस्मात्सर्वमेकमित्यनपवर्गेण प्रतिज्ञाय कस्य चिदेकत्वमुच्यते तत्र व्यपवृक्तोवयवः साधनभूतो नोपपद्यते एवं द्वैतादिष्वपीति । ते खल्विमे संख्यैकान्ता विशेषकारितस्यार्थभेदविस्तारस्य प्रत्याख्यानेन वर्त्तन्ते प्रत्यक्षानुमानागमविरोधान्मिथ्यावादा भवन्ति । अथाभ्यनुज्ञानेन वर्त्तन्ते समानधर्मकारितोर्थसंग्रहो विशेषकारितश्चार्थभेद इति एवमेकान्तत्वं जहतीति । ते खल्वेते तत्त्वज्ञानप्रविवेकार्थमेकान्ताः परीक्षिता इति । प्रेत्यभावानन्तरं फलं तस्मिन् ।

भा०:— 'कारणावयवभावात्' यह हेतु ठीक नहीं, क्योंकि 'निरवयवत्व होने से सब एक हैं' यह समुदित रूप से प्रतिज्ञा करके किसी का एकत्व कहते हो। वहां पृथक् भूत अवयव साधन नहीं हो सकता इसी प्रकार द्वैतादिकों में समझलेना यह संख्यैकांत विशेष रूप से किये हुये अर्थ विस्तार का प्रत्याख्यान कर नहीं सकते। प्रत्यक्ष, अनुमान, और आगम के विरोध से मिथ्यावाद हैं। यह तत्त्वज्ञान के विवेचनार्थ एकांतों की परीक्षा की गई। अब प्रेत्यभाव के पश्चात् फल की परीक्षा की जाती है॥ ४३॥

सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः॥ ४४॥

पचति दोग्धीति सद्यः फलमोदनपयसी कृषति वपतीति कालान्तरे फलं सस्याधिगम इति। अस्ति चेयं क्रिया अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इति एतस्याः फले संशयः।

भा०:—'पकाता है' 'दुहता है' इन क्रियाओं का फल 'भात' और 'दूध' तत्काल देख पड़ता है। खेत जोतना और बोना इन क्रियाओं का फल कुछ समय के बाद होता है। स्वर्ग की इच्छा जिसे हो वह अग्निहोत्र करे तो होम करना यह भी एक प्रकार की क्रिया ही है इस के फल में संदेह है॥ ४४॥

न सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वात्॥ ४५॥

स्वर्गः फलं श्रूयते तच्च भिन्ने ऽस्मिन्देहभेदादुत्पद्यतइति न सद्यः ग्रामादिकामानामारम्भफलमिति।

भा०:–इसका शीघ्र फल नहीं होता किन्तु वर्त्तमान शरीर के छोड़ने पश्चात् होता है॥ ४५॥

कालान्तरेणानिष्पत्तिर्हेतुविनाशात्॥ ४६॥

ध्वस्तायां प्रवृत्तौ प्रवृत्तेः फलं न कारणमन्तरेणोत्पत्तुमर्हति न खलु वै विनष्टात्कारणात्किं चिदुत्पद्यतइति।

भा०:–कारण (फल के हेतु यज्ञादि) के विनाश से कालान्तर में सिद्धि नहीं हो सकती। क्रिया जब नष्ट हो गई, तब कारण के बिना फल उत्पन्न नहीं हो सकता, क्योंकि नष्ट कारण से कुछ उत्पन्न नहीं होता है॥ ४६॥

प्राङ् निष्पत्तेर्वृक्षफलवत्तत्स्यात्॥ ४७॥

यथा फलार्थिना वृक्षमूले सेकादि परिकर्म क्रियते तस्मिंश्च प्रध्वस्ते पृथिवीधातुरब्धातुना संगृहीत आन्तरेण तेजसा पच्यमानो रसद्रव्यं निर्वर्तयति

स द्रव्यभूतो रसो वृक्षानुगतः पाकविशिष्टो व्यूहविशेषेण सन्निविशमानः पर्णादि फलं निर्वर्तयति एवं परिषेकादि कर्म चार्थवत्। न च विनष्टात्फलनिष्पत्तिः। तथा प्रवृत्त्या संस्कारो धर्माधर्मलक्षणो जन्यते स जातो निमित्तान्तरानुगृहीतः कालान्तरे फलं निष्पादयतीति उक्तञ्चैतत् पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिरिति। तदिदं प्राङ् निष्पत्तेर्निष्पद्यमानम् ॥

भा०:—वृक्ष फल की भांति, उत्पत्ति के पूर्व वह होगा जैसे फलार्थी वृक्ष की जड़ में सींचना (पानी पटाना) आदि क्रिया करता है उस क्रिया के नष्ट होने पर मट्टी जल से मिल कर, भीतर की आग से पकायी गयी. रस को उत्पन्न करती है वह रस, वृक्ष में प्रविष्ट होकर पाक सहित रूपान्तर को प्राप्त हुआ। पत्ता आदि फल उत्पन्न करता है. इस प्रकार सींचनादि क्रिया सफल होती, न कि विनष्ट से फल की सिद्धि होती है, वैसे ही प्रवृत्ति से धर्माधर्म लक्षण संस्कार उत्पन्न होता और फिर अन्य निमित्त से अनुगृहीत हुआ कालान्तर में फल उत्पन्न करता है। यह कहा गया है कि पूर्वकृत फल को अनुबन्ध से शरीर की उत्पत्ति होती है ॥ ४७॥

नासन्न सन्न सदसत्सदसतोर्वैधर्म्यात् ॥ ४८ ॥

प्राङ् निष्पत्तेर्निष्पत्तिधर्मकं नासद् उपादाननियमात्। कस्य चिदुत्पत्तये किं चिदुपादेयं न सर्वं सर्वस्येत्यसद्भावे नियमो नोपपद्यत इति। न सत् प्रागुत्पत्तेर्विद्यमानस्योत्पत्तिरनुपपन्नेति सदसत् न सदसतोर्वैधर्म्यात् सदित्यर्थाभ्यनुज्ञा असदिति अर्थप्रतिषेधः एतयोर्व्याघातो वैधर्म्यं व्याघाताद्व्यतिरेकानुपपत्तिरिति प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिधर्मकमसदित्यद्धा। कस्मात्।

भा०:—उत्पन्न होने के पहिले, उत्पत्ति धर्म वाला असत् नहीं, उपादान कारण के नियम होने से। किसी की उत्पत्ति के लिये कोई लिया जाता है, न कि सब की उत्पत्ति के लिये सब लिये जाते। यदि उत्पत्ति के पूर्व कार्य का अभाव होता, तो नियम न हो सकता। सत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि उत्पन्न होने के पहिले जो विद्यमान है, उस की उत्पत्ति युक्त नहीं। सदसत् रूप नहीं हो सकता, क्योंकि सत् और असत् का विरोध है जो भाव रूप है, वह अभाव क्योंकर हो सकता। अब इसका उत्तर अगले सूत्र से किया जाता है ॥ ४८ ॥

उत्पादव्ययदर्शनात् ॥ ४९ ॥*

---

* यहां पर पाठान्तर का कारण होना चाहिये कलकत्ता और बम्बे एडीशन में,, उत्पादव्ययदर्शनात्" लिखा है।

यत्पुनरुक्तं प्रागुत्पत्तेः कार्यं नासदुपादाननियमादिति ।

भा०:-उत्पत्ति के पहिले उत्पत्ति धर्म वाला असत् है यह सिद्धान्त है, क्योंकि उत्पत्ति और विनाश देखने में आते हैं । अच्छा तो फिर यह जो कहा था कि उत्पन्न होने के पूर्व कार्य सत् है, उपादान कारण के नियम होने से, इसका उत्तर क्या है सुनो ॥ ४९ ॥

बुद्धिसिद्धं तु तदसत् ॥ ५० ॥

तदसदित्यस्य समर्थं न सर्वमिति प्रागुत्पत्तेर्नियतकारणं कार्यं बुद्धया सिद्धमुत्पत्तिनियमदर्शनात् । तस्मादुपादाननियमस्योपपत्तिः सति तु कार्ये प्रागुत्पत्तेरुत्पत्तिरेव नास्तीति ।

भा०:—यह कार्य असत् है, पर बुद्धि से सिद्ध है, यह कारण इस वस्तु के उत्पन्न करने में समर्थ है, सब नहीं। यह उत्पत्ति के पूर्व नियत कारण कार्य को बुद्धि से सिद्ध जान लेता है इस लिये उपादान का नियम सिद्ध होता । यदि उत्पन्न होने के प्रथम कार्य होता, तो उसकी उत्पत्ति ही न बन सकती ॥५०॥

आश्रयव्यतिरेकाद्वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ॥ ५१ ॥

मूलसेकादि परिकर्म फलं चोभयं वृक्षाश्रयं कर्म चेह शरीरे फलं चामुत्रे-त्याश्रयव्यतिरेकादहेतुरिति ।

भा०:--आश्रय के भेद होने से वृक्ष फलोत्पत्ति का दृष्टांत ठीक नहीं इस लिये उक्त हेतु समीचीन नहीं । जड़ को सींचना आदि काम और फल इन दोनों का आधार वृक्ष है पर यज्ञादि कर्म तो इस शरीर से किये और फल उनका परलोक में हुआ इस रीति आश्रय के भेद होने से उक्त हेतु ठीक नहीं है ॥ ५२ ॥

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः ॥ ५२ ॥

प्रीतिरात्मप्रत्यक्षत्वादात्माश्रया तदाश्रयमेव कर्म धर्मसंज्ञितं धर्मस्यात्मगु-णत्वात् तस्मादाश्रयव्यतिरेकानुपपत्तिरिति ।

भा०:—प्रीति का प्रत्यक्ष आत्मा को होता है इस लिये प्रीति का आ-श्रय आत्मा है और 'कर्म' जिसे धर्म कहते वह भी आत्मा ही का गुण है इस-लिये प्रतिषेध नहीं हो सकता । अर्थात् कर्म और उस का फल दोनों आत्मा ही में विद्यमान हैं ॥ ५२ ॥

न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् ॥ ५३ ॥

पुत्रादिफलं निर्दिश्यते न प्रीतिः ग्रामकामोयजेत पुत्रकामो यजेतेति तत्र यदुक्तं प्रीतिः फलमित्येतदयुक्तमिति ।

भा०:-पुत्रादि प्राप्ति फल कहते हैं न कि प्रीति. ग्राम की कामनावाला यज्ञ करे, पुत्र की इच्छा जिसे हो यज्ञ करे, ऐसे ही स्त्री की इच्छा जिसे हो वह अमुक यज्ञ करे, इत्यादि इसलिये प्रीति को फल कहना उचित नहीं है ॥५३॥

तत्संबन्धात् फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः ॥५४॥

पुत्रादिसंबन्धात् फलं प्रीतिलक्षणमुत्पद्यतइति पुत्रादिषु फलवदुपचारः । यथान्ने प्राणशब्दोन्नं वै प्राणा इति ॥

फलानन्तरं दुःखमुद्दिष्टमुक्तं च बाधनालक्षणं दुःखमिति तत्किमिदं प्रत्यात्मवेदनीयस्य सर्वजन्तुप्रत्यक्षस्य सुखस्य प्रत्याख्यानमाहोस्विदन्यः कल्प इति । अन्य इत्याह। कथं न वै सर्वलोकसाक्षिकं सुखं शक्यं प्रत्याख्यातुम्। अयं तु जन्ममरणप्रबन्धानुभवनिमित्ताद् दुःखान्निर्विण्णस्य दुःखं जिहासतो दुःखसंज्ञाभावनोपदेशो दुःखहानार्थ इति । कया युक्त्या सर्वे खलु सत्त्वनिकायाः सर्वाण्युत्पत्तिस्थानानि सर्वः पुनर्भवो बाधनानुषक्तो दुःखसाहचर्याद्बाधनालक्षणं दुःखमित्युक्तमृषिभिर्दुःखसंज्ञाभावनमुपदिश्यते । अत्र च हेतुरुपादीयते ॥

भा०:-पुत्रादिकों के सम्बन्ध से प्रीति रूप फल उत्पन्न होता है, इसलिये उन में फल का आरोप किया गया है, जैसे अन्न में 'अन्नं वै प्राणाः' यह प्राणत्व का आरोप किया गया क्योंकि अन्न से प्राणों की [illegible] होती है । फल की परीक्षा पूरी होने पर, दुःख की परीक्षा किया जाती है ॥ [illegible] ॥

विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः ॥५५॥

जन्म जायतइति शरीरेन्द्रियबुद्धयः शरीरादीनां संस्थानविशिष्टानां प्रादुर्भाव उत्पत्तिः । विविधा च बाधना हीना मध्यमा उत्कृष्टाचेति । उत्कृष्टा नारकिणां तिरश्चां तु मध्यमा मनुष्याणां हीना देवानां हीनतरा वीतरागाणां च । एवं सर्वमुत्पत्तिस्थानं विविधबाधनानुषक्तं पश्यतः सुखे तत्साधनेषु च शरीरेन्द्रियबुद्धिषु दुःखसंज्ञा व्यवतिष्ठते । दुःखसंज्ञाव्यवस्थानात्सर्वलोकेष्वनभिरतिसंज्ञा भवति । अनभिरतिसंज्ञामुपासीनस्य सर्वलोकविषया तृष्णा विच्छिद्यते तृष्णाप्रहाणात्सर्वदुःखाद्विमुच्यतइति । यथा विषयोगात्पयो विषमिति बुध्यमानो नोपादत्ते अनुपाददानो मरणदुःखं नाप्नोति । दुःखोद्देशस्तु न सुखस्य प्रत्याख्यानं कस्मात् ॥

भा०:-अनेक विध दुःख सम्बन्ध से शरीरादिकों की उत्पत्ति दुःख रूप ही है । नारकी जीवों को उत्कृष्ट दुःख पशु पक्षियों को मध्यम, मनुष्यों को

हीन. देव और वीतरागों को हीनतर इस प्रकार सब उत्पत्ति का स्थान अनेक प्रकार के दुःख से युक्त है, ऐसे विचार कर्त्ता को सुख और उस के साधन तथा शरीर इन्द्रिय बुद्धि में दुःख संज्ञा स्थित होने से सब लोकों में अरुचि उस से सब लोकों की तृष्णा दूर होती फिर तृष्णा के नाश होने से सब दुःखों से छूटता है जैसे विष के योग से दूध को विष जानने वाला उस का ग्रहण न करने से मरण के दुःख को नहीं पाता है ॥ ५५ ॥

न सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः ॥५६॥

न खल्वयं दुःखोद्देशः सुखस्य प्रत्याख्यानम् । कस्मात् सुखस्यान्तरालनिष्पत्तेः । निष्पद्यते खलु बाधनान्तरालेषु सुखं प्रत्यात्मवेदनीयं शरीरिणां तद्शक्यं प्रत्याख्यातुमिति । अथापि ॥

भा०:-दुःखों के मध्य में सुख की प्राप्ति होने से यद्यपि उस का निषेध करना अशक्य है अर्थात् दुःख ही है सुख नहीं है । यह सिद्ध नहीं होता क्योंकि दुःख के बीच २ सुख भी होता जाता है । तो भी०:-॥ ५६ ॥

बाधनानिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः ॥५७॥

सुखस्य दुःखोद्देशेनेति प्रकरणात् पर्येषणं प्रार्थनाविषयार्जनतृष्णा पर्येषणस्य दोषो यदयं वेदयमानः प्रार्थयते तस्य प्रार्थितं न संपद्यते संपद्य वा विपद्यते न्यूनं वा संपद्यते बहुप्रत्यनीकं वा संपद्यतइत्येतस्मात्पर्येषणदोषान्नानाविधो मानसः संतापो भवत्येवं वेदयतः पर्येषणदोषाद्बाधनाया अनिवृत्तिः बाधनाऽनिवृत्तेर्दुःखसंज्ञाभावनमुद्दिश्यते अनेन कारणेन दुःखं जन्म न तु सुखस्याभावादिति । अथाप्येतदनूक्तं-कामं कामयमानस्य यदा कामः समृध्यते । अथैनमपरः कामः क्षिप्रमेव प्रबाधते ॥ अपि चेदुदनेमि समन्ताद्भूमिमालभते सगवाश्वां न स तेन धनेन धनैषी तृप्यति किं नु सुखं धनकाम इति ॥

भा०:-सुख साधन को जानने वाले को, सुख साधन में प्रवृत्ति के दोष से दुःख निवृत्ति न होने से, दुःख भावना का प्रतिषेध नहीं हो सकता । अर्थात् सुख साधन जानने वाला याचना करता उस की प्रार्थना सिद्धि न हुई, या सिद्धि हो कर बिगड़ गई वा न्यून सिद्धि हुई । अथवा बहुत विरुद्ध प्राप्त हुई इस *पर्येषण दोष से अनेक प्रकार का मन को सन्ताप होता है इस का-

---

* विषयों की प्रार्थना या विषयों के एकत्र करने की तृष्णा को 'पर्येषण, कहते हैं । और अज्ञान से सुख के लिये विषयों की प्राप्ति में यत्न करना वा विषयों की तृष्णा करनी 'पर्येषण दोष, है ।

रणा से शरीरादि दुःख रूप हैं। न कि सुख के अभाव से या किसी पदार्थ के इच्छुक की जब कामना पूरी हो जाती, तब झट दूसरी कामना इसे दुःख देने लगती है। यदि समुद्र पर्यन्त यह पृथिवी इसे मिलजाय, तो भी इस को तृप्ति न होगी किन्तु दूसरी इच्छा उत्पन्न हो जायगी ॥ ५७ ॥

दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च ॥५८॥

दुःखसंज्ञाभावनोपदेशः क्रियते। अयं खलु सुखसंवेदने व्यवस्थितः सुखं परमपुरुषार्थं मन्यते न सुखादन्यन्निःश्रेयसमस्ति सुखे प्राप्ते चरितार्थः कृतकरणीयो भवति। मिथ्यासंकल्पात्सुखे तत्साधनेषु च विषयेषु संरज्यते संरक्तः सुखाय घटते घटमानस्यास्य जन्मजराव्याधिप्रायणानिष्टसंयोगेष्टवियोगप्रार्थितानुपपत्तिनिमित्तमनेकविधं यावद्दुःखमुत्पद्यते तं दुःखविकल्पं सुखमित्यभिमन्यते। सुखाङ्गभूतं दुःखं न दुःखमनापाद्य शक्यं सुखमवाप्तुं तादर्थ्यात्सुखमेवेदमिति। सुखसंज्ञोपहतप्रज्ञो जायस्व म्रियस्व संधावेति संसारं नातिवर्त्तते। तदस्याः सुखसंज्ञायाः प्रतिपक्षो दुःखसंज्ञाभावनमुपदिश्यते दुःखानुषङ्गाद् दुःखं जन्मेति न सुखस्याभावात्। यद्येवं कस्माद् दुःखं जन्मेति नोच्यते सोयमेवं वाच्ये यदेवमाह दुःखमेव जन्मेति तेन सुखाभावं ज्ञापयतीति। जन्मविनिग्रहार्थीयो वै खल्वयमेवशब्दः कथं न दुःखं जन्म स्वरूपतः किं तु दुःखोपचाराद् एवं सुखमपीति एतदनेनैव निवर्त्यते न तु दुःखमेव जन्मेति॥

भा०:—दुःखविकल्प में सुखाभिमान से भी दुःख संज्ञा भावना का उपदेश किया जाता है। निश्चय यह जीव सुख के अनुभव में प्रवृत्त हुआ को परम पुरुषार्थ मानता है। उस के विना दूसरा कल्याण नहीं जानता। सुख की प्राप्ति होने पर अपने को कृतार्थ समझता है। मिथ्या संकल्प से सुख और उस के साधन विषयों में अनुराग करता है, फिर सुख के लिये उद्योग करता, उस से जन्म, मरण, जरा, व्याधि; अनिष्टसंयोग, इष्ट वियोग, और प्रार्थित की अनुपपत्ति निमित्तक अनेक प्रकार का दुःख उत्पन्न होता है। उस अनेक प्रकार के दुःख को सुख मान लेता, दुःख सुख का अंग है इस के विन सुख नहीं मिल सकता। सुख के ज्ञान से बुद्धि नष्ट होती इस से जन्मता, मरता, संसार से पार नहीं होता इस लिये इस सुख ज्ञान का विरोधी दुःख संभावन का उपदेश किया जाता है ॥ ५८ ॥

दुःखोपदेशानन्तरमपवर्गः स प्रत्याख्यायते।

ऋणक्लेशप्रवृत्त्यनुबन्धादपवर्गाभावः ॥५९॥

ऋणानुबन्धान्नास्त्यपवर्गः। जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणैर्ऋणवान् जायते, ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो, यज्ञेन देवेभ्यः, प्रजया पितृभ्य' इति, ऋणानि तेषामनुबन्धः स्वकर्मभिः संबन्धः कर्मसंबन्धवचनाज् जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चेति जरया ह एष तस्मात्सत्राद्विमुच्यते मृत्युना ह वेति। ऋणानुबन्धादपवर्गानुष्ठानकालो नास्तीत्यपवर्गाभावः। क्लेशानुबन्धान्नास्त्यपवर्गः क्लेशानुबद्ध एवायं म्रियते क्लेशानुबद्धश्च जायते नास्य क्लेशानुबन्धविच्छेदो गृह्यते। प्रवृत्त्यनुबन्धान्नास्त्यपवर्गः जन्मप्रभृत्ययं यावत्प्रायणं वाग्बुद्धिशरीरारम्भेणाविमुक्तो गृह्यते तत्र यदुक्तं दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति तदनुपपन्नमिति। अत्राभिधीयते। यत्तावदृणानुबन्धादिति ऋणैरिव ऋणैरिति॥

दुःख की परीक्षा कर, मुक्ति की परीक्षा में पूर्व पक्ष करते हैं:—

भा०:—ऋण, क्लेश, प्रवृत्ति इनके अनुबंध से मोक्ष का अभाव हो जायगा। अर्थात् जायमान ब्राह्मण तीन ऋणों से ऋणी कहाता है' ब्रह्मचर्य से' ऋषि, 'यज्ञ' से देव, और 'संतान से' पितरों का ऋणी होता है। यह शास्त्र की आज्ञा है और यह भी कहा है कि 'यावज्जीवन अग्निहोत्र करना चाहिये' तब ऋण के मृत्यु पर्यंत संबन्ध होने से अपवर्ग के अनुष्ठान करने को समय ही न रहा। फिर मुक्ति कैसी? क्लेशों के अनुबन्ध से अपवर्ग का अभाव है, क्योंकि क्लेशों से बन्धा हुआ यह देही उत्पन्न होता है इसलिये क्लेश संयोग का विच्छेदक भी नहीं होता। प्रवृत्ति के अनुबन्ध से भी अपवर्ग का अभाव सिद्ध होता, क्योंकि जन्म से लेकर मरण तक वाक् बुद्धि शरीर की प्रवृत्ति से रहित यह कभी नहीं होता यह जो कहा था (कि दुःखजन्म प्रवृत्ति दोष इत्यादि अ० १।१।२) सो युक्त नहीं, इस पूर्व पक्ष का समाधान करते हैं॥५९॥

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः॥६०॥

ऋणैरिति नायं प्रधानशब्दः। यत्र खल्वेकः प्रत्यादेयं ददाति द्वितीयश्च प्रतिदेयं गृह्णाति तत्रास्य दृष्टत्वात् प्रधानमृणशब्दः। न चैतदिहोपपद्यते प्रधानशब्दानुपपत्तेः गुणशब्देनायमनुवाद ऋणैरिव ऋणैरिति। प्रयुक्तोपमं चैतद् यथाऽग्निर्माणवक इति। अन्यत्र दृष्टश्चायमृणशब्द इह प्रयुज्यते यथाग्निशब्दो माणवके। कथं गुणशब्देनानुवादः निन्दाप्रशंसोपपत्तेः। कर्मलोपे ऋणीव ऋणादानान्निन्द्यते कर्मानुष्ठाने च ऋणीव ऋणदानात्प्रशस्यते स एषोपमार्थ इति। जायमान इति गुणशब्दो विपर्ययेऽनधिकारात्। जायमानो ह वै ब्रा-

मान इति च शब्दो गृहस्थः संपद्यमानो जायमान इति यदायं गृहस्थो जायते तदा कर्मभिरधिक्रियते मातृतो जायमानस्यानधिकारात्। यदा तु मातृतो जायते कुमारो न तदा कर्मभिरधिक्रियते अर्थिनः शक्तस्य (चाधिकारात्। अर्थिनः कर्मभिरधिकारः कर्मविधौ कामसंयोगस्मृतेः अग्निहोत्रं जुहुयात्स्वर्गकाम इत्येवमादि शक्तस्य) च प्रवृत्तिसंभवात् । शक्तस्य कर्मभिरधिकारः प्रवृत्तिसंभवात्। शक्तः खलु विहिते कर्मणि प्रवर्त्तते नेतर इति ॥

* उभयाभावस्तु प्रधानशब्दार्थे ।

मातृतो जायमाने कुमारे उभयमर्थिता शक्तिश्च न भवतीति। न भिद्यते च लौकिकाद्वाक्याद्वैदिकं वाक्यं प्रेक्षापूर्वकारिपुरुषप्रणीतत्वेन। तत्र लौकिकस्तावदपरीक्षकोऽपि न जातमात्रं कुमारकमेवं ब्रूयादधीष्व यजस्व ब्रह्मचर्यं चरेति। कुत एव ऋषिरुपपन्नानवद्यवादी उपदेशार्थेन प्रयुक्त उपदिशति न खलु वै नर्त्तकोऽन्धेषु प्रवर्त्तते न गायनो बधिरेष्विति। उपदिष्टार्थविज्ञानं चोपदेशविषयः यश्चोपदिष्टमर्थं विजानाति तं प्रत्युपदेशः क्रियते न चैतदस्ति जायमानकुमारके इति। गार्हस्थ्यलिङ्गं च मन्त्रब्राह्मणं कर्माभिवदति यच्च मन्त्रब्राह्मणं कर्माभिवदति तत्पत्नीसम्बन्धादिना गार्हस्थ्यलिङ्गेनोपपन्नं तस्माद्गृहस्थोऽयं जायमानोऽभिधीयते इति।

* अर्थित्वस्य चाविपरिणामे जरामर्यवादोपपत्तिः ।

यावच्चास्य फलेनार्थित्वं न विपरिणमते न निवर्तते तावदनेन कर्मानुष्ठेयमित्युपपद्यते जरामर्यवादस्तं प्रतीति जरया ह वेत्यायुषस्तुरीयस्य चतुर्थस्य प्रव्रज्यायुक्तस्य वचनं जरया ह वा एष एतस्माद्विमुच्यतइति। आयुषस्तुरीयं चतुर्थं प्रव्रज्यायुक्तं जरेत्युच्यते। तत्र हि प्रव्रज्या विधीयते अत्यन्तजरासंयोगे जरया ह वेत्यनर्थकम्। अशक्तो विमुच्यतइत्येतदपि नोपपद्यते स्वयमशक्तस्य बाह्यां शक्तिमाह। अन्तेवासी वा जुहुयाद् ब्रह्मणा स परिक्रीतः क्षीरहोता वा जुहुयाद्धनेन स परिक्रीत इति । अथापि विहितं वानूद्येत कामाद्वार्थः परिकल्प्येत विहितानुवचनं न्याय्यमिति । ऋणवानिवास्वतन्त्रो गृहस्थः कर्मसु प्रवर्त्तत इत्युपपन्नं वाक्यस्य सामर्थ्यम्। फलस्य हि साधनानि प्रयत्नविषयो न फलं तानि संपन्नानि फलाय कल्प्यन्ते । विहितं च जायमानं विधीयते च जायमानं तेन यः संबद्ध्यते सोऽयं जायमान इति ॥

* प्रत्यक्षविधानाभावादिति चेद् न प्रतिषेधस्यापि प्रत्यक्षविधानाभावादिति ।

प्रत्यक्षतो विधीयते गार्हस्थ्यं ब्राह्मणेन यदि चाश्रमान्तरमभविष्यत्तदपि व्यधास्यत् प्रत्यक्षतः। प्रत्यक्षविधानाभावान्नास्त्याश्रमान्तरमिति न प्रतिषेधस्य प्रत्यक्षविधानाभावात्। न प्रतिषेधोऽपि वै ब्राह्मणेन प्रत्यक्षतो विधीयते न सन्त्याश्रमान्तराणि एक एव गृहस्थाश्रम इति प्रतिषेधस्य प्रत्यक्षतोऽश्रवणादयुक्तमेतदिति।

* अधिकाराच्च विधानं विद्यान्तरवत्।

यथा शास्त्रान्तराणि स्वे स्वे ऽधिकारे प्रत्यक्षतो विधायकानि नार्थान्तराभावाद् एवमिदं ब्राह्मणं गृहस्थशास्त्रं स्वे ऽधिकारे प्रत्यक्षतो विधायकं नाश्रमान्तराणामभावादिति। ऋग्ब्राह्मणं चापवर्गाभिधाय्यभिधीयते। ऋचश्च ब्राह्मणानि चापवर्गाभिवादीनि भवन्ति। ऋचश्च तावत् "कर्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमिच्छमानाः। अथापरे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मभ्यो ऽमृतत्वमानशुः॥ न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः। परेण नाकं निहितं गुहायां विभ्राजते तद्यतयो विशन्ति। वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वा ऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय"। अथ ब्राह्मणानि "त्रयो धर्मस्कन्धा यज्ञो ऽध्ययनं दानमिति प्रथमस्तप एव द्वितीयो ब्रह्मचार्याचार्यकुलवासीति तृतीयो ऽत्यन्तमात्मानमाचार्यकुलेऽवसादयन्सर्व एवैते पुण्यलोका भवन्ति ब्रह्मसंस्थोऽमृतत्वमेति'। एतमेव प्रव्राजिनो लोकमभीप्सन्तः प्रव्रजन्तीति। अथो खल्वाहुः काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति तथाक्रतुर्भवति यथाक्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते (यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यत) इति कर्मभिः संसरणमुक्त्वा प्रकृतमन्यदुपदिशन्ति इति नु कामयमानोऽथाकामयमानो यो ऽकामो निष्काम आत्मकाम आप्तकामो भवति न तस्य प्राणा उत्क्रामन्ति इहैव समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति"। तत्र यदुक्तमृणानुबन्धादपवर्गाभाव इत्येतदयुक्तमिति। ये चत्वारः पथयो देवयाना इति च चातुराश्रम्यश्रुतेरकाश्रम्यानुपपत्तिः फलार्थिनश्चेदं ब्राह्मणं जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चेति कथम्।

भा०:--प्रधान शब्द की अनुपपत्ति होने से निन्दा और प्रशंसा के लिये गौण शब्द से अनुवाद किया है। अर्थात् जहां कोई पीछा-लेने-के लिये देता है और जो फिर लौटा देने के लिये लेता है, वहां ऋण शब्द का व्यवहार मुख्य है। यहां यह बात नहीं लग सकती इसलिये प्रधान शब्द की

अनुपपत्ति से यह अनुवाद गुण शब्द से किया गया है। अर्थात् ऋण के तुल्य जैसे किसी ने कहा कि यह बालक अग्नि है, तो उसका अभिप्राय यही जाना जायगा कि आग के समान तेज है, क्योंकि बालक साक्षात् अग्नि नहीं हो सकता इस लिये अग्नि शब्द का प्रधान अर्थ नहीं ले सकते; तो गौण अर्थ यानी अग्नि की नाईं यह लिया गया। यदि कहो कि गौण शब्द का प्रयोग क्यों किया? तो इसका समाधान यही है कि 'निन्दा' और 'स्तुति' के लिये जैसे ऋणी ऋण के न देने से निन्दा का पात्र होता, वैसे कर्म के त्यागने से निन्दित होता है। तथा कर्म करने से ऋण के देने से ऋणी के समान मनुष्य प्रशंसा योग्य होता है (जायमानो ह वै) इत्यादि वाक्य में 'जायमान' यह पद भी गौण है। अर्थात् जब यह गृहस्थ होता, तब उक्त ऋणों से युक्त होता, क्योंकि माता के पेट से जो जायमान, बालक, उसका तत्काल अधिकार ही नहीं है। जो अर्थी और समर्थ है उसी का अधिकार कर्म करने में है। 'स्वर्ग की जिसे इच्छा हो वह अग्निहोत्र करे' ऐसी शास्त्र की आज्ञा है और समर्थ पुरुष की कर्म में प्रवृत्ति का संभव है, अशक्त की नहीं। यदि जायमान शब्द का प्रधान अर्थ माता से उत्पन्न बालक लिया जाय तो उसमें 'अर्थीपन' और 'शक्ति' दोनों का संभव नहीं विचार पूर्वक कर्म कारी पुरुष से उक्त होने के कारण वैदिक वाक्य लौकिक वाक्य से विरुद्ध नहीं होते अपरीक्षक भी कोई लौकिक तत्काल उत्पन्न हुए बालक को 'पढ़' 'यज्ञ कर' 'ब्रह्मचर्य' धारण कर ऐसा न कहेगा। फिर उचित और निर्दोष कथन करने वाले ऋषि ऐसा अनुचित उपदेश करें यह कब हो सकता है? नाचने वाला अन्धों को नाच नहीं दिखाता और गाने वाला बैहिरों को गीत नहीं सुनाता। जो उपदिष्ट अर्थ को जानता, उसके प्रति उपदेश किया जाता है इत्यादि और भी विशेष भाष्य में लिखा है पर विस्तार के भय से नहीं लिखा।

अधिकार से विधान होता है अन्य विद्याओं की नाईं। अर्थात् जैसे अन्य शास्त्र अपने २ अधिकार में प्रत्यक्ष विधायक हैं न कि अर्थान्तर के न होने से ऐसे ही गृहस्थ शास्त्र यह ब्राह्मण अपने २ अधिकार में प्रत्यक्ष विधान करता कुछ अन्य आश्रम के अभाव से नहीं। ऋचा और ब्राह्मण अपवर्ग के विधायक हैं। (ऋग् जैसे " कर्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः " इत्यादि भाष्य में देखो) और भी हैं इन मंत्रों का सारांश यह है कि 'प्रजावान् द्रव्य की इच्छा रखने

वाले ऋषि मृत्यु को प्राप्त हुये ' और दूसरे ' विचारवान् ऋषि मोक्ष के भागी हुए ' । अब ब्राह्मण ग्रन्थ के " त्रयो धर्मस्कन्धाः " इत्यादि भाष्य में देखो बहुत से वाक्य हैं इनका सारांश यही है कि कर्त्ता जिस कामना से कर्म करता उसको प्राप्त होता, इस प्रकार कर्म से संसार प्राप्ति और निष्काम को मोक्ष प्राप्ति होती है इस से सिद्ध हुआ कि ऋण के अनुबन्ध से अपवर्ग का अभाव हो जायगा यह कथन ठीक नहीं है ॥ ६० ॥

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः ॥ ६१ ॥

'प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सार्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेदिति श्रूयते तेन विजानीमः प्रजावित्तलोकैषणा (भ्यो व्युत्थितस्य निवृत्ते फलार्थित्वे समारोपणं विधीयत इति । एवं च ब्राह्मणानि सोन्यद् व्रतमुपाकरिष्यमाणो याज्ञवल्क्यो मैत्रेयीमिति होवाच प्रव्रजिष्यन्वाअरे अहमस्मात्स्थानादस्मि हन्त ते ऽनया कात्यायन्या सहान्तं करवाणीति । अथाप्युक्तानुशासनासि मैत्रेयि एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राजेति ।

भा०:—आत्मा में अग्नि के समारोपण करने से प्रतिषेध ठीक नहीं ऐसी वेद की आज्ञा है कि प्रजापति यज्ञ कर उसमें सार्ववेद होमकर आत्मा में अग्नियों का समारोपकर, ब्राह्मण संन्यास ले इससे जाना जाता है कि सन्तान, धन, और स्वर्गादि की इच्छा त्याग कर भिक्षाचरण करते हैं ॥ ६१ ॥

पात्रचयान्तानुपपत्तेश्च फलाभावः ॥ ६२ ॥

जरामर्यं च कर्मण्यविशेषेण कल्प्यमाने सर्वस्य पात्रचयान्तानि कर्माणीति प्रसज्यते तत्रैषणाव्युत्थानं न श्रूयेत । "एतद्धस्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणा अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते किं प्रजया करिष्यामो येषां नोयमात्मायं लोक इति ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणा) याश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्तीति,,। एषणाभ्यश्च व्युत्थितस्य पात्रचयान्तानि कर्माणि नोपपद्यन्ते इति । नाविशेषेण कर्त्तुः प्रयोजकफलं भवतीति चातुराश्रम्यविधानाच्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्रेष्वैकाश्रम्यानुपपत्तिः ॥

*तदप्रमाणमिति चेद् न (प्रमाणेन प्रामाण्याभ्यनुज्ञानात् ॥

प्रमाणेन खलु ब्राह्मणेनेतिहासपुराणस्य प्रामाण्यमभ्यनुज्ञायते "ते वा खल्वेते अथर्वाङ्गिरस एतदितिहासपुराणमभ्यवदन्नितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानांवेद इति । तस्मादयुक्तमेतदप्रामाण्यमिति । अप्रामाण्ये च धर्मशास्त्रस्य प्राणभृतां

व्यवहारलोपाल्लोकोच्छेदप्रसङ्गः । दृष्टृप्रवक्तृसामान्याच्चाप्रामाण्यानुपपत्तिः । यएव मन्त्रब्राह्मणस्य द्रष्टारः प्रवक्तारश्च ते खल्वितिहासपुराणस्य धर्मशास्त्रस्य चेति। विषयव्यवस्थानाच्च यथाविषयं प्रामाण्यमन्यो मन्त्रब्राह्मणस्य विषयो ऽन्यश्चेतिहासपुराणधर्मशास्त्राणामिति । यज्ञो मन्त्रब्राह्मणस्य लोकवृत्तमितिहासपुराणस्य लोकव्यवहारव्यवस्थापनं धर्मशास्त्रस्य विषयः। तत्रैकेन सर्वं व्यवस्थाप्यतइति यथाविषयमेतानि प्रमाणानीन्द्रियादिवदिति । यत्पुनरेतत् क्लेशानुबन्धस्याविच्छेदादिति ।

भा०:—इच्छारहित को पारब्रयनपर्यन्त कर्म नहीं हो सकते इस से उनका फल भी नहीं होता है।

'इतिहास', 'पुराण,' और धर्मशास्त्र में चार आश्रमों के विधान होने से एक ही आश्रम नहीं हो सकता। यदि कहो इतिहासादिकों का प्रमाण नहीं, तो यह कदापि सिद्ध नहीं होसकता, क्योंकि प्रामाणिक ब्राह्मण ग्रन्थ ने इन को प्रमाण माना है जैसे (ते वा खल्वेते इत्यादि) इस ब्राह्मणोक्त वाक्य से इतिहास पुराण का प्रामाण्य स्पष्ट सिद्ध होता है और धर्मशास्त्र को प्रमाण न मानोगे तो प्राणियों के सब व्यवहारों के लोप होने से जगत् नष्ट हो जायगा और 'संहिता' (मन्त्र भाग वेद) तथा ब्राह्मण ग्रन्थ के जो द्रष्टा और व्याख्यान कर्त्ता हैं, वेही इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्र के भी हैं। विषयों की व्यवस्था से अपने २ विषय में प्रामाण्य है जैसे इन्द्रियों की प्रमाणता अपने २ विषय में अलग २ है। रूप के प्रत्यक्ष में आंख को, गन्ध के प्रत्यक्ष में घ्राण को, ऐसे ही और इन्द्रियों का भी प्रमाणत्व समझ लो। ऐसे ही संहिता और ब्राह्मण का विषय यज्ञ, लोक वृत्तान्त इतिहास और पुराण का और लोक व्यवहार की व्यवस्था धर्मशास्त्र का विषय है। फिर जो यह कहा था कि क्लेश के लगातार रहने से 'अपवर्ग' का होना असम्भव है इस का खण्डन अगले सूत्र से करते हैं ॥ ६२ ॥

सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावादपवर्गः ॥ ६३ ॥

यथा सुषुप्तस्य खलु स्वप्नादर्शने रागानुबन्धः सुखदुःखानुबन्धश्च विच्छिद्यते तथापवर्गेऽपीति। एतच्च ब्रह्मविदो मुक्तस्यात्मनो रूपमुदाहरन्तीति। यदपि प्रवृत्त्यनुबन्धादिति ।

भा०:—जिस प्रकार सोते हुए पुरुष को स्वप्न के (नहीं देखने से) दुःख नहीं होता उसी प्रकार ज्ञानी को रागादि के अभाव (न होने) में भी सुख

और दुःख का सम्बन्ध नहीं रहता। यह ब्रह्म के जानने वाले मुक्त आत्मा का रूप दिखलाया है ॥ ६३ ॥

न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ॥ ६४ ॥

प्रक्षीणेषु रागद्वेषमोहेषु प्रवृत्तिर्न प्रतिसन्धानाय। प्रतिसन्धिस्तु पूर्वजन्मनिवृत्तौ पुनर्जन्म तच्चादृष्टकारितं तस्यां प्रहीणायां पूर्वजन्माभावे जन्मान्तराभावोऽप्रतिसन्धानमपवर्गः।

* कर्मवैफल्यप्रसङ्गइति चेद् न कर्मविपाकप्रतिसंवेदनस्याप्रत्याख्यानात्।

पूर्वजन्मनिवृत्तौ पुनर्जन्म न भवतीत्युच्यते न तु कर्मविपाकप्रतिसंवेदनं प्रत्याख्यायते सर्वाणि पूर्वकर्माणि ह्यन्ते जन्मनि विपच्यन्तइति।

भा०:—क्लेश के कारण क्लेशरूप राग आदि जिस पुरुष (जीवात्मा) के हीन हो गये हैं, वह यदि कर्म करे भी तो भी उसकी कर्म में प्रवृत्ति पुनर्जन्म का कारण नहीं होती। राग सहित प्रवृत्ति का फल भोगना पड़ता, राग रहित का नहीं ऐसा मानने में कर्म के विकल्प होने के संशय में, कर्म का विकल्प मान कर, यह उत्तर देते हैं कि पूर्व जन्म निवृत्त होने पर पुनर्जन्म होना कहा है। कर्म विपाक के फल या भोग का खण्डन नहीं है। पूर्वजन्म के कर्म परिपाक को प्राप्त होकर फल देने वाले होते हैं, परन्तु मुक्त पुरुष के पुनर्जन्म न होने से विपाक को प्राप्त कर्मों का भोग मुक्त को नहीं होता ॥६४॥

न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ॥ ६५ ॥

नोपपद्यते क्लेशानुबन्धविच्छेदः कस्मात्क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात्। अनादिरियं क्लेशसन्ततिः न चानादिः शक्य उच्छेत्तुमिति। अत्र कश्चित्परीहारमाह।

भा०—क्लेशसन्तति के (राग आदि अनुबन्ध) के स्वाभाविकत्व से क्लेशानुबन्ध का विच्छेद नहीं हो सकता अर्थात् यह रागादि परम्परा अनादि है इस लिये इस का अभाव नहीं हो सकता ॥ ६५ ॥ कोई एकदेशी इस का समाधान करता है कि:—

प्रागुत्पत्तेरभावानित्यत्ववत्स्वाभाविकेऽप्यनित्यत्वम् ॥ ६६ ॥

यथानादिः प्रागुत्पत्तेरभाव उत्पन्नेन भावेन निवर्त्यते एवं स्वाभाविकी क्लेशसन्ततिरनित्येति।

भा०:—जैसे उत्पत्ति के पहिले अनादि 'प्रागभाव' उत्पन्न भाव (पदार्थ) से निवृत्त हो जाता है वैसे ही स्वाभाविक क्लेशसन्तति भी अनित्य है ॥६६॥

अणुश्यामतानित्यत्ववद्वा ॥ ६७ ॥

अपर आह । यथाऽनादिरणुश्यामता अथ चाग्निसंयोगादनित्या तथा क्लेशसन्ततिरपीति । सतः खलु धर्मो नित्यत्वमनित्यत्वं च तत्त्वं भावे ऽभावे भाक्तमिति । अनादिरणुश्यामतेति हेत्वभावादयुक्तम् । अनुत्पत्तिधर्मकमनित्यमिति नात्र हेतुरस्तीति । अयं तु समाधिः ।

भा०:–अन्य कोई कहता है कि जैसे आप की अनादि 'अणुश्यामता' अग्नि के संयोग से अनित्य (नष्ट) हो जाती वैसे ही क्लेश परम्परा भी अनित्य है । भावरूप पदार्थ का ' नित्यत्व ' और ' अनित्यत्व ' धर्म है, अभाव में गौण है । परमाणु की श्यामता अनादि है इस में हेतु न होने से ठीक नहीं है । अनुत्पत्ति धर्म वाला अनित्य है, इसमें कोई हेतु नहीं है । सिद्धान्ती समाधान करता है ॥ ६७ ॥

न संकल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ॥ ६८ ॥

कर्मनिमित्तत्वादितरेतरनिमित्तत्वाच्चेति समुच्चयः । मिथ्यासंकल्पेभ्यो रञ्जनीयकोपनीयमोहनीयेभ्यो रागद्वेषमोहा उत्पद्यन्ते कर्म च सत्त्वनिकायनिर्वर्तकं नैयमिकान् रागद्वेषमोहान्निर्वर्तयति नियमदर्शनात् । दृश्यते हि कश्चित्सत्त्वनिकायो रागबहुलः कश्चिन्मोहबहुल इति इतरेतरनिमित्ता च रागादीनामुत्पत्तिः । मूढो रज्यति मूढः कुप्यति रक्तो मुह्यति कुपितो मुह्यति । सर्वमिथ्यासंकल्पानां तत्त्वज्ञानादनुत्पत्तिः कारणानुत्पत्तौ च कार्यानुत्पत्तेरिति । रागादीनामत्यन्तमनुत्पत्तिरिति । अनादिश्च क्लेशसन्ततिरित्ययुक्तं सर्व इमे खल्वाध्यात्मिका भावा अनादिना प्रबन्धेन प्रवर्तन्ते शरीरादयो न जात्वत्र कश्चिदनुत्पन्नपूर्वः प्रथमत उत्पद्यतेऽन्यत्र तत्त्वज्ञानात् । न चैवं सत्यनुत्पत्तिधर्मकं किञ्चिद्व्ययधर्मकं प्रतिज्ञायतइति । कर्म च सत्त्वनिकायनिर्वर्तकं तत्त्वज्ञानकृतान्मिथ्यासंकल्पविघातान्न रागाद्युत्पत्तिनिमित्तं भवति सुखदुःखसंवित्तिफलं तु भवतीति ।

इतिश्रीवात्स्यायनीयेन्यायभाष्येचतुर्थाध्यायस्याद्यमान्हिकम्।

भा०:–रागादिकों का निमित्त संकल्प है इस लिये उक्त कथन ठीक नहीं है । अर्थात् तत्त्वज्ञान होने से सब प्रकार के मिथ्या संकल्प उत्पन्न नहीं होते, फिर कारण के उत्पन्न न होने से कार्य भी उत्पन्न नहीं होता, इस लिये रागादिकों की सर्वथा उत्पत्ति नहीं होती है । फिर अपवर्ग होना सहज है ॥६८॥

न्यायशास्त्र के चतुर्थ अध्याय के प्रथम आह्निक का अनुवाद पूरा हुआ ॥

किं नु खलु भोः यावन्तो विषयास्तावत्सु प्रत्येकं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते अथ क्व चिदुत्पद्यतइति। कश्चात्र विशेषः। न तावदेकैकत्र यावद्विषयमुत्पद्यते ज्ञेयानामानन्त्यात्। नापि क्व चिदुत्पद्यते यत्र नोत्पद्यते तत्रानिवृत्तो मोह इति मोहशेषप्रसङ्गः। न चान्यविषयेण तत्त्वज्ञानेनान्यविषयो मोहः शक्यः प्रतिषेद्धुमिति। मिथ्याज्ञानं वै खलु मोहो न तत्त्वज्ञानस्यानुत्पत्तिमात्रं तच्च मिथ्याज्ञानं यत्र विषये प्रवर्त्तमानं संसारबीजं भवति स विषयस्तत्त्वतो ज्ञेय इति। किं पुनस्तन्मिथ्याज्ञानम् अनात्मन्यात्मग्रहः अहमस्मीति मोहोहङ्कार इति। अनात्मानं खल्वहमस्मीति पश्यतो दृष्टिरहङ्कार इति। किं पुनस्तदर्थजातं यद्विषयोऽहङ्कारः। शरीरेन्द्रियमनोवेदनाबुद्धयः। कथं तद्विषयोहङ्कारः संसारबीजं भवति। अयं खलु शरीराद्यर्थजातमहमस्मीति व्यवसितः तदुच्छेदेनात्मोच्छेदं मन्यमानोऽनुच्छेदतृष्णापरिप्लुतः पुनः पुनस्तदुपादत्ते तदुपाददानो जन्ममरणाय यतते तेनावियोगान्नात्यन्तं दुःखाद्विमुच्यत इति। यस्तु दुःखं दुःखायतनं दुःखानुषक्तं सुखं च सर्वमिदं दुःखमिति पश्यति स दुःखं परिजानाति परिज्ञातं च दुःखं प्रहीणं भवत्यनुपादानात् सविषान्नवत् एवं दोषान् कर्म च दुःखहेतुरिति पश्यति। न चाप्रहीणेषु दोषेषु दुःखप्रबन्धोच्छेदेन शक्यं भवितुमिति दोषान् जहाति प्रहीणेषु च दोषेषु न प्रवृत्तिः प्रतिसंधानायेत्युक्तम्। प्रेत्यभावफलदुःखानि च ज्ञेयानि व्यवस्थापयति कर्म च दोषांश्च प्रहेयान्। अपवर्गोधिगन्तव्यस्तस्याधिगमोपायस्तत्त्वज्ञानम्। एवं चतसृभिर्विधाभिः प्रमेयं विभक्तमासेवमानस्याभ्यस्यतो भावयतः सम्यग्दर्शनं यथाभूतावबोधस्तत्त्वज्ञानमुत्पद्यते। एवं च।

भाष्य की अवतरणिका।

अपवर्ग की परीक्षा करके अब अपवर्ग का क्या कारण है यह बतलाने के लिये भूमिका बांधते हैं क्या संसार में जितने विषय हैं, उन में प्रत्येक ज्ञान उत्पन्न होता वा कहीं २ पहिला पक्ष ठीक नहीं क्योंकि ज्ञेय वस्तुओं के अनन्त होने से यावद्विषयक ज्ञान नहीं हो सकता। कहीं २ उत्पन्न होता है, यह कहना भी युक्त नहीं, क्योंकि जहां ज्ञान उत्पन्न न हुआ, वहां मोह रह जायगा। अन्य विषयक तत्त्वज्ञान से अन्य विषय का मोह दूर होना कठिन है। मिथ्या ज्ञान का नाम मोह है नकि तत्त्वज्ञान की अनुत्पत्ति मात्र को मोह कहते हैं। और वह मिथ्या ज्ञान जिस विषय में विद्यमान होकर संसार का बीज है, उस विषय को तत्त्व से जानना चाहिये। अनात्मवस्तु में

आत्म ज्ञान को मिथ्या ज्ञान कहते हैं और वह शरीर, इन्द्रिय, मन, आदिकों में आत्मा का अभिमान करना है। और यही संसार का बीज है, क्योंकि शरीर आदि पदार्थों में आत्मा का अहंकार कर, उन के नाश से आत्मा का नाश मान शरीरादि के नाश न होने की तृष्णा से पूर्ण पुनः २ उन का ग्रहण करता हुआ जन्म, मरण, के लिये यत्न करता है। उसके साथ वियोग न होने से दुःख से अत्यन्त छूटना नहीं होता और जो दुःख 'दुःखायतन' और दुःख संयुक्त सुख ये सब दुःख रूप ही हैं ऐसा जानता है, उसका दुःख विष मिले अन्न की भांति ग्रहण न करने से हीन हो जाता है, क्योंकि दोषों के हीन न होने से दुःख के प्रबन्ध का उच्छेद नहीं हो सकता इसलिये दोषों को छोड़ता है। दुःखों के हीन होने से प्रवृत्ति 'प्रतिसंधान' के लिये नहीं होती, ऐसा कहा है। कर्म और दोष, त्याज्य मुक्ति उपार्जन योग्य और उसके संपादन करने का उपाय तत्वज्ञान है, इस रीति से चार प्रकार से विभक्त प्रमेय की भावना करने वाले को सम्यक् दर्शन अर्थात् जो वस्तु जैसी है उसका यथार्थ ज्ञान होता है।

दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ॥ १ ॥

शरीरादि दुःखान्तं प्रमेयं दोषनिमित्तं तद्विषयत्वान्मिथ्याज्ञानस्य। तदिदं तत्त्वज्ञानं तद्विषयमुत्पन्नमहङ्कारं निवर्त्तयति समानविषये तयोर्विरोधात्। एवं तत्त्वज्ञानाद् दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तराभावादपवर्ग इति। स चायं शास्त्रार्थसंग्रहो नूद्यते नापूर्वो विधीयतइति। प्रसङ्ख्यानानुपूर्व्यात्तु खलु॥

भा०:-दोष के निमित्तों के तत्वज्ञान से अहंकार की निवृत्ति होती है अर्थात् शरीरादि दुःखांत प्रमेय दोष के निमित्त हैं, क्योंकि तद्विषयक ही मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होता है इसलिये इन विषयों में उत्पन्न अहंकार को यह तत्वज्ञान दूर करता है क्योंकि समान विषय में उनका विरोध है। इस प्रकार तत्वज्ञान से दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, और मिथ्याज्ञान इनके उत्तरोत्तर नष्ट होने से उसके अनन्तर उनके अभाव से अपवर्ग होता है इसी को मुक्ति कहते हैं (अ० १ आ० १ सू० २) ॥ १ ॥

दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः संकल्पकृताः ॥ २ ॥

कामविषया इन्द्रियार्था इति रूपादय उच्यन्ते ते मिथ्या संकल्प्यमाना रागद्वेषमोहान् प्रवर्त्तयन्ति तान्पूर्वं प्रसंचक्षीत। तांश्च प्रसंचक्षाणस्य रूपादि-

विषयो मिथ्या संकल्पो निवर्तते। तन्निवृत्तावध्यात्मं शरीरादि प्रसंचक्षीत। तत्प्रसङ्ख्यानादध्यात्मविषयोऽहङ्कारो निवर्तते। सोयमध्यात्मं बहिश्च विरक्तचित्तो विहरन्मुक्त इत्युच्यते। अतः परं का चित्संज्ञा हेया का चिद्भावयितव्येत्युपदिश्यते नार्थनिराकरणमर्थोपादानं वा। कथमिति।

भा०:—काम के विषय इन्द्रियों के अर्थ रूपादि कहे जाते हैं। वे मिथ्या संकल्प किये हुए राग, द्वेष, और मोह को उत्पन्न कराते हैं। प्रथम उनका त्याग करे, उनके त्याग करने वाले का रूपादि विषयों में मिथ्या संकल्प दूर होता है। उसके निवृत्त होने पर अध्यात्म शरीरादिकों का प्रत्याख्यान करे, उनके प्रसंख्यान से अध्यात्म विषयक अहंकार निवृत्त होता है। फिर यह भीतर बाहर से विरक्त चित्त होकर विचरता. मुक्त कहा जाता है। इस के अनन्तर कोई संज्ञा त्यागनी चाहिये और कोई विचार योग्य है इसका उपदेश करते हैं॥ २॥

तन्निमित्तं त्ववयव्यभिमानः॥ ३॥

तेषां दोषाणां निमित्तं त्ववयव्यभिमानः। सा च खलु स्त्रीसंज्ञा (सपरिष्कारा पुरुषस्य पुरुषसंज्ञा च स्त्रियाः परिष्कारश्च निमित्तसंज्ञा अनुव्यञ्जनसंज्ञा च) निमित्तसंज्ञा दन्तोष्ठं चक्षुर्नासिकम् अनुव्यञ्जनसंज्ञा इत्थं दन्ता इत्थमोष्ठाविति सेयं संज्ञा कामं वर्धयति तदनुषक्तांश्च दोषान् विवर्जनीयान् वर्जनं त्वस्याः भेदेनावयवसंज्ञा केशलोममांसशोणितास्थिस्नायुशिराकफपित्तोच्चारादिसंज्ञा तामशुभसंज्ञेत्याचक्षते। तामस्य भावयतः कामरागः प्रहीयते सत्येव च द्विविधे विषये का चित्संज्ञा भावनीया का चित्परिवर्जनीयेत्युपदिश्यते यथा विषसंपृक्तेऽन्नेऽन्नसंज्ञोपादानाय विषसंज्ञा प्रहाणायेति। अथेदानीमर्थं निराकरिष्यतावयव्युपपाद्यते॥

भा०:—उन दोषों का कारण अवयवी का अभिमान है वह परिष्कार सहित 'स्त्री' संज्ञा पुरुष को और 'पुरुष' संज्ञा स्त्री को। 'निमित्त' संज्ञा और 'अनुव्यञ्जन' संज्ञा को परिष्कार कहते। दांत, ओठ, आंख, नाक ये निमित्त संज्ञा कहातीं। ऐसे ओठ, ऐसे सुन्दर दांत, और वह सुआ की सी ऊंची नाक इसको 'अनुव्यंजन' संज्ञा कहते। जिसकी भावना करने से राग उत्पन्न होता और उससे दोषों की उत्पत्ति होती। इस के छोड़ने की रीति यह है कि स्त्री के शरीर में विचार करे कि इसमें केश, मांस, रुधिर, हाड़, कफ, इत्यादि घृणित पदार्थ को छोड़ और कुछ नहीं है ऐसी भावना करने

से राग दूर होता है। फिर दोषों की उत्पत्ति नहीं होती है द्विविध विषय में कोई संज्ञा विचार योग्य और कोई त्याज्य है यह उपदेश किया है ॥३॥

विद्याऽविद्याद्वैविध्यात् संशयः ॥ ४ ॥

सदसतोरुपलम्भाद्विद्या द्विविधा सदसतोरनुपलम्भादविद्यापि द्विविधा। उपलभ्यमाने ऽवयविनि विद्याद्वैविध्यात्संशयः अनुपलभ्यमाने चाविद्याद्वैविध्यात्संशयः। सोयमवयवी यद्युपलभ्यते अथापि नोपलभ्यते न कथंचन संशयान्मुच्यते इति।

भा०:—सत् और असत् रूप ज्ञान होने से विद्या दो प्रकार की है और सत् और असत् के ज्ञान न होने से अविद्या भी दो प्रकार की है इस प्रकार विद्या और अविद्या के दो प्रकार होने से संदेह होता है कि अवयवी अवयवों से भिन्न है या नहीं ॥ ४ ॥

तदसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ॥ ५ ॥

तस्मिन्ननुपपन्नः संशयः। कस्मात् पूर्वोक्तहेतूनामप्रतिषेधादस्ति द्रव्यान्तरारम्भ इति।

भा०:—द्वितीयाध्याय में उक्त हेतु प्रसिद्ध होने से अवयवी में संदेह नहीं हो सकता अर्थात् 'अस्ति द्रव्यान्तरारम्भः' इत्यादि प्रतिज्ञा और उसके साधक हेतु दूसरे अध्याय में कह चुके हैं इस लिये अवयवी में संदेह करना उचित नहीं ॥ ५ ॥

वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः ॥ ६ ॥

संशयानुपपत्तिर्नास्त्यवयवीति। तद्विभजते।

भा०:—जब अवयवी का अभाव सिद्ध हो गया तब सन्देह कैसा सो अगले सूत्र से कहते हैं ॥ ६ ॥

कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ॥ ७ ॥

एकैकोवयवो न तावत् कृत्स्ने ऽवयविनि वर्त्तते तयोः परिमाणभेदादवयवान्तरसंबन्धाभावप्रसङ्गाच्च। नाप्यवयव्येकदेशेन न ह्यस्यान्ये अवयवा एकदेशभूताः सन्तीति। अथावयवेष्वेवावयवी वर्त्तते।

भा०:—एक २ अवयव संपूर्ण अवयवी में नहीं रह सकता क्योंकि उनके परिमाण में भेद है। अवयवी बड़ा और अवयव छोटा और न एक देश से रहता क्योंकि दूसरे अवयव तो हैं ही नहीं जिन से वर्त्ते ॥ ७ ॥

तेषु चावृत्तेरवयव्यभावः ॥ ८॥

न तावत्प्रत्यवयवं वर्त्तते तयोः परिमाणभेदाद् द्रव्यस्य चैकद्रव्यत्वप्रसङ्गात्। नाप्येकदेशे सर्वेष्वन्यावयवाभावात्। तदेवं न युक्तः संशयो नास्त्यवयवीति।

भा०:–उन में वृत्ति न होने से अवयवी का अभाव होता है। 'अवयव' और 'अवयवी' के परिमाण में भेद होने से प्रति अवयव में, अवयवी नहीं रह सकता, और न एक देश से ही रह सकता, क्योंकि अन्य अवयव तो हैं ही नहीं इस प्रकार अवयवी के होने में सन्देह सिद्ध होगया॥८॥

पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्तेः ॥ ९ ॥

पृथक् चावयवेभ्यो धर्मिभ्यो धर्मस्याग्रहणादिति समानम्।

भा०:–धर्मी अवयवों से पृथक्, धर्म का ग्रहण न होने से, अवयवी सिद्ध नहीं होता ॥ ९ ॥

न चावयव्यवयवाः ॥ १० ॥

एकस्मिन् भेदाभावाद् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेरप्रश्नः ॥ ११ ॥

किं प्रत्यवयवं कृत्स्नो ऽवयवी वर्त्तते अथैकदेशेनेति नोपपद्यते प्रश्नः। कस्मादेकस्मिन् भेदाभावाद् भेदशब्दप्रयोगानुपपत्तेः। कृत्स्नमित्यनेकस्याशेषाभिधानम् एकदेश इति नानात्वे कस्य चिदभिधानं ताविमौ कृत्स्नैकदेशशब्दौ भेदविषयौ नैकस्मिन्नवयविन्युपपद्येते भेदाभावादिति। अन्यावयवाभावान्नैकदेशेन वर्त्ततइत्यहेतुः।

भा०:–और अवयव, अवयवी का तादात्म्य अर्थात् अभेद भी नहीं हो सकता है ॥ १० ॥

भा०:–प्रति अवयव, सब अवयवी वर्त्तमान रहता, या एक देश से ? यह प्रश्न ठीक नहीं, क्योंकि एक में भेद न होने से भेद शब्द का प्रयोग करना ठीक नहीं, अनेक की अशेषता का अभिधान कात्स्न्र्य कहाता। अनेकत्व रहते किसी एक के अभिधान का नाम एक देश है। यह कृत्स्न और एकदेश शब्द भेद विषयक हैं। एक अवयवी में भेद न होनेसे उपपन्न नहीं होसकते हैं॥११॥

अवयवान्तराभावेऽप्यवृत्तेरहेतुः ॥ १२ ॥

अवयवान्तराभावादिति यद्यप्येकदेशो ऽवयवान्तरभूतस्य तथाप्यवयवे ऽवयवान्तरं वर्त्तेत नावयवीति। अन्योऽवयवीति अन्यावयवभावे ऽप्यवृत्तेरव-

यविनो नैकदेशेन वृत्तिरन्यावयवाभावादित्यहेतुः। वृत्तिः कथमिति चेद् एकस्यानेकत्राश्रयाश्रितसम्बन्धलक्षणा प्राप्तिः। आश्रयाश्रितभावः कथमिति चेद् यस्य यतोऽन्यत्रात्मलाभानुपपत्तिः स आश्रयः न कारणद्रव्येभ्योऽन्यत्र कार्यद्रव्यमात्मानं लभते विपर्ययस्तु कारणद्रव्येष्विति।

* नित्येषु कथमिति चेद् अनित्येषु दर्शनात्सिद्धम् ॥

नित्येषु द्रव्येषु कथमाश्रयाश्रयिभाव इति चेद् अनित्येषु (द्रव्यगुणेषु) दर्शनादाश्रयाश्रितभावस्य नित्येषु सिद्धिरिति। तस्मादवयव्यभिमानः प्रतिषिध्यते निःश्रेयसकामस्य नावयवी यथा रूपादिषु मिथ्यासंकल्पो न रूपादय इति। सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेरिति प्रत्यवस्थितोऽप्येतदाह।

भा०:–यद्यपि एक देश अवयवान्तर भूत होगा तथापि अवयव की अवयवान्तर में वृत्ति होगी, अवयवी की नहीं इस लिये "अवयवान्तराभावादवृत्तेः" यह हेतु उचित नहीं, तो फिर वृत्ति कैसे? एक की अनेक में आश्रयाश्रयि संबन्धरूप प्राप्ति ही वृत्ति है। जिस की जिस से अन्यत्र स्वरूप लाभ की अनुपपत्ति हो, उसे 'आश्रय' कहते हैं। कारण द्रव्य से दूसरे स्थान में कार्य द्रव्य आत्म स्वरूप को प्राप्त नहीं करता, कारण द्रव्य में इस के उलटा है इसलिये अवयवी के अभिमान का निषेध किया जाता है। मुक्ति की इच्छा रखने वाले को अवयवी नहीं, जिस से रूप आदिकों में मिथ्या संकल्प न हो इस पर यह भी दोष आ जाय गा कि अवयवी की असिद्धि में सब का अग्रहण हो जाय गा। इस शंका का समाधान पूर्व पक्षी करता है॥१२॥

केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः ॥ १३ ॥

यथैकः केश (स्तैमिरिकेण) नोपलभ्यते केशसमूहस्तूपलभ्यते तथैकोऽणुर्नोपलभ्यते अणुसंचयस्तूपलभ्यते तदिदमणुसमूहविषयं ग्रहणमिति।

भा०:–अन्धकार से आवृत नेत्र से जैसे केश समूह का प्रत्यक्ष होता है, वैसे ही एक परमाणु के प्रत्यक्ष न रहने भी परमाणु पुंज रूप घट का ज्ञान हो जाय गा अर्थात् जैसे तिमिराच्छादित आंख से एक बाल का प्रत्यक्ष नहीं होता और बालों के समुदाय का साक्षात्कार हो जाता है वैसे ही परमाणुओं के प्रत्यक्ष न रहते भी उन के समूह का प्रत्यक्ष हो जाय गा इस लिये यह ज्ञान परमाणु समूह विषयक है, इन से अलग अवयवी वस्तु कुछ नहीं है ॥ १३ ॥

स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद्विषय-ग्रहणस्य तथाभावो नाविषये प्रवृत्तिः ॥ १४ ॥

यथाविषयमिन्द्रियाणां पटुमन्दभावाद्विषयग्रहणानां पटुमन्दभावो भवति। चक्षुः खलु प्रकृष्यमाणं नाविषयं गन्धं गृह्णाति निकृष्यमाणं च न स्वविषयात् प्रच्यवते। सोयं तैमिरिकः कश्चिच्चक्षुर्विषयं केशं न गृह्णाति कश्चिद् गृह्णाति केशसमूहम्। उभयं ह्यतैमिरिकेण चक्षुषा गृह्यते परमाणवस्त्वतीन्द्रिया (इन्द्रियाविषयभूता) न केन चिदिन्द्रियेण गृह्यन्ते समुदितास्तु गृह्यन्त इत्यविषये प्रवृत्तिरिन्द्रियस्य प्रसज्येत। न जात्वर्थान्तरमणुभ्यो गृह्यत इति। ते खल्विमे परमाणवः संनिहिता गृह्यमाणा अतीन्द्रियत्वं जहति वियुक्ताश्चागृह्यमाणा इन्द्रियविषयत्वं न लभन्त इति। सो ऽयं द्रव्यान्तरानुत्पत्तावतिमहान् व्याघात इत्युपपद्यते द्रव्यान्तरं यद्ग्रहणस्य विषय इति।

*संचयमात्रं विषय इति चेद् न संचयस्य संयोगभावात्तस्य चातीन्द्रियस्याग्रहणादयुक्तम्।

संचयः खल्वनेकस्य संयोगः स च गृह्यमाणाश्रयो गृह्यते नातीन्द्रियाश्रयः भवति हीदमनेन संयुक्तमिति तस्मादयुक्तमेतदिति। गृह्यमाणस्य चेन्द्रियेण विषयस्यावरणाद्यनुपलब्धिकारणमुपलभ्यते तस्मान्नेन्द्रियदौर्बल्याच्चक्षुषा ऽनुपलब्धिर्गन्धादीनामिति।

भा०:—अपने २ विषय में इन्द्रियों की पटुता और मन्दता से विषय ज्ञान में पटुता और मन्दता होती हैं। नेत्र कैसे ही उत्कृष्ट क्यों न हों, पर अपने अविषय गन्ध का ग्रहण कभी नहीं कर सकते. ऐसे ही निकृष्ट होने से भी अपने विषय से रहित नहीं होते। परमाणु अतीन्द्रिय पदार्थ हैं उन का किसी इन्द्रिय से ग्रहण नहीं हो सकता। यदि परमाणु समुदाय का ज्ञान मानोगे, तो अविषय में इन्द्रिय की प्रवृत्ति माननी पड़ेगी, जो सर्वथा असंभव है इसलिये द्रव्यान्तर सिद्ध होता है, जिस का इन्द्रिय से ग्रहण होता है ॥१४॥

अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमा प्रलयात् ॥ १५ ॥

यः खल्ववयविनो ऽवयवेषु वृत्तिप्रतिषेधादभावः सो ऽयमवयवस्यावयवेषु प्रसज्यमानः सर्वप्रलयाय वा कल्पेत निरवयवाद्वा परमाणुतो निवर्तेत उभयथा चोपलब्धिविषयस्याभावः तदभावादुपलब्ध्यभावः उपलब्ध्याश्रयश्चायं वृत्तिप्रतिषेधः स आश्रयं व्याघ्नन्नात्मघाताय कल्पत इति। अथापि।

भा०:-जो अवयवों में वृत्ति के निषेध करने से अवयवी का अभाव सिद्ध हो, तो अवयव का अवयवों में वृत्ति प्रतिषेध से, सब का अभाव हो जायगा या निरवयवपन से परमाणुत्व की निवृत्ति हो जायगी ॥ १५ ॥

न प्रलयो ऽणुसद्भावात् ॥ १६ ॥

अवयवविभागमाश्रित्य वृत्तिप्रतिषेधादभावः प्रसज्यमानो निरवयवात्परमाणोर्निवर्त्तते न सर्वप्रलयाय कल्पते निरवयवत्वं खलु परमाणोर्विभागैरल्पतरप्रसङ्गस्य यतो नाल्पीयस्तत्रावस्थानात्। लोष्टस्य खलु प्रविभज्यमानावयवस्याल्पतरमल्पतममुत्तरमुत्तरं भवति स चायमल्पतरप्रसङ्गः यस्मान्नाल्पतरमस्ति यः परमोल्पस्तत्र निवर्त्तते यतश्च नाल्पीयोऽस्ति तं परमाणुं प्रचक्ष्महइति।

भा०:-परमाणु सद्भाव से अभाव नहीं हो सकता। अर्थात् अवयव विभाग का आश्रय ले कर वृत्ति के प्रतिषेध से अभाव प्राप्त हुआ, वह निरवयव परमाणु से निवृत्त हो, सब का अभाव सिद्ध नहीं कर सकता। परमाणु का निरवयवत्व सिद्ध है, क्योंकि एक ढेले के टुकड़े करते चले जाओ अन्त में सब से छोटा होगा। जिस का फिर विभाग नहीं हो सकता वही निरवयव परमाणु वस्तु है, अर्थात् परम सूक्ष्म जिस से अल्प न हो ॥ १६ ॥

परं वा त्रुटेः ॥ १७ ॥

अवयवविभागस्यानवस्थानाद् द्रव्याणामसंख्येयत्वात् त्रुटित्वनिवृत्तिरिति। अथेदानीमानुपलम्भिकः सर्वं नास्तीति मन्यमान आह।

भा०:-अथवा त्रुटी में जो पर है वह परमाणु कहाता है॥ १७ ॥ अब शून्यवादी परमाणु के निरवयवत्व पर आक्षेप करता है किः-

आकाशव्यतिभेदात् तदनुपपत्तिः ॥ १८ ॥

तस्याणोर्निरवयवस्य (नित्य) स्यानुपपत्तिः। कस्मात् आकाशव्यतिभेदात्। अन्तर्बहिश्चाणुराकाशेन समाविष्टो व्यतिभिन्नो व्यतिभेदात्सावयवः सावयवत्वादनित्य इति।

भा०:-आकाश के व्यतिभेद (विभागभेद) से निरवयव परमाणु की उपपत्ति नहीं हो सकती अर्थात् परमाणु भीतर और बाहर से आकाश से व्याप्त होने से सावयव है, और सावयव होने से अनित्य हुआ ॥ १८ ॥

आकाशासर्वगतत्वं वा ॥ १९ ॥

अथैतन्नेष्यते परमाणोरन्तर्नास्त्याकाशमिति सर्वगतत्वं प्रसज्यते इति।

भा०:- 'परमाणु के भीतर आकाश नहीं है' ऐसा कहोगे, तो आकाश को असर्वगतत्व हो जाय गा अर्थात् आकाश की सर्वत्र व्याप्ति न रहेगी ॥ १९ ॥

अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनादकार्ये तदभावः॥२०॥

अन्तरिति पिहितं कारणान्तरैः कारणमुच्यते। बहिरिति च व्यवधायकमव्यवहितं कारणमेवोच्यते। तदेतत्कार्यद्रव्यस्य संभवति नाणोरकार्यत्वात्। अकार्ये हि परमाणावन्तर्बहिरित्यस्याभावः। यत्र चास्य भावो अणुकार्यं तन्न परमाणुः यतो हि नाल्पतरमस्ति स परमाणुरिति।

भा०:-कार्य द्रव्य के भीतर बाहर कारणान्तर के वचन से अकार्य में उन का अभाव है। अर्थात् 'भीतर,' 'बाहर,' यह व्यवहार कार्य द्रव्य में होता है। कार्यरूप रहित परमाणु में भीतर बाहर इस व्यवहार का अभाव है, क्योंकि जिस से छोटा नहीं, वही परमाणु है ॥ २० ॥

शब्दसंयोगविभवाच्च सर्वगतम् ॥ २१ ॥

यत्र क्वचिदुत्पन्नाः शब्दा विभवन्त्याकाशे तदाश्रया भवन्ति मनोभिः परमाणुभिस्तत्कार्यैश्च संयोगा विभवन्त्याकाशे नासंयुक्तमाकाशेन किं चिन्मूर्तद्रव्यमुपलभ्यते तस्मान्नासर्वगतमिति।

भा०:-संयोग और शब्द आकाश में सर्वत्र होते हैं ऐसा कोई भी मूर्तिमान् द्रव्य नहीं है जो आकाश से संयुक्त न हो इसलिये आकाश में असर्वगतत्व नहीं आ सकता ॥ २१ ॥

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः ॥ २२ ॥

संसर्पता प्रतिघातिना द्रव्येण न व्यूह्यते यथा काष्ठेनोदकम्। कस्मात् निरवयवत्वात्। सर्पच्च प्रतिघाति द्रव्यं न विष्टभ्नाति नास्य क्रियाहेतुं गुणं प्रतिबध्नाति। कस्मात् अस्पर्शत्वात् विपर्यये हि विष्टम्भो दृष्ट इति (सावयवे) स्पर्शवति द्रव्ये दृष्टं धर्मं विपरीते नाशङ्कितुमर्हति।*

* अण्ववयवस्याणुतरत्वप्रसङ्गादणुकार्यप्रतिषेधः ॥

सावयवत्वे चाणोरणववयवो अणुतर इति प्रसज्यते। कस्मात्कार्यकारणद्रव्ययोः परिमाणभेददर्शनात्। तस्मादण्ववयवस्याणुतरत्वं यस्तु सावयवो अणुकार्यं तदिति। तस्मादणुकार्यमिदं प्रतिषिध्यत इति। कारणविभागाच्च कार्यस्यानित्यत्वं नाकाशव्यतिभेदात्। लोष्टस्यावयवविभागादनित्यत्वं नाकाशसमावेशादिति।

भा०:—*'अव्यूह', 'अविष्टम्भ' और 'विभुत्व' ये आकाश के धर्म हैं। काष्ठ से जल की नाईं अप्रतिघाती द्रव्य से व्यूहन नहीं होता, निरवयव होने से। आकाश निरवयव है इसलिये प्रतिघाती नहीं और स्पर्शवान् न होने से आकाश इस के क्रिया जनक गुण को रोकता नहीं। इसलिये तुम को स्पर्शवान् द्रव्य में देखे हुए धर्म की शंका स्पर्श रहित वस्तु में न करनी चाहिये। कारण के विभाग से कार्य का अनित्यत्व होता न कि आकाश के समावेश से अवयवों के विभाग होने से मृत् पिण्ड अनित्य कहाता आकाश के समावेश से नहीं॥ २२ ॥

मूर्त्तिमतां च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः ॥ २३ ॥

परिच्छिन्नानां हि स्पर्शवतां संस्थानं त्रिकोणं, चतुरस्रं, समं, परिमण्डलमित्युपपद्यते यत्तत्संस्थानं सो ऽवयवसन्निवेशः परिमण्डलाश्चाणवस्तस्मात्सावयवा इति।

भा०:—परिच्छिन्न (परिमित) स्पर्श वाले पदार्थों के 'त्रिकोण', 'चौकोन,' 'सम,' और 'गोल,' आकार होते हैं जो आकार है वह अवयव रचना है। परमाणु गोल हैं इसलिये सावयव होने चाहिये ॥ २३ ॥

संयोगोपपत्तेश्च ॥ २४ ॥

मध्ये सन्नणुः पूर्वापराभ्याम् अणुभ्यां संयुक्तस्तयोर्व्यवधानं कुरुते। व्यवधानेनानुमीयते पूर्वभागेन पूर्वेणाणुना संयुज्यते परभागेन परेणाणुना संयुज्यते यौ तौ पूर्वापरौ भागौ तावस्यावयवौ एवं सर्वतः संयुज्यमानस्य सर्वतो भागा अवयवा इति। यत्तावन्मूर्त्तिमतां संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भाव इति। अत्रोक्तं किमुक्तम्। विभागात्पतरप्रसङ्गस्य यतो नाल्पीयस्तत्र निवृत्तेरणवयवस्य चाणुतरत्वप्रसङ्गादणुकार्यप्रतिषेध इति। यत्पुनरेतत्संयोगोपपत्तेश्चेति स्पर्शवत्वाद् व्यवधानमाश्रयस्य चाव्याप्त्या भागभक्तिः। उक्तं चात्र स्पर्शवानणुः स्पर्शवतोरणोः प्रतिघाताद्व्यवधायको न सावयवत्वात्। स्पर्शवत्वाच्च व्यवधाने सत्यणुसंयोगो नाश्रयं व्याप्नोतीति भागभक्तिर्भवति भागवानिवायमिति। उक्तं चात्र विभागे ऽल्पतरप्रसङ्गस्य यतो नाल्पीयस्तत्रावस्थानात् तदवयवस्य चाणुतरत्वप्रसङ्गादणुकार्यप्रतिषेध इति। मूर्त्तिमतां च संस्थानोपपत्तेः संयोगोपपत्तेश्च परमाणूनां सावयवत्वमिति हेत्वोः।

---

* फेंके हुए या वेग से जाते हुए पदार्थ को दूसरे से टक्कर खाके पीछे हटने या लौटने को "व्यूह" कहते हैं। और आगे जाने से रुक जाने को "विष्टम्भ" कहते हैं।

भा०:–संयोग की उपपत्ति से भी परमाणुओं का सावयवत्व सिद्ध होता है। परमाणु मध्य में रह कर, इधर उधर के परमाणुओं से संयुक्त हो, उन के बीच में व्यवधान अर्थात् भेद कराता है, इस से अनुमान होता कि पूर्व भाग से, पूर्व, पर भाग से पर अणु संयुक्त होता है। जो पूर्व और अपर भाग हैं, वे उस के अवयव हैं। इसी प्रकार सब ओर से जो संयुक्त है उस के सब ओर अवयव हैं ॥ २४ ॥

अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चाप्रतिषेधः ॥ २५ ॥

यावन्मूर्त्तिमद्यावच्च संयुज्यते तत्सर्वं सावयवमित्यनवस्थाकारिणाविमौ हेतू सा चानवस्था नोपपद्यते। सत्यामनवस्थायां सत्यौ हेतू स्याताम् तस्माद् प्रतिषेधोऽयं निरवयवत्वस्येति। विभागस्य च विभज्यमानहानिर्नोपपद्यते तस्मात्प्रलयान्तता नोपपद्यत इति। अनवस्थायां च प्रत्यधिकरणं द्रव्यावयवानामानन्त्यात् परिमाणभेदानां गुरुत्वस्य चाग्रहणं समानपरिमाणत्वं चावयवावयविनोः परमाण्ववयवविभागादूर्ध्वमिति। यदिदमवान्बुद्धीराश्रित्य बुद्धिविषयाः सन्तीति मन्यते मिथ्याबुद्धय एताः। यदि हि तत्त्वबुद्धयः स्युर्बुद्ध्या विवेचने क्रियमाणे याथात्म्यं बुद्धिविषयाणामुपलभ्येत ॥

भा०:–'जितना मूर्तिमान् पदार्थ.' और 'जो संयुक्त होता है वे सब सावयव हैं,' यह हेतु अनवस्थाकारी है. और वह अनवस्था युक्त नहीं। अनवस्था रहते हेतु यथार्थ होते हैं इसलिये निरवयवत्व का निषेध नहीं हो सकता अनवस्था होने से प्रत्यधिकरण द्रव्यावयवों के अनन्तत्व से परिमाण भेद और गुरुता का ग्रहण न होगा। अर्थात् अवयवी और अवयव को तुल्य परिमाणत्व हो जायगा ॥ २५ ॥

बुद्ध्या विवेचनात्तु भावानां याथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत् तदनुपलब्धिः ॥ २६ ॥

यथाऽयं तन्तुरयं तन्तुरिति प्रत्येकं तन्तुषु विविच्यमानेषु नार्थान्तरं किंचिदुपलभ्यते यत्पटबुद्धेर्विषयः स्यात्। याथात्म्यानुपलब्धेरसति विषये पटबुद्धिर्भवन्ती मिथ्याबुद्धिर्भवति एवं सर्वत्रेति।

भा०:–बुद्धि से विवेचन करने से पदार्थों के वास्तविकत्व की उपलब्धि नहीं होती जैसे 'यह तन्तु,' 'यह तन्तु,' इस प्रकार हरेक तन्तु के विवेचन करने से कोई दूसरा पदार्थ उपलब्ध नहीं होता, जो पट बुद्धि का विषय ठहरे। यथार्थ उपलब्धि न होने से विषय न रहते जो पट बुद्धि होती है।

वह मिथ्या ज्ञान है ऐसा ही सर्वत्र जानना चाहिये ॥ २६ ॥

व्याहतत्वादहेतुः ॥ २७ ॥

यदि बुद्ध्या विवेचनं भावानां न सर्वभावानां याथात्म्यानुपलब्धिः । अथ सर्वभावानां यथात्म्यानुपलब्धिर्न बुद्ध्या विवेचनं भावानां याथात्म्यानुपलब्धि श्चेति व्याहन्यते । तदुक्तम् अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमा प्रलयादिति ॥

भा०:—व्याहत (दोष) होने से उक्त हेतु ठीक नहीं । जो भावों की विवेचना बुद्धि से की जाय तो सब भावों की याथात्म्य (सत्यरूप होना) की अनुपलब्धि नहीं और जो सब भावों के याथात्म्य की अनुपलब्धि तो बुद्धि से विवेचन नहीं अर्थात् उक्त दो बात परस्पर विरोधी होने से एकत्र नहीं रह सकतीं ॥ २७ ॥

तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम् ॥ २८ ॥

कार्यद्रव्यं कारणद्रव्याश्रितं तत्कारणेभ्यः पृथङ् नोपलभ्यते विपर्यये पृथग् ग्रहणात् । यत्राश्रयाश्रितभावो नास्ति तत्र पृथग्ग्रहणमिति बुद्ध्या विवेचनात् भावानां पृथग्ग्रहणमतीन्द्रियेष्वणुषु । यदिन्द्रियेण गृह्यते तदेतया बुद्ध्या विविच्यमानमन्यदिति ॥

भा०:—कार्यद्रव्य, कारण द्रव्य के आश्रित रहता है इसलिये कारणों से पृथक् उपलब्धि नहीं होता । विपर्यय में पृथक् ग्रहण होने से जहां 'आश्रयाश्रितभाव, नहीं है, वहां पृथक् ग्रहण होता है इसलिये बुद्धि से विवेचन करने से पदार्थों का भेद ज्ञात होता है ॥ २८ ॥

प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः ॥ २९ ॥

बुद्ध्या विवेचनाद्भावानां याथात्म्योपलब्धिः यदस्ति यथा च (यन्नास्ति यथा च) तत्सर्वं प्रमाणत उपलब्ध्या सिध्यति या च प्रमाणत उपलब्धिस्तद्बुद्ध्या विवेचनं भावानां तेन सर्वशास्त्राणि सर्वकर्माणि सर्वे च शरीरिणां व्यवहारा व्याप्ताः । परीक्षमाणो हि बुद्ध्याऽध्यवस्यति इदमस्तीदं नास्तीति तत्र न सर्वभावानुपपत्तिः ॥

भा०:—प्रमाण से अर्थ की सिद्धि होती है । जो प्रमाण से उपलब्धि है वह भावों का बुद्धि से विवेचन है उससे सब शास्त्र, सकल काम, और सारे देह धारियों के व्यवहार चलते हैं । परीक्षा करने वाला पुरुष बुद्धि ही से ' यह है ' और ' यह नहीं है ' इस प्रकार का निश्चय करता है । इससे सब पदार्थों का अभाव मानना असङ्गत है ॥ २९ ॥

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ३० ॥

एवं च सति सर्वं नास्तीति नोपपद्यते कस्मात्प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्। यदि सर्वं नास्तीति प्रमाणमुपपद्यते सर्वं नास्तीत्येतद्व्याहन्यते। अथ प्रमाणं नोपपद्यते सर्वं नास्तीत्यस्य कथं सिद्धिः। अथ प्रमाणमन्तरेण सिद्धिः सर्वमस्तीत्यस्य कथं न सिद्धिः॥

भा०:—ऐसा होने से " सब नहीं है " यह (पक्ष) सिद्ध नहीं होता। प्रमाण की उपपत्ति और अनुपपत्ति से। " जो सब नहीं है " इस (पक्ष) में प्रमाण है तो " सब नहीं है " यह कहना ही अनुचित है, क्योंकि जब प्रमाण पदार्थ विद्यमान है, तब " सब नहीं है " यह कहना बाधित (इसका खण्डन होता है) जो कहो कि " प्रमाण नहीं है " तो बताओ कि " सब नहीं है " इसकी सिद्धि क्योंकर हुई। यदि कहो कि बिना प्रमाण ही सिद्धि होती है। तो "सब" है इस (पक्ष) की भी सिद्धि क्यों नहीं होगी ॥ ३० ॥

स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः ॥३१॥

यथा स्वप्ने न विषयाः सन्त्यथ चाभिमानो भवति एवं न प्रमाणानि प्रमेयानि च सन्त्यथ च प्रमाणप्रमेयाभिमानो भवति ॥

भा०:—जैसे स्वप्न में विषय सत्य नहीं हैं परन्तु उनका अभिमान होता है। इसी प्रकार ' प्रमाण ' और ' प्रमेय ' कुछ नहीं हैं परन्तु प्रमाण. और प्रमेय, का अहंकार होता है ॥ ३१ ॥

मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा ॥ ३२ ॥

हेत्वभावादसिद्धिः ॥ ३३ ॥

स्वप्नान्ते विषयाभिमानवत्प्रमाणप्रमेयाभिमानो न पुनर्जागरितान्ते विषयोपलब्धिवदित्यत्र हेतुर्नास्ति। हेत्वभावादसिद्धिः। स्वप्नान्ते चासन्तो विषया उपलभ्यन्त इत्यत्रापि हेत्वभावः॥

* प्रतिबोधेऽनुपलम्भादिति चेत् प्रतिबोधविषयोपलम्भाद् प्रतिषेधः।

यदि प्रतिबोधेऽनुपलम्भात्स्वप्ने विषया न सन्तीति तर्हि यइमे प्रतिबुद्धेन विषया उपलभ्यन्ते उपलम्भात्सन्तीति विपर्यये हि हेतुसामर्थ्यमुपलम्भाभावे सत्यनुपलम्भादभावः सिध्यति उभयथा त्वभावे नानुपलम्भस्य सामर्थ्यमस्ति यथा प्रदीपस्याभावाद्रूपस्यादर्शनमिति। तत्र भावेनाभावः समर्थ्यत इति ॥

* स्वप्नान्तविकल्पे च हेतुवचनम् ।

स्वप्नविषयाभिमानवदिति ब्रुवता स्वप्नान्तविकल्पे हेतुर्वाच्यः। कश्चित्स्वप्नो भयोपसंहितः कश्चित्प्रमोदोपसंहितः कश्चिदुभयविपरीतः कदा चित्स्वप्नमेव न पश्यतीति । निमित्तवतस्तु स्वप्नविषयाभिमानस्य निमित्तविकल्पाद्विकल्पोपपत्तिः ॥

भा०:—या माया रूप गन्धर्व नगर या मृगतृष्णा की नाईं प्रमाण, और प्रमेय, भाव (का होना) है । अर्थात् जैसे ये मिथ्या हैं, वैसे ही प्रमाण, प्रमेय भाव भी कल्पित है । वस्तुतः नहीं है भ्रम ही है ॥ ३२ ॥

भा०:—हेतु के अभाव से बाह्य विषय का अभाव (न होना) सिद्ध नहीं हो सकता । स्वप्न में असत् विषय उपलब्ध होते हैं, इसमें भी हेतु नहीं है । जो कहो कि जागने पर उपलब्ध नहीं होते इस लिये नहीं हैं, तो हम कहेंगे कि यदि जागने पर उपलब्ध न होने से स्वप्न में विषय नहीं हैं, तो जो यह विषय जागे हुए मनुष्य को उपलब्ध होते हैं। वह सत्य हैं विपर्यय में हेतु की शक्ति है अर्थात् जाग्रत् अवस्था के अनुपलम्भ से जो स्वप्न में विषयों का अभाव सिद्ध करोगे, तो जाग्रत् अवस्था के उपलम्भ से विषयों का सत्य होना सिद्ध हो जायगा ॥ ३३ ॥

स्मृतिसंकल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः ॥ ३४ ॥

पूर्वोपलब्धविषयः यथा स्मृतिश्च संकल्पश्च पूर्वोपलब्धविषयौ न तस्य प्रत्याख्यानाय कल्पेते तथा स्वप्ने विषयग्रहणं न तस्य प्रत्याख्यानाय कल्पतइति । एवं दृष्टविषयश्च स्वप्नान्तो जागरितान्तेन यः सुप्तः स्वप्नं पश्यति स एव जाग्रत्स्वप्नदर्शनानि प्रतिसंधत्तइदमद्राक्षमिति । तत्र जाग्रद्बुद्धिवृत्तिवशात्स्वप्नविषयाभिमानो मिथ्येति व्यवसायः । सति च प्रतिसंधाने या जाग्रतो बुद्धिवृत्ति स्तद्वशादयं व्यवसायः स्वप्नविषयाभिमानो मिथ्येति ॥

* उभयाविशेषे तु साधनानर्थक्यम् ।

यस्य स्वप्नान्तजागरितान्तयोरविशेषस्तस्य स्वप्नविषयाभिमानवदिति साधनमनर्थकं तदाश्रयप्रत्याख्यानात् । अतस्मिंस्तदिति च व्यवसायः प्रधानाश्रयः अपुरुषे स्थाणौ पुरुष इति व्यवसायः स प्रधानाश्रयो (न खलु पुरुषेऽनुपलब्धे पुरुष इत्यपुरुषे व्यवसायो भवति एवं स्वप्नविषयस्य व्यवसायो हस्तिनमद्राक्षं पर्वतमद्राक्षमिति प्रधानाश्रयो) भवितुमर्हति । एवं च सति ॥

भा०:—स्मृति और संकल्प की भांति स्वप्न विषय का अभिमान है जैसे पूर्व उपलब्ध विषयक स्मृति और संकल्प उस के खण्डन करने में समर्थ नहीं होते। वैसे ही स्वप्न में विषय का ज्ञान पूर्व उपलब्ध विषय के खण्डन में समर्थ नहीं होता। जो सोता हुआ स्वप्न देखता है, वही जग कर स्वप्न दर्शनों का प्रतिसन्धान करता है कि 'यह मैंने देखा'। वहां जाग्रत् बुद्धि वृत्ति के कारण स्वप्न विषय का अभिमान मिथ्या है। यह व्यवसाय होता है, स्वप्न और जागरण में कुछ भेद न होता तो साधन अनर्थक होता जो धर्म जिस वस्तु में नहीं है उस धर्म का उस वस्तु में बोध होना प्रधान के आधीन है। जैसे खंभ में पुरुष बुद्धि होना प्रधान के आश्रय है, क्योंकि पुरुष की उपलब्धि के बिना पुरुष भिन्न में पुरुष का ज्ञान कभी नहीं हो सकता। इसी प्रकार स्वप्न में हस्ती, पर्वत, आदि का दर्शन प्रधान के आश्रय होना चाहिये ॥३४॥

मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्त्वज्ञानात्स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्प्रतिबोधे ॥ ३५ ॥

स्थाणौ पुरुषोऽयमिति व्यवसायो मिथ्योपलब्धिः (अतस्मिंस्तदिति ज्ञानं स्थाणौ स्थाणुरिति व्यवसायस्तत्त्वज्ञानं तत्त्वज्ञानेन च मिथ्योपलब्धिर्निवर्त्यते नार्थः स्थाणुपुरुषसामान्यलक्षणः यथा प्रतिबोधे या ज्ञानवृत्तिस्तया स्वप्नविषयाभिमानो) निवर्त्यते नार्थो विषयसामान्यलक्षणः तथा मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकानामपि या बुद्धयोऽतस्मिंस्तदिति व्यवसायास्तत्राप्यनेनैव कल्पेन मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्त्वज्ञानान्नार्थप्रतिषेध इति। उपादानवच्च मायादिषु मिथ्याज्ञानं प्रज्ञापनीयसरूपं च द्रव्यमुपादाय साधनवान्परस्य मिथ्याध्यवसायं करोति सा माया नीहारप्रभृतीनां नगररूपसन्निवेशे दूरान्नगरबुद्धिरुत्पद्यते विपर्यये तदभावात्। सूर्यमरीचिषु भौमेनोष्मणा संसृष्टेषु स्पन्दमानेषूदकबुद्धिर्भवति सामान्यग्रहणात् अन्तिकस्थस्य विपर्यये तदभावात्। क्वचित् कदाचित् कस्यचिच्च भावान्नानिमित्तं मिथ्याज्ञानं दृष्टं च बुद्धिद्वैतं मायाप्रयोक्तुः परस्य च दूरान्तिकस्थयोर्गन्धर्वनगरमृगतृष्णिकासु सुप्तप्रतिबुद्धयोश्च स्वप्नविषये तदेतत्सर्वस्याभावे निरुपाख्यतायां निरात्मकत्वे नोपपद्यत इति ॥

भा०:—जागने पर स्वप्न विषयक अभिमान का नाश हो जाता है उसी प्रकार तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होता है। जो धर्म जिस वस्तु में नहीं है, उस में उस के ज्ञान को "मिथ्या ज्ञान" कहते हैं। उदाहरण जैसे 'खंभे में यह पुरुष है'। और जो पदार्थ जैसा है, उसको वैसा ही समझना

तत्त्वज्ञान कहाता, जैसे खंभे को, खंभा समझना, । उसी प्रकार इन्द्रजाल, गन्धर्वनगर, और मृगतृष्णा के ज्ञान भी मिथ्या ही हैं ॥ ३५ ॥

बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् ॥ ३६ ॥

मिथ्याबुद्धेश्चार्थवदप्रतिषेधः । कस्मात् निमित्तोपलम्भात् सद्भावोपलम्भाच्च । उपलभ्यते हि मिथ्याबुद्धिनिमित्तं मिथ्याबुद्धिश्च प्रत्यात्मसमुत्पन्ना गृह्यते संवेद्यत्वात् तस्मान्मिथ्याबुद्धिरप्यस्तीति ।

भा०:—अर्थ की नाईं (जैसे अर्थ का प्रतिषेध नहीं है) मिथ्या बुद्धि का भी निषेध नहीं हो सकता, क्योंकि मिथ्या बुद्धि का कारण और उसकी सत्ता दोनों की उपलब्धि होती है। प्रत्येक पुरुष को मिथ्या बुद्धि का ग्रहण होता है इसलिये मिथ्या बुद्धि भी है ॥ ३६ ॥

तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः ॥ ३७ ॥

तत्त्वं स्थाणुरिति प्रधानं पुरुष इति तत्त्वप्रधानयोरलोपाद्भेदात् स्थाणौ पुरुष इति मिथ्याबुद्धिरुत्पद्यते सामान्यग्रहणात् । एवं पताकायां बलाकेति लोष्टे कपोत इति न तु समाने विषये मिथ्याबुद्धीनां समावेशः सामान्यग्रहणाव्यवस्थानात् । यस्य तु निरात्मकं निरुपाख्यं सर्वं तस्य समावेशः प्रसज्यते । गन्धादौ च प्रमेये गन्धादिबुद्धयो मिथ्याभिमतास्तत्त्वप्रधानयोः सामान्यग्रहणस्य चाभावात्तत्त्वबुद्धय एव भवन्ति तस्मादयुक्तमेतत् प्रमाणप्रमेयबुद्धयो मिथ्येति । दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिरित्युक्तम् ।

अथ कथं तत्त्वज्ञानमुत्पद्यत इति ।

भा०:—तत्त्व और प्रधान के भेद से मिथ्या बुद्धि दो प्रकार की है । खंभा (स्थाणु) तत्त्व है और प्रधान पुरुष है । इनमें भेद होने से खंभा को पुरुष समझना अर्थात् भ्रम से खंभा को पुरुष जानना मिथ्या बुद्धि है इसी प्रकार पताका(झंडा) को बगुलों का कतार (बक पंक्ति) जानना और लोष्ट (ढेले) को कबूतर जानना आदि । सामान्य के ज्ञान से समान विषय में मिथ्या बुद्धियों का समावेश नहीं हो सकता । गन्ध आदि प्रमेय (सू० ९ अ० १) में जो गन्ध आदि बुद्धि मिथ्या अभिमत है वह तत्त्व और प्रधान में सामान्य ग्रहण के अभाव से (न होने से) तत्त्व बुद्धि ही होती है। इसलिये ' प्रमाण ' और ' प्रमेय ' बुद्धि मिथ्या हैं ऐसा कहना ठीक नहीं है । जिस तत्त्वज्ञान से दोष निमित्तों के अहङ्कार की निवृत्ति होती है सो कहा गया अब तत्त्वज्ञान कैसे होता है सो कहते हैं ॥ ३७ ॥

समाधिविशेषाभ्यासात् ॥ ३८ ॥

स तु प्रत्याहृतस्येन्द्रियेभ्यो मनसो धारकेण प्रयत्नेन धार्यमाणस्यात्मना संयोगस्तत्त्वबुभुत्साविशिष्टः सति हि तस्मिन्निन्द्रियार्थेषु बुद्धयो नोत्पद्यन्ते तदभ्यासवशात्तत्त्वबुद्धिरुत्पद्यते । यदुक्तं सति हि तस्मिन् इन्द्रियार्थेषु बुद्धयो नोत्पद्यन्ते इत्येतत् ।

भा०:—समाधि विशेष के अभ्यास से तत्त्वज्ञान उत्पन्न होता है। इन्द्रियों से हटाये, धारक प्रयत्न से धारण किये मन का जो तत्त्व जानने की इच्छा से युक्त आत्मा के साथ संयोग वह तत्त्व ज्ञान का मूल कारण है। उसके होने से ही श्रोत्रादि इन्द्रियों के शब्दादि विषयों में बुद्धि उत्पन्न नहीं होतीं और उसके अभ्यास (वार २ करना) करने से तत्त्वज्ञान होता है ॥ ३८ ॥

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ ३९ ॥

अनिच्छतोऽपि बुद्ध्युत्पत्तेर्नैतद्युक्तम् । कस्मात् अर्थविशेषप्राबल्यात् अबुभुत्समानस्यापि बुद्ध्युत्पत्तिर्दृष्टा यथा स्तनयित्नुशब्दप्रभृतिषु तत्र समाधिविशेषो नोपपद्यते।

भा०:—अर्थ विशेष की प्रबलता से समाधि विशेष नहीं हो सकती। उदाहरण जैसे जानने की इच्छा न रहते भी बिजली के शब्द प्रकाश आदि पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। इससे समाधि विशेष नहीं होती ॥ ३९ ॥

क्षुदादिभिः प्रवर्त्तनाच्च ॥ ४० ॥

क्षुत्पिपासाभ्यां शीतोष्णाभ्यां व्याधिभिश्चानिच्छतोऽपि बुद्धयः प्रवर्त्तन्ते तस्मादैकाग्र्यानुपपत्तिरिति । अस्त्वेतत्समाधिं विहाय व्युत्थानं व्युत्थाननिमित्तं समाधिप्रत्यनीकं च सति त्वेतस्मिन् ।

भा०:—भूख, प्यास, शीत, और उष्णता तथा रोगादि के होने से विना इच्छा भी बुद्धि उत्पन्न हो जाती हैं इस लिये मन की एकाग्रता नहीं हो सकती तो समाधि से तत्त्वज्ञान होना और तत्त्वज्ञान से मोक्ष होना जो कहा था वह कथन मात्र हुआ इसका समाधान अगले सूत्र से करते हैं ॥ ४० ॥

पूर्वकृतफलानुबन्धात्तदुत्पत्तिः ॥ ४१ ॥

पूर्वकृतो जन्मान्तरोपचितस्तत्त्वज्ञानहेतुर्धर्मप्रविवेकः फलानुबन्धो योगाभ्याससामर्थ्यं निष्फले ह्यभ्यासे नाभ्यासमाद्रियेरन् । दृष्टं हि लौकिकेषु कर्मस्वभ्याससामर्थ्यम् । प्रत्यनीकपरिहारार्थं च ।

भा०:—पूर्व जन्म में किया हुआ तत्वज्ञान के कारण धर्म विशेष के फलानुबन्ध से समाधि की उत्पत्ति होगी। जो अभ्यास निष्फल होता, तो विवेकी पुरुष अभ्यास का आदर कभी नहीं करते, क्योंकि लौकिक कामों में विघ्न दूर करने की शक्ति अभ्यास में देखी जाती है ॥ ४१ ॥

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥ ४२ ॥

योगाभ्यासजनितो धर्मो जन्मान्तरेऽप्यनुवर्तते प्रचयकाष्ठागते तत्त्वज्ञान-हेतौ धर्मे प्रकृष्टायां समाधिभावनायां तत्त्वज्ञानमुत्पद्यत इति। दृष्टश्च समाधिना ऽर्थविशेषप्राबल्याभिभवः नाहमेतदश्रौषं नाहमेतदज्ञासिषमन्यत्र मे मनोऽभूदित्याह लौकिक इति।

यद्यर्थविशेषप्राबल्यादनिच्छतोऽपि बुद्ध्युत्पत्तिरनुज्ञायते।

भा०:—बन, गुफा, नदी, तीर, आदि स्थानों में योगाभ्यास का उपदेश (योगशास्त्र में) किया है। योगाभ्यास से उत्पन्न हुआ धर्म दूसरे जन्म में भी बना रहता है। तत्त्वज्ञान का कारण धर्म, जब अति उत्कृष्ट दशा को पहुंचता है और जब ' समाधि भावना ' बहुत बढ़ जाती है तब "तत्त्वज्ञान" होता है। ऐसा लोक में भी देखा जाता है कि जब चित्त एकाग्र होता है तब सामने की बातों को भी नहीं सुनता न जानपाता है। इसी से कहता है कि ' यह मैंने नहीं सुना ' ' इस का ज्ञान मुझे नहीं हुआ ' मेरा मन और ठिकाने लगा था ॥ ४२ ॥

अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ॥ ४३ ॥

मुक्तस्यापि बाह्यार्थसामर्थ्याद् बुद्धय उत्पद्येरन्निति।

भा०:—यदि ऐसा कोई समझे कि जैसे बद्ध पुरुष (जीव) की बुद्धि बाहरी पदार्थों की प्रबलता से उत्पन्न होती है इसी प्रकार मोक्ष में भी मुक्त पुरुष (जीव) को बुद्धि उत्पन्न होगी तो बद्ध जीव और मुक्त जीव में क्या अन्तर भेद होगा ?। इस शंका का समाधान अगले सूत्र से होगा ॥ ४३ ॥

न निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ॥ ४४ ॥

कर्मवशान्निष्पन्ने शरीरे चेष्टेन्द्रियार्थाश्रये निमित्तभावादवश्यंभावी बुद्धीनामुत्पादः न च प्रबलोऽपि सन् बाह्योऽर्थ आत्मनो बुद्ध्युत्पादे समर्थो भवति तस्येन्द्रियेण संयोगाद्बुद्ध्युत्पादे सामर्थ्यं दृष्टमिति।

भा०:—कर्म वश से चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों के आश्रय (आधार) शरीर के उत्पन्न होने से ज्ञानों की उत्पत्ति निमित्त रहने से अवश्य होती है।

प्रबल भी बाह्य अर्थ आत्मा को ज्ञान कराने में समर्थ नहीं है। इन्द्रियों के संयोग से ज्ञानोत्पत्ति कराने में उसका सामर्थ्य देखा जाता है ॥ ४४ ॥

तदभावश्चापवर्गे ॥ ४५ ॥

तस्य बुद्धिनिमित्ताश्रयस्य शरीरेन्द्रियस्य धर्माधर्माभावादभावोऽपवर्गे। तत्र यदुक्तमपवर्गेऽप्येवं प्रसज्यत इति तदयुक्तम्। तस्मात्सर्वदुःखविमोक्षोऽपवर्गः। यस्मात्सर्वदुःखबीजं सर्वदुःखायतनं चापवर्गे विच्छिद्यते तस्मात्सर्वेण दुःखेन विमुक्तिरपवर्गो न निर्बीजं निरायतनं च दुःखमुत्पद्यतइति ॥

भा०—बुद्धि के निमित्तों का आश्रय रूप जो शरीर और इन्द्रियां हैं। उनका धर्म अधर्म के न होने से मुक्ति में अभाव है। इस लिये मुक्ति समय में भी ज्ञान की उत्पत्ति हो जायगी ऐसा कहना उचित नहीं. इस लिये सब दुःखों से छूटना "अपवर्ग" है। जिस लिये सब प्रकार के दुःखों का बीज, सब दुःख का आधार अपवर्ग में छिन्न हो जाता। इस लिये सब दुःखों से मुक्ति अपवर्ग में हो जाती है क्योंकि बिना कारण और बिना आधार बिना (शरीर और इन्द्रिया) दुःख उत्पन्न नहीं होता ॥ ४५ ॥

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः ॥ ४६ ॥

तस्यापवर्गस्याधिगमाय यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारः। यमः समानमाश्रमिणां धर्मसाधनं नियमस्तु विशिष्टम्। आत्मसंस्कारः पुनरधर्महानं धर्मोपचयश्च योगशास्त्राच्चाध्यात्मविधिः प्रतिपत्तव्यः। स पुनस्तपः प्राणायामः प्रत्याहारो ध्यानं धारणेति। इन्द्रियविषयेषु प्रसंख्यानाभ्यासो रागद्वेषप्रहाणार्थं उपायस्तु योगाचारविधानमिति ॥

भा०:—उस मुक्ति पाने के लिये 'यम' 'नियमों' से आत्मा का संस्कार करना चाहिये जिससे पाप का नाश एवं पुण्य की वृद्धि हो। योग शास्त्र (पातञ्जल योग शास्त्र) से अध्यात्म विधि प्राप्त करना. तप, प्राणायाम, प्रत्याहार. ध्यान और धारणा ये विधि हैं ॥ ४६ ॥

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ॥ ४७ ॥

तदर्थमिति प्रकृतम्। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमात्मविद्याशास्त्रं तस्य ग्रहणमध्ययनधारणे अभ्यासः सततक्रियाऽध्ययनश्रवणचिन्तनानि तद्विद्यैश्च सह संवाद इति प्रज्ञापरिपाकार्थं परिपाकस्तु संशयच्छेदनमविज्ञातार्थबोधोऽध्यवसिताभ्यनुज्ञानमिति समायवादः संवादः ॥

तद्विद्यैश्च सह संवादः इत्यविभक्तार्थं वचनं विभज्यते ।

भा०:—मोक्ष के लिये आत्मविद्या का लगातार पढ़ना, सुनना, और विचार करना, तथा अध्यात्म शास्त्र जानने वालों के साथ बुद्धि की परिपक्वता के लिये सदा वार्तालाप करना चाहिये, उनसे सन्देह की निवृत्ति, अज्ञात विषयों का बोध और निश्चित अभ्यनुज्ञान होते हैं ॥ ४७ ॥

तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोर्थिभिरनसूयुभिरभ्युपेयात् ॥ ४८ ॥

एतन्निगदेनैव नीतार्थमिति ।

यदिदं मन्येत पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः प्रतिकूलः परस्येति ॥

भा०:-असूया (हसद) रहित जो शिष्य गुरु सहाध्यायी उत्कृष्ट ज्ञानवान् और मुमुक्षु, इन के द्वारा अध्यात्म विद्यावान् से सत्सङ्ग करे ॥ ४८ ॥

प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ॥४९॥

तमभ्युपेयादिति वर्त्तते । परतः प्रज्ञामुपादित्समानस्तत्त्वबुभुत्साप्रकाशनेन स्वपक्षमनवस्थापयन् स्वदर्शनं परिशोधयेदिति ।

अन्योन्यप्रत्यनीकानि च प्रावादुकानां दर्शनानि * ।

स्वपक्षरागेण चैके न्यायमतिवर्त्तन्ते तत्र ।

भा०:-दूसरे से ज्ञान का ग्रहण करना चाहता पुरुष तत्त्व ज्ञान की इच्छा प्रकट कर अपने पक्ष को स्थापन न करता हुआ अपने दर्शन को सोधे । अर्थात् अपने प्रयोजन का अर्थी (गरज मन्द) पक्षपात छोड़ कर तत्त्व निर्णय करे । जब अपने पक्ष का हठ होता है तब लोग न्याय का उल्लंघन करने लगते हैं ॥ ४९ ॥

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् ॥ ५० ॥

अनुत्पन्नतत्त्वज्ञानानामप्रहीणदोषाणां तदर्थं घटमानानामेतदिति । विद्यानिर्वेदादिभिश्च परेणावज्ञायमानस्य ॥

भा०:—जैसे बीज की रक्षा के लिये सब ओर से काटे दार शाखा लगा देते हैं, उसी प्रकार तत्त्व निर्णय की इच्छा रहित, केवल जीतने की गरज से पक्ष लेकर आक्षेप करते हैं उन के दूषण के समाधान के लिये जल्प, वितण्डा

* अयुक्तपरित्यागेन युक्तपरिग्रहेण च परिशोधयेदिति संबध्यते। ता०टी०

(अ० १ आ० १ सू० ४३।४४) का उपदेश किया गया है ॥ ५० ॥

ताभ्यां विगृह्य कथनम् ॥ ५१ ॥

विगृह्येति विजिगीषया न तत्त्वबुभुत्सयेति। तदेतद्विद्यापालनार्थं न लाभपूजाख्यात्यर्थमिति ॥ *

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ॥४॥

भा०:—जीतने की इच्छा से न कि तत्त्व ज्ञान की इच्छा से 'जल्प' और 'वितण्डा' के द्वारा वाद (बहस) करे, पर यह भी विद्या की रक्षा के लिये करे, लाभ, सम्मान, और अपनी प्रसिद्धि के लिये नहीं ॥ ५१ ॥

न्यायशास्त्र के चतुर्थ अध्याय का अनुवाद पूरा हुआ ॥
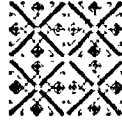
* न हि परहितप्रवृत्तः परमकारुणिको मुनिर्दृष्टार्थं परपांसनोपायमुपदिशतीति। ता० टी०।

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानस्य विकल्पाज्जातिबहुत्वमिति संक्षेपेणोक्तं तद्विस्तरेण विभज्यते । ताः खल्विमा जातयः * स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते चतुर्विंशतिः प्रतिषेधहेतवः ।

अवतरणिका ॥

भा० भा०:–साधर्म्य और वैधर्म्य के कारण अनेक प्रकार से खण्डन होने से ' जाति ' (अ० १ आ० २।१।२०) बहुत हैं, यह संक्षेप से कहा गया था । अब उसका विस्तार से विभाग करते हैं । खण्डन हेतु के प्रयोग करने में प्रतिषेध के कारण निम्न लिखित २४ प्रकार की ' जाति ' होती हैं + ।

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः ॥ १ ॥

साधर्म्येण प्रत्यवस्थानमविशिष्यमाणं स्थापनाहेतुतः साधर्म्यसमः । अविशेषं तत्र तत्रोदाहरिष्यामः । एवं वैधर्म्यसमप्रभृतयोऽपि निर्वक्तव्याः लक्षणं तु ।

भा०:–निम्न लिखित २४ जातियों के लक्षण और उदाहरण आगे सूत्रों

---

* तत्र जातिर्नाम स्थापनाहेतौ प्रयुक्ते यः प्रतिषेधासमर्थो हेतुः । न्या० वा० । अत्र प्रतिषेधबुद्ध्या प्रयुक्त इति शेष इति । ता० टी० । यदा वादी परस्य साधनं साध्विति मन्यते लाभपूजाख्यातिकामश्च भवति तदा जातिं प्रयुङ्क्ते कदा चिदयं जात्युत्तरेणाकुलीकृतो नोत्तरं प्रतिपद्यते उत्तराप्रतिपत्त्या च निगृह्यते । अनभिधाने च जातेरैकान्तिकः पराजयः परस्येत्यैकान्तिकात्पराजयाद्वरमस्तु सन्देह इति युक्तो जातेः प्रयोगः । न्या० वा० ।

+ जाति उसे कहते हैं जो पक्ष के खण्डन के लिये ' हेतु ' के प्रयोग को करे और वह हेतु परपक्ष के खण्डन के लिये असमर्थ हो । जब वादी प्रतिवादी के साधन को अच्छा समझता और यह समझता है कि इससे इस को लाभ, सत्कार, और प्रसिद्धि होगी तो वह जाति का प्रयोग इस अभिप्राय से करता है कि कदाचित् यह, जाति के उत्तर देने में घबड़ा कर उत्तर न देवे या न समझ सके तो हार जावेगा । और यदि इस अवसर पर जाति का प्रयोग न किया जावे तो एक तरफा जीत होगी, इस से अच्छा होगा कि–जाति के प्रयोग से प्रतिवादी सन्देह ही में रहे, इस लिये जाति का प्रयोग किया जाता है ॥

में किये जावेंगे । जाति २४ प्रकार की हैं । १ साधर्म्यसम, २ वैधर्म्यसम, ३ उत्कर्षसम, ४ अपकर्षसम, ५ वर्ण्यसम, ६ अवर्ण्यसम, ७ विकल्पसम, ८ साध्यसम, ९ प्राप्तिसम, १० अप्राप्तिसम, ११ प्रसंगसम, १२ प्रतिदृष्टान्तसम, १३ अनुत्पत्तिसम, १४ संशयसम, १५ प्रकरणसम, १६ हेतुसम, १७ अर्थापत्तिसम, १८ अविशेषसम, १९ उपपत्तिसम, २० उपलब्धिसम, २१ अनुपलब्धिसम, २२ नित्यसम, २३ अनित्यसम और २४ कार्यसम ॥१॥

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ॥ २ ॥

साधर्म्येणोपसंहारे साध्यधर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्येणैव प्रत्यवस्थानमविशिष्यमाणं स्थापनाहेतुतः साधर्म्यसमः प्रतिषेधः । निदर्शनं क्रियावानात्मा द्रव्यस्य क्रियाहेतुगुणयोगात् । द्रव्यं लोष्टः क्रियाहेतुगुणयुक्तः क्रियावान् तथा चात्मा तस्मात्क्रियावानिति । एवमुपसंहृते परः साधर्म्येणैव प्रत्यवतिष्ठते निष्क्रिय आत्मा विभुनो द्रव्यस्य निष्क्रियत्वात् विभु चाकाशं निष्क्रियं च तथा चात्मा तस्मान्निष्क्रिय इति । न चास्ति विशेष हेतुः क्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावता भवितव्यं न पुनरक्रियसाधर्म्यात् निष्क्रियेणेति । विशेषहेत्वभावात्साधर्म्यसमः प्रतिषेधो भवति । अथ वैधर्म्यसमः क्रियाहेतुगुणयुक्तो लोष्टः परिच्छिन्नो दृष्टो न च तथात्मा तस्मान्न लोष्टवत् क्रियावानिति । न चास्ति विशेषहेतुः क्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावता भवितव्यं न पुनः क्रियावद्वैधर्म्यादक्रियेणेति विशेषहेत्वभावाद्वैधर्म्यसमः । वैधर्म्येण चोपसंहारे निष्क्रिय आत्मा विभुत्वात् क्रियावद् द्रव्यमविभु दृष्टं यथा लोष्टो न च तथात्मा तस्मान्निष्क्रिय इति वैधर्म्येण प्रत्यवस्थानं निष्क्रियं द्रव्यमाकाशं क्रियाहेतुगुणरहितं दृष्टं न तथात्मा तस्मान्न निष्क्रिय इति । न चास्ति विशेषहेतुः क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियेण भवितव्यं न पुनरक्रियवैधर्म्यात् क्रियावतेति विशेषहेत्वभावाद्वैधर्म्यसमः । क्रियावान् लोष्टः क्रियाहेतुगुणयुक्तो दृष्टः तथा चात्मा तस्मात् क्रियावानिति । न चास्ति विशेषहेतुः क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियो न पुनःक्रियावत्साधर्म्यात् क्रियावानिति विशेषहेत्वभावात्साधर्म्यसमः । अनयोरुत्तरम् ।

भा०ः–समान धर्म से उपसंहार होने पर साध्य धर्म से विपर्यय की उपपत्ति से समान धर्म ही से अविशिष्यमाण प्रत्यवस्थान स्थापना हेतु से 'साधर्म्यसम' प्रतिषेध होता है । उदाहरण, जैसे आत्मा से युक्त और क्रियावाला है । उसी प्रकार आत्मा है, 'अतएव क्रियावान् है' ऐसे उपसंहार

होने पर दूसरा साधर्म्य ही से खण्डन करता है कि 'आत्मा अक्रिय है, विभु द्रव्य को क्रिया रहित होने से आकाश विभु और शून्य है, वैसा ही आत्मा है इस लिये क्रिया रहित है'। विशेष हेतु कोई नहीं क्रियावान् के साधर्म्य से क्रियावाला होना चाहिये। फिर शून्य के साधर्म्य से क्रिया रहित हो ना इन में विशेष हेतु के न होने से "साधर्म्यसम" प्रतिषेध होता है। क्रियाहेतु गुणयुक्त मृत्पिण्ड परिच्छिन्न देखा जाता और आत्मा ऐसा नहीं है अतएव मृत्पिण्ड की नाईं आत्मा क्रियावाला नहीं है और विशेष कारण कोई है नहीं कि जिससे क्रियावान् के साधर्म्य से क्रियावाला होना चाहिये और क्रियावाला के वैधर्म्य से क्रिया रहित न होना सिद्ध हो जावे विशेष हेतु न होने से "वैधर्म्यसम" (प्रतिषेध) हुआ। और वैधर्म्य से उपसंहार में आत्मा क्रिया शून्य एवं विभु होने से। क्रियावान् द्रव्य अविभु देखा गया है जैसा मृत्पिण्ड और आत्मा ऐसा नहीं है, इस लिये क्रिया रहित है। वैधर्म्य से प्रत्यवस्थान जैसे क्रिया रहित द्रव्य आकाश क्रिया हेतु गुण रहित देखा गया है और वैसा आत्मा नहीं है इस लिये क्रिया रहित नहीं है। और विशेष हेतु है नहीं कि क्रियावान् के वैधर्म्य से निष्क्रिय होना चाहिये न फिर क्रिया शून्य के वैधर्म्य से क्रियावान् होना विशेष कारण के न होने से "वैधर्म्यसम" प्रतिषेध हुआ ॥ २ ॥

गोत्वाद्गोसिद्धिवत्तत्सिद्धिः ॥ ३ ॥

साधर्म्यमात्रेण वैधर्म्यमात्रेण च साध्यसाधने प्रतिज्ञायमाने स्यादव्यवस्था सा तु धर्मविशेषे नोपपद्यते गोसाधर्म्याद्गोत्वाज्जातिविशेषाद्गौः सिध्यति न तु सास्नादिसम्बन्धात् । अश्वादिवैधर्म्याद्गोत्वादेव न गौः सिध्यति न गुणादिभेदात् । तच्चैतत् कृतव्याख्यानमवयवप्रकरणे प्रमाणानामभिसंबन्धाच्चैकार्थकारित्वं समानं वाक्यइति । हेत्वाभासाश्रया खल्वियमव्यवस्थेति ।

भा०:-केवल 'साधर्म्य' या केवल 'वैधर्म्य' से साध्य के सिद्ध करने की प्रतिज्ञा हो तो अव्यवस्था आती है। धर्म विशेष में वह नहीं बन सकती, गो स्वरूप जाति विशेष से गौ सिद्ध होती, न कि सास्ना आदि (कांवर आदि) सम्बन्ध से। घोड़ा आदि वैधर्म्य गोत्व से गो सिद्ध होता-कुछ गुण आदि भेद से नहीं ॥ ३ ॥

साध्यदृष्टान्तयोर्द्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ॥ ४ ॥

दृष्टान्तधर्मं साध्ये समासञ्जन् उत्कर्षसमः। यदि क्रिया हेतुगुणयोगाल्लोष्टवत् क्रियावानात्मा लोष्टवदेव स्पर्शवानपि प्राप्नोति। अथ न स्पर्शवान् लोष्टवत् क्रियावानपि न प्राप्नोति विपर्यये वा विशेषो वक्तव्य इति। साध्ये धर्माभावं दृष्टान्तात् प्रसञ्जतो ऽपकर्षसमः। लोष्टः खलु क्रियावानविभुर्दृष्टः काममात्मा ऽपि क्रियावानविभुरस्तु विपर्यये वा विशेषो वक्तव्य इति। ख्यापनीयो वर्ण्यो विपर्ययादवर्ण्यः तावेतौ साध्यदृष्टान्तधर्मौ विपर्यस्यतो वर्ण्यावर्ण्यसमौ भवतः। साधनधर्मयुक्ते दृष्टान्ते धर्मान्तरविकल्पात्साध्यधर्मविकल्पं प्रसञ्जतो विकल्पसमः। क्रियाहेतुगुणयुक्तं किं चिद् गुरु यथा लोष्टः किं चिल्लघु यथा वायुरेवं क्रिया हेतुगुणयुक्तं किं चित्क्रियावत्स्याद् यथा लोष्टः किं चिद्क्रियं यथा ऽऽत्मा विशेषो वा वाच्य इति। हेत्वाद्यवयवसामर्थ्ययोगी धर्मः साध्यः तं दृष्टान्ते प्रसञ्जतः साध्यसमः। यदि यथा लोष्टस्तथा ऽऽत्मा प्राप्तस्तर्हि यथात्मा तथा लोष्ट इति। साध्यश्चायमात्मा क्रियावानिति कामं लोष्टोपि साध्यः। अथ नैवं तर्हि यथा लोष्टः तथात्मा। एतेषामुत्तरम्॥

भा०:- दृष्टान्त धर्म को साध्य के साथ मिलाने वाले को "उत्कर्षसम" कहते हैं। जो क्रिया हेतु गुण के योग से लोष्ट की नाईं क्रियावाला ही आत्मा हो, तो लोष्ट ही की भांति स्पर्शवाला भी प्राप्त होता है। अब जो कहो कि स्पर्शवाला नहीं, तो लोष्ट की नाईं क्रियावाला भी सिद्ध नहीं होता। विपर्य्यय में विशेष कहना चाहिये॥ साध्य में दृष्टान्त से धर्माभाव के प्रसंग को "अपकर्षसम" कहते हैं। लोष्ट निश्चय क्रियावाला अविभु देखा गया है। विशेष कर आत्मा भी क्रियावाला अविभु होना चाहिये। जो ऐसा नहीं, तो विशेषता दिखानी चाहिये। प्रसिद्ध के योग्य "वर्ण्य" कहाता और इसके विपरीत को "अवर्ण्य" कहते हैं, ये दोनों साध्य दृष्टान्त के धर्म हैं। विपर्य्यय से यह "वर्ण्यावर्ण्यसम" कहाते हैं। साधन धर्म से युक्त दृष्टान्त में अन्य धर्म के विकल्प से साध्यधर्म के विकल्प का प्रसङ्ग कराने वाले का नाम "विकल्पसम" है। क्रिया हेतु गुण युक्त कुछ भारी गुरु होता है। जैसा लोष्ट, कुछ हलका जैसा वायु, इसी प्रकार क्रिया हेतु गुण युक्त कुछ क्रियावाला हो, जैसे लोष्ट कुछ क्रिया रहित होवे, जैसा आत्मा या विशेष कहना चाहिये। हेतु आदि अवयव सामर्थ्ययोगी धर्म साध्य होता है। उसको दृष्टान्त में प्रसङ्ग कराने वाले को "साध्यसम" कहते हैं जो जैसा लोष्ट है वैसा आत्मा। तो प्राप्त हुआ कि जैसा आत्मा है वैसा लोष्ट

है। यह आत्मा क्रियावाला साध्य है, तो निस्सन्देह लोष्ट भी साध्य है। यदि ऐसा नहीं तो जैसा लोष्ट है, वैसा आत्मा है। यह नहीं हो सकता ॥४॥

किंचित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ॥ ५ ॥

अलभ्यः सिद्धस्य निन्हवः सिद्धं च किंचित्साधर्म्यादुपमानं यथा गौस्तथा गवय इति तत्र न लभ्यो गोगवययोर्धर्मविकल्पश्चोदयितुम्। एवं साधके धर्मे दृष्टान्तादिसामर्थ्ययुक्ते न लभ्यः साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पाद्वैधर्म्यात्प्रतिषेधो वक्तुमिति॥

भा०:—सिद्ध वस्तु का छिपाना कठिन है. कुछ साधर्म्य होने से उपमान होता है। उदाहरण जैसेः—यथा गौ ऐसा ही गवय होता। यहां गो और गवय के धर्म विकल्प की शंका प्राप्त हो नहीं सकती। इसी प्रकार साधक धर्म में जोकि दृष्टान्त युक्त है साध्य और दृष्टान्त के विकल्प से वैधर्म हेतु प्रतिषेध कहना कठिन है ॥ ५ ॥

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः ॥ ६ ॥

यत्र लौकिकपरीक्षकाणां बुद्धिसाम्यं तेनाविपरीतो ऽर्थो ऽतिदिश्यते प्रज्ञापनार्थमेवं साध्यातिदेशाद् दृष्टान्तउपपद्यमाने साध्यत्वमनुपपन्नमिति॥

भा०:—जहां लौकिक एवं परीक्षकों की बुद्धि की समानता होती है उससे जो विरुद्ध नहीं होता उसी अर्थ का 'अतिदेश' होता है। प्रज्ञापन के अर्थ ऐसे ही साध्य के अतिदेश से दृष्टान्त उपपन्न रहते साध्यता अनुपपन्न है ॥६॥

प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्या ऽविशिष्टत्वा-प्राप्त्या ऽसाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ॥ ७ ॥

हेतुः प्राप्य वा साध्यं साधयेदप्राप्य। वा न तावत्प्राप्य प्राप्त्यामविशिष्टत्वादसाधकः। द्वयोर्विद्यमानयोः प्राप्तौ सत्यां किं कस्य साधकं साध्यं वा अप्राप्य साधकं न भवति नाप्राप्तः प्रदीपः प्रकाशयतीति। प्राप्त्या प्रत्यवस्थानं प्राप्तिसमः अप्राप्त्या प्रत्यवस्थानमप्राप्तिसमः अनयोरुत्तरम्॥

भा०:—हेतु साध्य को प्राप्त होकर साध्य को सिद्ध करे या न प्राप्त होकर साध्य को पाकर साधक होता, यह नहीं कह सकते; क्योंकि प्राप्ति में विशषता न होने से असाधक हुआ। जब दोनों विद्यमान हैं, तो कौन किसका साधक या कौन साध्य है। अप्राप्य साधक नहीं हो सकता, क्योंकि दीप प्राप्त न होकर प्रकाश नहीं कर सकता। प्राप्ति से खण्डन को "प्राप्तिसम"

और अप्राप्ति से खण्डन को "अप्राप्तिसम" कहते हैं ॥ ७ ॥

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः ॥ ८ ॥

उभयथा खल्वयुक्तः प्रतिषेधः कर्तृकरणाधिकरणानि प्राप्य मृदं घटादिकार्यं निष्पादयन्ति अभिचाराच्च पीडने सति दृष्टमप्राप्य साधकत्वमिति ॥

भा०:—दोनों प्रकार के खण्डन ठीक नहीं हैं। कर्त्ता करण और अधिकरण मट्टी को पाकर घटादि कार्यों को सिद्ध करते हैं। अभिचार से पीडन (श्येनयज्ञ का अनुष्ठान) होने पर, विना दृष्ट कारण के साधकता होती है ॥८॥

दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ ॥९॥

साधनस्यापि साधनं वक्तव्यमिति प्रसङ्गेन प्रत्यवस्थानं प्रसङ्गसमः प्रतिषेधः। क्रियाहेतुगुणयोगी क्रियावान् लोष्ट इति हेतुर्नापदिश्यते न च हेतुमन्तरेण सिद्धिरस्तीति प्रतिदृष्टान्तेन प्रत्यवस्थानं प्रतिदृष्टान्तसमः क्रियावानात्मा क्रियाहेतुगुणयोगाद् लोष्टवदित्युक्ते प्रतिदृष्टान्त उपादीयते क्रियाहेतुगुणयुक्तमाकाशं निष्क्रियं दृष्टमिति। कः पुनराकाशस्य क्रिया हेतुर्गुणो वायुना संयोगः संस्कारापेक्षः वायुवनस्पतिसंयोगवदिति। अनयोरुत्तरम् ॥

भा०:—साधन का भी साधन कहना चाहिये। इस प्रकार खण्डन करने को "प्रसङ्गसम" प्रतिषेध कहते हैं। क्रिया हेतु गुण योगी क्रियावाला लोष्ट है, इस में हेतु का प्रदर्शन नहीं क्रिया और हेतु के विना सिद्धि होती नहीं। प्रति दृष्टान्त करके जो खण्डन है उसको 'प्रति दृष्टान्तसम' कहते हैं। उदाहरण जैसे क्रियावाला 'आत्मा क्रिया हेतु गुण के योग से लोष्ट की नाईं, ऐसे कहने पर प्रतिदृष्टान्त दिया जाता है कि क्रिया हेतु गुण युक्त आकाश निष्क्रिय है (जिसमें क्रिया नहीं है) जो कहो कि आकाश में क्रिया का हेतु गुण कौन सा है? तो संस्कार की अपेक्षा रखने वाला वायु के साथ संयोग है। वायु और वनस्पति के संयोग की भांति। यही प्रतिदृष्टान्त का नाम 'प्रतिदृष्टान्त सम' है ॥ ९ ॥ इन दोनों का समाधान कहते हैं ॥

प्रदीपोपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः ॥ १० ॥

इदं तावदयं पृष्टो वक्तुमर्हति अथ के प्रदीपमुपाददते किमर्थं चेति दिदृक्षमाणा दृश्यदर्शनार्थमिति। अथ प्रदीपं दिदृक्षमाणाः प्रदीपान्तरं कस्मान्नोपाददते अन्तरेणापि प्रदीपान्तरं दृश्यते प्रदीपः तत्र प्रदीपदर्शनार्थं प्रदीपोपादानं निरर्थकम्। अथ दृष्टान्तः किमर्थमुच्यतइति अप्रज्ञातस्य ज्ञापनार्थ-

मिति अथ दृष्टान्ते कारणापदेशः किमर्थं दृश्यते यदि प्रज्ञापनार्थं प्रज्ञातो दृष्टान्तः । स खलु लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्त इति । तत्प्रज्ञापनार्थः कारणापदेशो निरर्थक इति प्रसङ्गसमस्योत्तरम् । अथ प्रतिदृष्टान्तसमस्योत्तरम् ॥

भा०:—यदि किसी से यह पूछा जाय कि 'कौन किस लिये दीपक को लेता है'? तो वह यही उत्तर दे सकता है कि देखने की इच्छा वाला देखने योग्य वस्तु के देखने के लिये यदि। उसी से यह प्रश्न किया जाय कि 'दीप को देखने वाले दूसरा दीप क्यों नहीं लेते?' तो शीघ्र यही उत्तर देगा कि विन दूसरे दीप के दीप देख पड़ता है, तो दूसरे दीप की आवश्यकता ही क्या है? अब यह प्रश्न है कि दृष्टान्त क्यों दिया जाता है? तो इसका उत्तर होगा कि 'अज्ञान के जताने के लिये। अब यदि यह पूछा जावे कि दृष्टान्त में कारण का अपदेश क्यों नहीं किया जाता? तो यहीं कहना पड़ेगा कि जताने के लिये। सो कहना ठीक नहीं, क्योंकि दृष्टान्त तो पहिले से ज्ञात ही है जिस विषय में लौकिक परीक्षकों की बुद्धि की समता होती, वही दृष्टान्त होता है। उसके जताने को "कारणापदेश" निरर्थक है। यह 'प्रसङ्गसम' का उत्तर हुआ ॥ १० ॥

प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाहेतुर्दृष्टान्तः ॥११॥

प्रतिदृष्टान्तं ब्रुवता न विशेषहेतुरपदिश्यते अनेन प्रकारेण प्रतिदृष्टान्तः साधकः न दृष्टान्त इति । एवं प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वेनाहेतुर्दृष्टान्त इत्युपपद्यते स च कथमहेतुर्न स्याद् यद्यप्रतिषिद्धः साधकः स्यादिति ॥

भा०:—प्रतिदृष्टान्त कहने वाले ने विशेष हेतु नहीं कहा कि इस प्रकार से प्रतिदृष्टान्त साधक है और दृष्टान्त साधक नहीं। इस भांति प्रतिदृष्टान्त हेतुत्व से दृष्टान्त अहेतु सिद्ध होता और वह अहेतु क्यों न हो जो साधक अप्रतिषिद्ध हो इस का तात्पर्य यह है कि विन हेतु प्रतिदृष्टान्त से दृष्टान्त को असाधकत्व नहीं होता इसलिये दृष्टान्त यथार्थ है ॥११॥

प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः ॥१२॥

अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते अपर आह। प्रागुत्पत्तेरनुत्पन्ने शब्दे प्रयत्नानन्तरीयकत्वम (नित्यत्व) कारणं नास्ति तदभावाद् नित्यत्वं प्राप्तं नित्यस्य चोत्पत्तिर्नास्ति अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमः । अस्योत्तरम् ॥

भा०:–उत्पत्ति के पहिले कारण के न रहने से "अनुत्पत्तिसम" होता है। शब्द अनित्य है, प्रयत्न की आवश्यक्ता होने से घट की नाईं। ऐसा कहने पर दूसरा कहता है कि उत्पत्ति के पहिले अनुत्पन्न शब्द में प्रयत्नावश्यकता जो अनित्यत्व की हेतु है वह नहीं है। उस के अभाव से नित्य का होना प्राप्त हुआ और नित्य की उत्पत्ति है नहीं अनुत्पत्ति से प्रत्यवस्थान होने से "अनुत्पत्तिसम" हुआ ॥१२॥ इसका उत्तर यह है कि

तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न्नकारणप्रतिषेधः ॥१३॥

तथाभावादुत्पन्नस्येति उत्पन्नः खल्वयं शब्द इति भवति। प्रागुत्पत्तेः शब्द एव नास्ति उत्पन्नस्य शब्दभावाच् शब्दस्य सतः प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वकारणमुपपद्यते कारणोपपत्तेरयुक्तोयं दोषः प्रागुत्पत्ते कारणाभावादिति ॥

भा०:–निश्चय यह शब्द उत्पन्न हुआ ऐसा होता है उत्पत्ति के पहिले शब्द ही नहीं जो उत्पन्न हुआ उसी का शब्दत्व है। तब विद्यमान शब्द को प्रयत्नावश्यकता अनित्य होने का हेतु ठीक ही है कारण की उपपत्ति होने से "प्रागुत्पत्तेः कारणाभावात" यह दोष ठीक नहीं ॥१३॥

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयसमः ॥१४॥

अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते हेतौ संशयेन प्रत्यवतिष्ठते। सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वे अस्त्येवास्य नित्येनसामान्येन साधर्म्यमैन्द्रियकत्वमस्ति च घटेनानित्येनातो नित्यानित्यसाधर्म्यादनिवृत्तः संशय इति। अस्योत्तरम्।

भा०:–प्रयत्न कारण से उत्पन्न होने से घट की भांति शब्द अनित्य है ऐसा कहने पर हेतु में संदेह खड़ा होता है। प्रयत्न की समानता रहते भी इस का नित्य सामान्य के साथ ऐन्द्रियकत्व रूप साधर्म्य है और अनित्य घट के साथ भी समान धर्मता है, इस लिये नित्यानित्य के साधर्म्य से संदेह निवृत्त न हुआ ॥१४॥ इस का उत्तर यह है कि—

साधर्म्यात्संशये न संशयो वैधर्म्यादुभयथा वा संशयेऽत्यन्तसंशयप्रसङ्गो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः॥१५॥

विशेषाद्वैधर्म्यादवधार्यमाणे ऽर्थे पुरुष इति न स्थाणुपुरुषसाधर्म्यात्संशयो अवकाशं लभते। एवं वैधर्म्याद्विशेषात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वादवधार्यमाणे शब्द-

स्यानित्यत्वे नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयो ऽवकाशं न लभते । यदि वै लभेत ततः स्थाणुपुरुषसाधर्म्यानुच्छेदादत्यन्तं संशयः स्यात्। गृह्यमाणे च विशेषे नित्यं साधर्म्यं संशयहेतुरिति नाभ्युपगम्यते न हि गृह्यमाणे पुरुषस्य विशेषे स्थाणुपुरुषसाधर्म्यं संशयहेतुर्भवति ।

भा०:-जब विशेष वैधर्म्य से पुरुष का निश्चय हो गया, तब स्थाणु और पुरुष के साधर्म्य से सन्देह को अवकाश नहीं मिलता, ऐसे ही प्रयत्नानन्तरीयकत्वरूप विशेष वैधर्म्य से शब्द के अनित्यत्व का जब निश्चय हो गया, तब नित्य और अनित्य के साधर्म्य से सन्देह को अवकाश नहीं होता। यदि हो, तो स्थाणु और पुरुष के साधर्म्य के अभाव न होने से अत्यन्त सन्देह हो जाय और जब विशेष का ज्ञान हो गया तब नित्य का साधर्म्य संशय का हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि पुरुष के विशेषत्व के ज्ञान हुए पीछे स्थाणु और पुरुष का साधर्म्य सन्देह का हेतु नहीं होता है ॥ १५ ॥

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ॥ १६ ॥

उभयेन नित्येन चानित्येन च साधर्म्यात्पक्षप्रतिपक्षयोः प्रवृत्तिः प्रक्रिया। अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्येकः पक्षं प्रवर्तयति द्वितीयश्च नित्यसाधर्म्यात् । एवं च सति प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति हेतुरनित्यसाधर्म्येणोच्यमानेन हेतौ तदिदं प्रकरणानतिवृत्त्या प्रत्यवस्थानं प्रकरणसमः । समानं चैतद्वैधर्म्ये ऽपि उभयवैधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसम इति। अस्योत्तरम् ।

भा०:-नित्य और अनित्य इन दोनों के साधर्म्य से पक्ष और प्रतिपक्ष की प्रवृत्ति को "प्रक्रिया" कहते जैसे किसी ने कहा कि 'शब्द अनित्य है प्रयत्नानन्तरीयकत्व से (प्रयत्न की समानता होने से) घट की नाईं'। इस रीति से एक पक्ष को प्रवृत्त करता है और दूसरा नित्य के साधर्म्य से शब्द को नित्य सिद्धि करता है ऐसा होने से प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु अनित्यत्व साधर्म्य से कथन करने पर प्रकरण की अनतिवृत्ति से प्रत्यवस्थान हुआ इस लिये "प्रकरणसम" है और यह वैधर्म्य में भी समान है । उभय वैधर्म्य से प्रक्रिया सिद्धि के कारण "प्रकरणसम" हुआ अर्थात् इस प्रकार से अन्य विरुद्ध के साधर्म्य से दोष देने को, जिस से दो में से एक की सिद्धि और एक की निवृत्ति नहो उसे "प्रकरणसम" कहते हैं ॥१६॥ इस का उत्तर-

प्रतिपक्षात्प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः ॥१७॥

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धिं ब्रुवता प्रतिपक्षात्प्रक्रियासिद्धिरुक्ता भवति यद्युभयसाधर्म्यं तत्र एकतरः प्रतिपक्षः इत्येवं सत्युपपन्नः प्रतिपक्षो भवति ।

प्रतिपक्षोपपत्तेरनुपपन्नः प्रतिषेधो यतः प्रतिपक्षोपपत्तिः प्रतिषेधोपपत्तिश्चेति विप्रतिषिद्धमिति । तत्त्वानवधारणाच्च प्रक्रियासिद्धिर्विपर्यये प्रकरणावसानात् तत्त्वावधारणे ह्यवसितं प्रकरणं भवतीति ॥

भा०:-दोनों के साधर्म्य से प्रक्रिया की सिद्धि कहने में दोनों में से यथार्थ एक ही पक्ष सिद्ध होगा क्योंकि सत् ही हो सकता है जो दूसरे पक्ष की अपेक्षा सत् प्रतिपक्ष है उस प्रतिपक्ष से प्रक्रिया की सिद्धि से प्रतिपक्ष की सिद्धि होने में दोनों के साधर्म्य से प्रतिषेध की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि जब तक तत्त्व का निश्चय नहीं होता तब तक तत्त्व के निश्चय न होने से प्रक्रिया की सिद्धि होती है । तत्त्व के निश्चय होने से प्रकरण का अन्त हो जाता है अतएव प्रकरण से प्रतिषेध की प्राप्ति नहीं होती ॥ १७ ॥

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ॥ १८ ॥

(अहेतुसमः हेतुः) हेतुः साधनं तत्साध्यात् पूर्वं पश्चात्सह वा भवेत् । यदि पूर्वं साधनमसति साध्ये कस्य साधनम् । अथ पश्चाद् असति साधने कस्येदं साध्यम् । अथ युगपत्साध्यसाधने द्वयोर्विद्यमानयोः किं कस्य साधनं किं कस्य साध्यमिति (हेतु) रहेतुना न विशिष्यते । अहेतुना साधर्म्यात् प्रत्यवस्थानमहेतुसमः। अस्योत्तरम् ।

भा०:—हेतु कहते हैं साधन को, वह साध्य से पहिले या पीछे या साथ होगा। जो कहो पहिले होना चाहिये तो साध्य के न रहते किस का साधन होगा? जो कहो पीछे तो साधन के न होने से यह किस का साध्य कहावेगा? अब कहो कि साध्य और साधन साथ ही हैं, तो दोनों की विद्यमानता में कौन किस का साधन और कौन साध्य कहावेगा? इसलिये हेतु से विशेषता न हुई अहेतु के साथ साधर्म्य होने से 'अहेतुसम' प्रत्यवस्थान हुआ ॥ १८ ॥ इसका उत्तर-

न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ॥ १९ ॥

न त्रैकाल्यासिद्धिः । कस्माद् हेतुतः साध्यसिद्धेः । निर्वर्तनीयस्य निर्वृत्तिर्विज्ञेयस्य विज्ञानमुभयं कारणतो दृश्यते सो ऽयं महान्प्रत्यक्षविषय उदाहरणमिति । यत्तु खलूक्तमसति साध्ये कस्य साधनमिति यत्तु निर्वर्त्यते यच्च विज्ञाप्यते तस्येति ।

भा०:-हेतु से साध्य की सिद्धि होती है अतएव तीनों काल (भूत भविष्य वर्तमान) की असिद्धि नहीं । तत्पश्चात् जो कार्य की उत्पत्ति और ज्ञेय वस्तु

का ज्ञान ये दोनों कारण से देखने में आते हैं। यह बड़ा प्रत्यक्ष विषय उदाहरण है। और जो यह कहा कि साध्य के न होने से किस का साधन होगा, तो निर्वर्तनीय है उस का और जो विज्ञान है इसका साधन होगा॥१९॥

प्रतिषेधानुपपत्तेः प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ॥ २० ॥

पूर्वं पश्चाद्युगपद्वा प्रतिषेध इति नोपपद्यते प्रतिषेधानुपपत्तेः स्थापनाहेतुः सिद्ध इति ।

भा०:— पहिले, पीछे, अथवा एक साथ प्रतिषेध सिद्ध नहीं होता और प्रतिषेध की अनुपपत्ति से स्थापना हेतु सिद्ध हुआ ॥ २० ॥

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ॥ २१ ॥

अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदिति स्थापिते पक्षे अर्थापत्त्या प्रतिपक्षं साधयतोऽर्थापत्तिसमः । यदि प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्यसाधर्म्याद्-नित्यः शब्द इत्यर्थादापद्यते नित्यसाधर्म्यान्नित्य इति अस्ति चास्य नित्येन साधर्म्यमस्पर्शत्वमिति । अर्थापत्तिसमः ।

भा०: शब्द अनित्य है प्रयत्नानन्तरीयकत्व से। तदाहरण-जैसे घट इस पक्ष के स्थापन करने पर, अर्थापत्ति से प्रतिपक्ष के साधन करने वाले को अर्थापत्तिसम हुआ। जो प्रयत्नानन्तरीयकत्वरूप अनित्य साधर्म्य से शब्द अनित्य है तो यह अर्थात् सिद्ध होता है कि नित्य के साधर्म्य से नित्य है और अस्पर्शत्वरूप (स्पर्श रहित) साधर्म्य नित्य के साथ इस का विद्यमान है ॥ २१ ॥

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ॥ २२ ॥

अनुपपाद्य सामर्थ्यमनुक्तमर्थादापद्यत इति ब्रुवतः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वात् अनित्यपक्षसिद्धावर्थादापन्नं नित्यपक्षस्य हानिरिति । अनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः उभयपक्षसमा चेयमर्थापत्तिर्यदि नित्यसाधर्म्यादस्पर्शत्वादाकाशवच्च नित्यः शब्दोऽर्थादापन्नमनित्यसाधर्म्यात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्य इति । न चेयं विपर्ययमात्रादैकान्तिनाऽर्थापत्तिः न खलु वै घनस्य ग्राव्णः पतनमिति अर्थादापद्यते द्रवाणामपां पतनाभाव इति ।

भा०:— सामर्थ्य का उपपादन न कर के अनुक्त (न कहा हुआ) अर्थ से सिद्ध होता है। इस प्रकार कहने वाले को अनुक्तत्व से पक्ष हानि की उपपत्ति होती है अनित्यपक्ष की सिद्धि होने पर अनित्यपक्ष की हानि अ-

र्थात् सिद्ध होती है 'अर्थापत्ति' को 'अनैकांतिक' होने से यह अर्थापत्ति उभयपक्ष समान है। जो स्पर्श रहित होना नित्य साधर्म्य से आकाश की नाईं शब्द नित्य है तो प्रयत्नानन्तरीयकत्वरूप अनित्य साधर्म्य से शब्द अनित्य है। यह अर्थात् सिद्ध होता है और यह विपर्ययमात्र से आवश्यक अर्थापत्ति नहीं है घने पत्थर के गिरने से यह निश्चय नहीं होता कि द्रवी भूत जलों के पतन का अभाव अर्थात् सिद्ध है ॥ २२ ॥

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात्सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः ॥ २३ ॥

एको धर्मः प्रयत्नानन्तरीयकत्वं शब्दघटयोरुपपद्यतइत्यविशेषे उभयोरनित्यत्वे सर्वस्याविशेष प्रसज्यते। कथं सद्भावोपपत्तेरेको धर्मः सद्भावः सर्वस्योपपद्यते सद्भावोपपत्तेः सर्वाविशेषप्रसङ्गात् प्रत्यवस्थानमविशेषसमः। अस्योत्तरम्

भा०:-प्रयत्नानन्तरीयकत्वरूप एक धर्म घट का सिद्ध होने से दोनों के अनित्यत्व में अविशेषता हुई। तब सब का अविशेष प्राप्त हुआ, सद्भाव की उपपत्ति से। क्योंकि सद्भावरूप एक धर्म सब का उपपन्न है, तब सद्भाव की उपपत्ति से सर्वाविशेष प्रसंग होगा और तब 'अविशेषसम' प्रत्यवस्थान प्राप्त होगा ॥ २३ ॥ इसका समाधान-

क्वचिद्धर्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ २४ ॥

यथासाध्यदृष्टान्तयोरेकधर्मस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्योपपत्तेरनित्यत्वं धर्मान्तरमविशेषो नैवं सर्वभावानां सद्भावोपपत्तिनिमित्तं धर्मान्तरमस्ति येनाविशेषः स्यात्। अथ मतमनित्यत्वमेव धर्मान्तरं सद्भावोपपत्तिनिमित्तं भावानां सर्वत्र स्यादित्येवं खलु वै कल्प्यमाने अनित्याः सर्वे भावाः सद्भावोपपत्तेरिति पक्षः प्राप्नोति तत्र प्रतिज्ञार्थव्यतिरिक्तमन्यदुदाहरणं नास्ति। अनुदाहरणश्च हेतुर्नास्तीति। प्रतिज्ञैकदेशस्य चोदाहरणत्वमनुपपन्नं न हि साध्यमुदाहरणं भवति ततश्च नित्यानित्यभावादनित्यत्वानुपपत्तिः। तस्मात्सद्भावोपपत्तेः सर्वाविशेषप्रसङ्ग इति निरभिधेयमेतद्वाक्यमिति। सर्वभावानां सद्भावोपपत्तेरनित्यत्वमिति ब्रुवताऽनुज्ञातं शब्दस्यानित्यत्वं तत्रानुपपन्नः प्रतिषेध इति।

भा०:-जैसे साध्य और दृष्टान्त का प्रयत्नानन्तरीयकत्वरूप एक धर्म की उपपत्ति होने से अविशेष करके अनित्यत्व धर्मान्तर है, उसी प्रकार सब पदार्थों का सद्भावोपपत्ति निमित्त धर्मान्तर नहीं है। जिस से अविशेष हो। यदि कहो कि अनित्यत्वरूप धर्मान्तर ही सद्भावोपपत्ति निमित्त भावों का

सर्वत्र हो तो ऐसी कल्पना करने से सब पदार्थ अनित्य हैं। सद्भावोपपत्ति से यह पक्ष प्राप्त होता है। वहां प्रतिज्ञात अर्थ से भिन्न दूसरा उदाहरण नहीं है और विना उदाहरण का हेतु नहीं होता। प्रतिज्ञा के एक देश को उदाहरण होना उपपन्न नहीं होता, क्योंकि साध्य उदाहरण नहीं हो सकता है इसलिये नित्यानित्यभाव से अनित्यत्व की अनुपपत्ति होती है तिस से सद्भाव की उपपत्ति से सर्वाविशेष प्रसंग हो जायगा यह वाक्य निरर्थक है। सद्भावोपपत्ति से सब भावों के अनित्यत्व कहने वाले ने शब्द का अनित्यत्व मान लिया तब प्रतिषेध अनुपपन्न हुआ ॥ २४ ॥

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः ॥ २५ ॥

यद्यनित्यत्वकारणमुपपद्यते शब्दस्येत्यनित्यः शब्दो नित्यत्वकारणमप्युपपद्यतेऽस्यास्पर्शत्वमिति नित्यत्वमप्युपपद्यते (उभयस्यानित्यत्वस्य नित्यत्वस्य च) कारणोपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमः। अस्योत्तरम्।

भा०:—यदि शब्द के अनित्यत्व का कारण मिलता है, तो शब्द अनित्य है, इस के नित्यत्व का कारण, नहीं स्पर्श होना भी उपलब्ध है, तो नित्यत्व भी सिद्ध होता है। अनित्यत्व और नित्यत्व इन दोनों के कारणों की उपपत्ति से प्रत्यवस्थान ' उपपत्तिसम ' हुआ ॥ २५ ॥ इसका उत्तर—

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ॥ २६ ॥

उभयकारणोपपत्तेरिति ब्रुवता नानित्यत्वकारणोपपत्तेरनित्यत्वं प्रतिषिध्यते यदि प्रतिषिध्यते नोभयकारणोपपत्तिः स्यात्। उभयकारणोपपत्तिवचनादनित्यत्वकारणोपपत्तिरभ्यनुज्ञायते अभ्यनुज्ञानादनुपपन्नः प्रतिषेधः।

*व्याघातात्प्रतिषेध इति चेत्समानो व्याघातः।

एकस्य नित्यत्वानित्यत्वप्रसङ्गं व्याहतं ब्रुवतोक्तः प्रतिषेध इति चेत् स्वपक्षपरपक्षयोः समानो व्याघातः स च नैकतरस्य साधक इति।

भा०:— दोनों के कारण की उपपत्ति से ऐसे कहने वाले ने अनित्यत्व के कारण की उपपत्ति से अनित्यत्व का खण्डन नहीं किया। यदि न माने तो उभय कारण की उपपत्ति नहीं हो सकती, तब उभय कारणोपपत्ति कहने से अनित्यत्व कारण की उपपत्ति स्वीकार की गई, तब प्रतिषेध अनुपपन्न हुआ। यदि कहो व्याघात से प्रतिषेध होगा, तो ये व्याघात दोनों को तुल्य है एक को नित्यत्व अनित्यत्व का प्रसंग व्याहत है, ऐसे कहने वाले ने प्रतिषेध

कहा तो यह व्याघात स्वपक्ष और पर पक्ष में समान है और वह दो में से एक का साधक नहीं हो सकता है ॥ २६ ॥

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः ॥ २७ ॥

निर्दिष्टस्य प्रयत्नानन्तरीयकत्वस्यानित्यत्वकारणस्याभावे ऽपि वायुनोदनाद्वृक्षशाखाभङ्गजस्य शब्दस्यानित्यत्वमुपलभ्यते निर्दिष्टस्य साधनस्याभावे ऽपि साध्यधर्मोपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमः । अस्योत्तरम् ।

भा०:—किसी के यह कहने पर कि प्रयत्न से उत्पन्न होने से घट की नाईं शब्द अनित्य है, प्रतिवादी का यह कहना कि विना प्रयत्न से उत्पन्न होने में भी वायु की प्रेरणा से वृक्ष की शाखा के टूटने से उत्पन्न शब्द का अनित्य होना प्रत्यक्ष होता है। इससे तुम्हारा कहा हुआ हेतु ठीक नहीं है इस प्रकार से निर्दिष्ट साधन के अभाव में भी साध्य धर्म की प्राप्ति से प्रत्यवस्थान "उपलब्धिसम" हुआ ॥ २७ ॥ इसका उत्तर ।

कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २८ ॥

प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति ब्रुवता कारणत उत्पत्तिरभिधीयते न कार्यस्य कारणनियमः । यदि च कारणान्तरादप्युपपद्यमानस्य शब्दस्य तदनित्यत्वमुपपद्यते किमत्र प्रतिषिध्यत इति । न प्रागुच्चारणाद्विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिः कस्मादावरणाद्यनुपलब्धेः यथा विद्यमानस्योदकादेरर्थस्यावरणादेरनुपलब्धिः नैवं शब्दस्याग्रहणकारणेनावरणादिनानुपलब्धिः गृह्यते चैतदस्याग्रहणकारणमुदकादिवन्न गृह्यते तस्मादुदकादिविपरीतः शब्दो ऽनुपलभ्यमान इति ।

भा०:—प्रयत्नानन्तरीयकत्व कहने वाले ने कारण से उत्पत्ति कही। कार्य के कारण का नियम नहीं है यदि दूसरे कारण से भी उत्पन्न हुए शब्द को अनित्यत्व हो जाय तो इस में क्या प्रतिषेध है ? उच्चारण के पूर्व विद्यमान शब्द की अनुपलब्धि नहीं, आवरण आदि की अनुपलब्धि से, जैसे विद्यमान जलादि वस्तुओं की अनुपलब्धि, आवरण आदि के कारण होती है वैसी शब्द की नहीं। इस के अग्रहण का कारण जलादिकों की नाईं गृहीत नहीं होता है इस लिये जलादि विपरीत शब्द अनुपलभ्यमान है ॥ २८ ॥

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः ॥ २९ ॥

तेषामावरणादीनामनुपलब्धिर्नोपलभ्यते अनुपलम्भान्नास्तीत्यभावो ऽस्याः सिध्यति अभावसिद्धौ हेत्वभावात्तद्विपरीतमस्तित्वमावरणादीनामवधार्यते

तद्विपरीतोपपत्त्यर्थत्प्रतिज्ञातं न प्रागुच्चारणाद्विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिरित्येतन्न सिध्यति सोऽयं हेतुरावरणाद्यनुपलब्धेरित्यावरणादिषु चावरणाद्यनुपलब्धौ च समयानुपलब्ध्या प्रत्यवस्थितोऽनुपलब्धिसमो भवति। अस्योत्तरम्।

भा०:—उन आवरणादिकों की अनुपलब्धि उपलब्ध नहीं होती है, अनुपलंभ होने से 'नहीं है' इस प्रकार इसका अभाव सिद्ध होता है। अभाव सिद्ध होने पर हेतु के न होने से आवरण आदिकों का विपरीत अस्तित्व निश्चित होता है। उस विपरीत उपपत्ति से जो प्रतिज्ञा की थी कि उच्चारण के पहिले विद्यमान शब्द की अनुपलब्धि नहीं यह सिद्ध नहीं होता है। इस लिये यह हेतु आवरणादि की अनुपलब्धि से आवरणादिकों में आवरणादिकी अनुपलब्धि होने पर समय की अनुपलब्धि से 'अनुपलब्धिसम' प्रत्यवस्थित होता है ॥ २९ ॥ इसका समाधान।

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३० ॥

आवरणाद्युपलब्धिर्नास्ति अनुपलम्भादित्यहेतुः। कस्मादनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेः उपलम्भाभावमात्रत्वादनुपलब्धेः। यदस्ति तदुपलब्धेर्विषयः उपलब्ध्या तदस्तीति प्रतिज्ञायते। यन्नास्ति तदनुपलब्धेर्विषयः अनुपलभ्यमानं नास्तीति प्रतिज्ञायते। सोऽयमावरणाद्यनुपलब्धेरनुपलम्भाभावो ऽनुपलब्धौ स्वविषये प्रवर्त्तमानो न स्वं विषयं प्रतिषेधति। अप्रतिषिद्धा चावरणाद्यनुपलब्धिर्हेतुत्वाय कल्पते। आवरणादीनि तु विद्यमानत्वादुपलब्धेः विषयाः तेषामुपलब्ध्या भवितव्यम्। यत्तानि नोपलभ्यन्ते तदुपलब्धेः स्वविषयप्रतिपादिकाया अभावाद् अनुपलम्भादनुपलब्धेर्विषयो गम्यते न सन्त्यावरणादीनि शब्दस्याग्रहणकारणानीति। अनुपलम्भादनुपलब्धिः सिध्यति विषयः स तस्येति ॥

भा०:—अनुपलम्भ से आवरण आदिकों की अनुपलब्धि है, यह हेतु ठीक नहीं, क्योंकि अनुपलब्धि अनुपलम्भ स्वरूप है, जो है वह उपलब्धि के विषय है। उपलब्धि से 'वह है' ऐसा प्रतिज्ञा की जाती है। जो नहीं है वह अनुपलब्धि का विषय है और अनुपलभ्यमान जो है 'वह नहीं है,' ऐसे प्रतिज्ञात होता है इसलिये आवरणादि अनुपलब्धि से हुआ अनुपलम्भाभाव स्वविषय अनुपलब्धि में प्रवर्तमान स्वविषय का निषेध नहीं करता है। और अप्रतिषिद्ध आवरणादिकों की अनुपलब्धि हेतु हो सकती है। आवरण आदि विद्यमान होने से उपलब्धि के विषय हैं तो उनकी उपलब्धि होनी चाहिये और जो वह उपलब्ध नहीं होते हैं तो स्वविषय प्रतिपादक उपलब्धि के न होने से

अनुपलम्भ से अनुपलब्धि का विषय ज्ञात होता है। शब्द के अग्रहण के कारण आवरणादि नहीं हैं अनुपलंभ से अनुपलब्धि सिद्ध होती है क्योंकि वह उस का विषय है॥ ३०॥

ज्ञानविकल्पानां च भावाभावसंवेदनादध्यात्मम् ॥ ३१ ॥

अहेतुरिति वर्त्तते। शरीरे शरीरिणां ज्ञानविकल्पानां भावाभावौ संवेदनीयौ। अस्ति मे संशयज्ञानं नास्ति मे संशयज्ञानमिति एवं प्रत्यक्षानुमानागमस्मृतिज्ञानेषु। सेयमावरणाद्यनुपलब्धिरुपलब्ध्यभावः स्वसम्वेद्यो नास्ति मे शब्दस्यावरणाद्युपलब्धिरिति नोपलभ्यते शब्दस्याग्रहणकारणान्यावरणादीनीति। तत्र यदुक्तं तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धिरिति एतन्नोपपद्यते॥

भा०:-हेतु नहीं है इस पद का सम्बन्ध यहां है। आत्मा में शरीर संबंधी ज्ञान विकल्पों के भाव, अभाव संवेदनीय हैं, मुझ को संदेहका ज्ञान है, मुझ को संदेह का ज्ञान नहीं, ऐसे ही प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द और स्मृति के ज्ञानों में जानना चाहिये। यह आवरणादिकों के उपलब्धिका अभाव स्वसंवेद्य है मुझको शब्दके आवरणादिकों की अनुपलब्धि नहीं है इस लिये शब्द के अग्रहणकारण आवरण आदि उपलब्धि नहीं होते। तब अनुपलब्धि के अनुपलंभ से अभाव की सिद्धि है यह कहना उचित नहीं है॥ ३१॥

साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसमः॥३२॥

अनित्येन घटेन साधर्म्यादनित्यः शब्द इति ब्रुवतोस्ति घटेनानित्येन सर्वभावानां साधर्म्यमिति सर्वस्यानित्यत्वमनिष्टं संपद्यते सोऽयमनित्यत्वेन प्रत्यवस्थानादनित्यसम इति। अस्योत्तरम्॥

भा०:—अनित्य घट के साधर्म्य से शब्द अनित्य है ऐसा कहने वाले को अनित्य घट के साथ सब पदार्थों का साधर्म्य है इस लिये सब का अनित्यत्व रूप अनिष्ट प्राप्त होता है। अनित्यत्व के साथ प्रत्यवस्थान होने से 'अनित्यसम' हुआ॥ ३२॥ इस का उत्तर

साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेध्यासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्याच्च॥ ३३॥

प्रतिज्ञाद्यवयवयुक्तं वाक्यं पक्षनिर्वर्त्तकं प्रतिपक्षलक्षणं प्रतिषेधस्तस्य पक्षेण प्रतिषेध्येन साधर्म्यं प्रतिज्ञादि योगः तद्यद्यनित्यसाधर्म्यादनित्यत्वसिद्धिः साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधस्याप्यसिद्धिः प्रतिषेध्येन साधर्म्यादिति॥

भा०:-प्रतिज्ञा आदि अवयवयुक्त वाक्य, पक्ष का साधक होता है। प्रतिषेध प्रतिपक्ष स्वरूप है, उस का प्रतिषेध्य पक्ष के साधर्म्य प्रतिज्ञा आदि योग

है। तब जो अनित्य के साधर्म्य से अनित्यत्व की असिद्धि होगी, तो साधर्म्य से असिद्धि के प्रतिषेध की भी असिद्ध होगी, प्रतिषेध्य के साथ साधर्म्य होने से ॥३३॥

दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात्तस्य चोभयथा भावान्नाविशेषः ॥३४॥

दृष्टान्ते यः खलु धर्मः साध्यसाधनभावेन प्रज्ञायते स हेतुत्वेनाभिधीयते। स चोभयथा भवति केन चित्समानः कुतश्चिद्विशिष्टः। सामान्यात्साधर्म्यं विशेषाच्च वैधर्म्यम्। एवं साधर्म्यविशेषो हेतुर्नाविशेषेण साधर्म्यमात्रं वैधर्म्यमात्रं वा साधर्म्यमात्रं वैधर्म्यमात्रं चाश्रित्य भवानाह साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसङ्गादनित्यसम इति एतदयुक्तमिति। अविशेषसमप्रतिषेधे च यदुक्तं तदपि वेदितव्यम् ॥

भा०:—दृष्टान्त में निश्चित जो धर्म साध्यसाधनभाव से ज्ञात होता है वह हेतु कहा जाता है और वह दो प्रकार से होता है, किसी से समान और किसी से विशेष होता है। सामान्य से साधर्म्य और विशेष से वैधर्म्य, इस प्रकार साधर्म्य विशेष हेतु होता है न कि अविशेष से साधर्म्यमात्र वा केवल वैधर्म्य साधर्म्यमात्र और वैधर्म्यमात्र का आश्रय लेकर आप कहते हैं कि "साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसंगादनित्यसम" इति (देखो अ० ५। १। सू० ३२) यह अयुक्त है और "अविशेषसम" के प्रतिषेध में जो कहा गया वह भी जानना चाहिये ॥ ३४ ॥

नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः ॥३५॥

अनित्यः शब्द इति प्रतिज्ञायते तदनित्यत्वं किं शब्दे नित्यमथानित्यं यदि तावत्सर्वदा भवति धर्मस्य सदा भावाद्धर्मिणोऽपि सदाभाव इति ॥ नित्यः शब्द इति। अथ न सर्वदा भवति अनित्यत्वस्याभावान्नित्यः शब्दः। एवं नित्यत्वेन प्रत्यवस्थानान्नित्यसमः। अस्योत्तरम् ॥

भा०:—'शब्द अनित्य है' ऐसी प्रतिज्ञा करते हो, तो वह अनित्यत्व शब्द में नित्य है वा अनित्य? जो सदा है, तो धर्म के सदा होने से धर्मी का भी सदा होना सिद्ध होगा, तो शब्द नित्य हुआ, जो कहो सर्वदा नहीं होता तो अनित्यत्व के अभाव से शब्द नित्य हुआ, इस प्रकार नित्यत्व रूप प्रत्यवस्थान से 'नित्यसम' हुआ ॥ ३५ ॥ इस का समाधान—

प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ ३६ ॥

प्रतिषेध्ये शब्दे नित्यमनित्यत्वस्य भावादित्युच्यमानेऽनुज्ञातं शब्दस्यानित्यत्वम्। अनित्यत्वोपपत्तेश्च नानित्यः शब्द इति प्रतिषेधो नोपपद्यते। अथ नाभ्युपगम्यते नित्यमनित्यत्वस्य भावादिति हेतुर्न भवतीति हेत्वभावात्प्रतिषेधानुपपत्तिरिति उत्पन्नस्य निरोधादभावः शब्दस्यानित्यत्वं तत्र परिप्रश्नानुपपत्तिः। सोऽयं प्रश्नः तदनित्यत्वं किं शब्दे सर्वदा भवति अथ नेत्यनुपपन्नः। कस्मात् उत्पन्नस्य यो निरोधादभावः शब्दस्य तदनित्यत्वमेवं च सत्यधिकरणाधेयविभागो व्याघातान्नास्तीति। नित्यानित्यत्वविरोधाच्च नित्यत्वमनित्यत्वं च एकस्य धर्मिणो धर्माविति विरुध्येते न सम्भवतः। तत्र यदुक्तं नित्यमनित्यत्वस्य भावात् नित्य एव तदवर्त्तमानार्थमुक्तमिति॥

भा० - प्रतिषेध्य शब्द में नित्यत्व अनित्य होने से ऐसा कहने पर शब्द का अनित्यत्व अनुमत हुआ और अनित्यत्व की उत्पत्ति में शब्द अनित्य नहीं यह निषेध युक्त नहीं हो सकता। यदि नहीं मानते तो नित्य अनित्यत्व के भाव से यह हेतु नहीं होता तो तब हेतु के न होने से प्रतिषेध की अनुपपत्ति हुई। उत्पन्न का निरोध से अभाव होना शब्द का अनित्यत्व है। वहां प्रश्न की अनुपपत्ति है तब यह प्रश्न शब्द में नित्यत्व क्या सर्वदा होता है या नहीं अनुपपन्न है, क्योंकि उत्पन्न का जो निरोध में न होना शब्द का यही अनित्यत्व है ऐसा होने से आधाराधेय विभाग बाधित होने से नहीं है, इस लिये नित्य और अनित्य के विरोध से एक धर्मी के नित्यत्व और अनित्यत्व यह परस्पर विरुद्ध दो धर्म संभवते नहीं, तब जो कहा था कि नित्य अनित्यत्व के भाव से नित्य ही है यह ठीक नहीं ॥ ३६ ॥

प्रयत्नकार्यानेकत्वात्कार्यसमः ॥३७॥

प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्यः शब्द इति यस्य प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः तत् खल्वभूत्वा भवति यथा घटादिकार्यमनित्यमिति च भूत्वा न भवतीत्येतद्विज्ञायते। एवमवस्थिते प्रयत्नकार्यानेकत्वादिति प्रतिषेध उच्यते। प्रयत्नानन्तरमात्मलाभश्च दृष्टो घटादीनां व्यवधानापोहाच्चाभिव्यक्तिर्व्यवहितानां तत्किं प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः शब्दस्याहोऽभिव्यक्तिरिति विशेषो नास्ति कार्याविशेषेण प्रत्यवस्थानं कार्यसमः। अस्योत्तरम् ॥

भा०:—प्रयत्न के आनन्तरीयकत्व (प्रयत्न से उत्पन्न होनेवाला) शब्द अनित्य है जिस के अनन्तर स्वरूप का लाभ है, वह न होकर होता है, जैसे घट आदि कार्य अनित्य हैं। और जो होकर नहीं होता है, ऐसी अवस्था रहते "प्रयत्न कार्यानेकत्वात" यह प्रतिषेध कहा जाता है। प्रयत्न के अनन्तर घटादिकों का स्वरूपलाभ

देखा जाता और आड़ के हटाने से व्यवहित पदार्थों की अभिव्यक्ति (अर्थात् प्रगट होना) होती है । तो क्या प्रयत्न के अनन्तर शब्द के स्वरूप का लाभ होता या अभिव्यक्ति होती है? इस में विशेष नहीं है, कार्याविशेष से प्रत्यवस्थान होने से 'कार्यसम' (प्रतिषेध) हुआ ॥ ३७ ॥ इसका उत्तर ।

कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः ॥३८॥

सति कार्यान्यत्वे अनुपलब्धिकारणोपपत्तेः प्रयत्नस्याहेतुत्वं शब्दस्याभिव्यक्तौ यत्र प्रयत्नानन्तरमभिव्यक्तिस्तत्रानुपलब्धिकारणं व्यवधानमुपपद्यते व्यवधानापोहाच्च प्रयत्नानन्तरभाविनोऽर्थस्योपलब्धिलक्षणाभिव्यक्तिर्भवतीति । न तु शब्दस्यानुपलब्धिकारणं किं चिदुपपद्यते यस्य प्रयत्नानन्तरमपोहाच्छब्दस्योपलब्धिलक्षणाभिव्यक्तिर्भवतीति तस्मादुत्पद्यते शब्दो नाभिव्यज्यत इति । हेतोश्चेदनैकान्तिकत्वमुपपाद्यते अनैकान्तिकत्वादसाधकः स्यादिति । यदि चानैकान्तिकत्वादसाधकम् ॥

भा०:—कार्यान्यत्व रहते अनुपलब्धिकारण की उत्पत्ति से शब्द की अभिव्यक्ति के लिये प्रयत्न को कारणत्व नहीं' जहां प्रयत्न के अनन्तर अभिव्यक्ति है, वहां अनुपलब्धिकारण व्यवधान उत्पन्न होता है और व्यविधान के दूर होने से प्रयत्न के अनन्तर होने वाले अर्थ की उपलब्धि रूप अभिव्यक्ति होती है, न कि शब्द की अनुपलब्धि का कुछ कारण उपपन्न होता है। जिस के प्रयत्न के अनन्तर व्यवधान के हटने से शब्द की उपलब्धि रूप अभिव्यक्ति होती है, इस लिये शब्द उत्पन्न होता है अभिव्यक्त नहीं होता ॥ ३८ ॥

प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः ॥ ३९ ॥

प्रतिषेधोऽप्यनैकान्तिकः किञ्चित्प्रतिषेधति किं चिन्नेति अनैकान्तिकत्वादसाधक इति । अथ वा शब्दस्यानित्यत्वपक्षे प्रयत्नानन्तरमुत्पादो नाभिव्यक्तिरिति विशेषहेत्वभावः । नित्यत्वपक्षेऽपि प्रयत्नानन्तरमभिव्यक्तिर्नोत्पाद इति विशेषहेत्वभावः । सोऽयमुभयपक्षसमो विशेषहेत्वभाव इत्युभयमप्यनैकान्तिकमिति ॥

भा०:—जो हेतु को अनैकान्तिकत्व से असाधक कहोगे, तो प्रतिषेध भी अनैकान्तिक है किसी का प्रतिषेध करता और किसी का नहीं करता है, अनैकान्तिकत्व से असाधक हुआ या शब्द के अनित्यत्व पक्ष में प्रयत्न के अनन्तर, उत्पत्ति होती अभिव्यक्ति नहीं, इस में विशेष हेतु का अभाव है यदि ऐसा कहो तो नित्यत्व पक्ष में भी प्रयत्न के अनन्तर अभिव्यक्ति होती उ-

त्पत्ति नहीं, इस में विशेष हेतु नहीं इस लिये विशेष हेतु का अभाव दोनों पक्ष में सम है इस लिये दोनों ही अनैकान्तिक हुए ॥ ३९ ॥

सर्वत्रैवम् ॥४०॥

सर्वेषु साधर्म्यप्रभृतिषु प्रतिषेधहेतुषु यत्र यत्राविशेषो दृश्यते तत्रोभयोः पक्षयोः समः प्रसज्यतइति ॥

भा०:-साधर्म्य आदि सब प्रतिषेध हेतुओं में जहां विशेष देख पड़ता है वहां दोनों पक्षों में समान प्राप्त होता है ॥ ४० ॥

प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः ॥४१॥

योऽयं प्रतिषेधेऽपि समानो दोषोऽनैकान्तिकत्वमापद्यते सोऽयं प्रतिषेधस्य प्रतिषेधेऽपि समानः । तत्रानित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वादिति साधनवादिनः स्थापना प्रथमः पक्षः । प्रयत्नकार्यानेकत्वात् कार्यसम इति दूषणवादिनः प्रतिषेधहेतुना द्वितीयः पक्षः स च प्रतिषेध इत्युच्यते तस्यास्य प्रतिषेधेऽपि समानो दोष इति तृतीयः पक्षो विप्रतिषेध उच्यते । तस्मिन् प्रतिषेधविप्रतिषेधेऽपि समानो दोषोऽनैकान्तिकत्वं चतुर्थः पक्षः ॥

भा०:-प्रतिषेध में भी जो यह अनैकान्तिक होना रूप समान दोष लगाते हो, सो यह प्रतिषेध के प्रतिषेध में भी तुल्य है ॥ ४१ ॥

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानोदोष प्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥४२॥

प्रतिषेधं द्वितीयं पक्षं सदोषमभ्युपेत्य तदुद्धारमनुक्त्वा अनुज्ञाय प्रतिषेधविप्रतिषेधे तृतीयपक्षे समानमनैकान्तिकत्वमिति समानं दूषणं प्रसज्जतोदूदूषणवादिनो मतानुज्ञाप्रसज्यतइति पञ्चमः पक्षः ॥

भा०:—प्रतिषेध को दोष सहित मान कर उस का उद्धार न कर के प्रतिषेध के विप्रतिषेध में समान दोष वाले दूषणवादी को मत की अनुज्ञा प्राप्त होती है ॥ ४२ ॥

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युपगमात्समानो दोष इति ॥४३॥

स्थापनापक्षे प्रयत्नकार्यस्यानेकत्वादिति दोषः स्थापनाहेतुवादिनः स्वपक्षलक्षणो भवति । कस्मात् स्वपक्षसमुत्थत्वात्सोऽयं स्वपक्षलक्षणं दोषमपेक्षमाणो ऽनुद्धृत्यानुज्ञाय प्रतिषेधेऽपि समानो दोष इत्युपपद्यमानं दोषं परपक्ष

उपसंहरति इत्थं चानैकान्तिकः प्रतिषेध इति हेतुं निर्दिशति। तत्र स्वपक्षलक्षणा-पेक्षयोपपद्यमानदोषोपसंहारे हेतुनिर्देशे च सत्यनेन परपक्षोऽभ्युपगतो भवति। कथं कृत्वा यः परेण प्रयत्नकार्यत्वानेकत्वादित्यादिनाऽनैकान्तिकदोष उक्तः तम-नुद्धृत्य प्रतिषेधेऽपि समानो दोष इत्याह। एवं स्थापनां सदोषामभ्युपेत्य प्रति-षेधेऽपि समानं दोषः प्रसज्जतः परपक्षाभ्युपगमात् समानो दोषो भवति यथा परस्य प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधेऽपि समानो दोषप्रसङ्गो मताऽनुज्ञा प्रसज्यत इति (तथास्यापि स्थापनां सदोषामभ्युपेत्य प्रतिषेधेऽपि समानं दोष प्रस-ज्जतो मतानुज्ञा प्रसज्यत इति)। स खल्वयं षष्ठः पक्षः तत्र खलु स्थापनाहेतुवादिनः प्रथमतृतीयपञ्चमपक्षाः। प्रतिषेधहेतुवादिनः द्वितीयचतुर्थषष्ठपक्षाः। तेषां साध्व-साधुतायां मीमांस्यमानायां चतुर्थषष्ठयोरविशेषात् पुनरुक्तदोषप्रसङ्गः चतुर्थपक्षे समानदोषत्वं परस्योच्यते प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोष इति। षष्ठेऽपि परपक्षाभ्युपगमात् समानो दोष इति समानदोषत्वमेवोच्यते नार्थविशेषः क-श्चिदस्ति। समानस्तृतीयपञ्चमयोः पुनरुक्तदोषप्रसङ्गः। तृतीयपक्षे ऽपि प्रतिषेधे ऽपि समानो दोष इति समानत्वमभ्युपगम्यते पञ्चमपक्षे ऽपि प्रतिषेधप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो ऽभ्युपगम्यते नार्थविशेषः कश्चिदुच्यत इति। तत्र पञ्चमषष्ठ-पक्षयोः अर्थाविशेषात् पुनरुक्तदोषः। तृतीयचतुर्थयोर्मतानुज्ञा। प्रथम द्वितीय-योर्विशेषहेत्वभाव इति षट्पक्ष्यामुभयोरसिद्धिः। कदा षट्पक्षी यदा प्रतिषेधे ऽपि समानो दोष इत्येवं प्रवर्त्तते तदोभयोः पक्षयोरसिद्धिः। यदा तु कार्या-न्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेरित्यनेन तृतीयपक्षो युज्यते तदा विशेषहेतुवचनात् प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः शब्दस्य नाभिव्यक्तिरिति सिद्धः प्रथमपक्षो न षट्पक्षी प्रवर्त्तत इति॥

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये पञ्चमाध्यायस्या-द्यमान्हिकम्॥

भा०:—स्थापना पक्ष पर "प्रयत्न कार्यानेकत्वात्" यह दोष स्थापना हेतु वादी को स्वपक्षलक्षण होता है क्योंकि अपने पक्ष पर उठा है सो यह "स्व-पक्षलक्षण दोष" को बिना हटाए उस को मान कर प्रतिषेध में भी समान दोष है, इस उपपद्यमान दोष को पर पक्ष में सिद्ध करता है। या इस प्रकार अनैकान्तिक प्रतिषेध है इस हेतु का प्रदर्शन करता है। वहां स्वपक्षलक्षणापेक्षा से उपपद्यमान दोष के उपसंहार और हेतु निदर्शन होने से इस ने पर पक्ष का स्वीकार किया, क्योंकि दूसरे ने जो "प्रयत्न कार्य्यानेकत्वात्" इत्यादि कह

कर अनैकान्तिक दोष कहा था उस का उद्धार न कर प्रतिषेध में भी समान दोष है जैसे दूसरे के दोष सहित प्रतिषेध को मान कर प्रतिषेध में भी समान दोष प्रसंग वाले को पर पक्ष के अंगीकार से समान दोष होता है। जिस प्रकार पर के सदोष प्रतिषेध को मान कर प्रतिषेध में भी तुल्य दोष प्रसंग वाले को 'मतानुज्ञा' (निग्रहस्थान) प्राप्त होती है यह छठा पक्ष होता है। वहां स्थापना हेतु वादी के पहिला, तीसरा, और पांचवां यह पक्ष हैं निषेध हेतु वादी के दूसरा चौथा और छठा ये पक्ष हैं उन की साधुता और असाधुता के विचार होने पर चौथे और छठे में विशेष न होने से पुनरुक्त दोष आता है। चौथे पक्ष में दूसरे को समान दोषत्व कहा जाता है। प्रतिषेध विप्रतिषेध में भी प्रतिषेध दोष के समान दोष है। इस छठे पक्ष में भी पर पक्ष के स्वीकार से समान दोष आता है। यह समान दोषत्व ही कहा गया कोई विशेष अर्थ नहीं हुआ। तीसरे और पांचवें पक्ष में पुनरुक्त दोष समान है। तीसरे पक्ष के प्रतिषेध में भी समान दोष है। यह समानत्व माना जाता है। पांचवें पक्ष में भी प्रतिषेध के प्रतिषेध में समान दोष प्रसंग माना कुछ विशेष अर्थ नहीं कहा गया। वहां पांचवें और छठे पक्ष में अर्थ के अविशेष से पुनरुक्त दोष आता और तीसरे चौथे पक्ष में मत की अनुज्ञा प्राप्त होती। पहिले दूसरे पक्ष में विशेष हेतु का अभाव होता है इसलिये छः पक्षों में दोनों की असिद्धि है। 'षट् पक्ष' कब होते कि जब प्रतिषेध में भी समान दोष है यह बात प्रवृत्त होती है तब दोनों पक्षों की सिद्धि नहीं होती। जब तो कार्य्यान्यत्व में प्रयत्न की हेतुता नहीं अनुपलब्धि कारण की उपपत्ति से। इससे तीसरा 'पक्ष युक्त' होता है तब विशेष हेतु कहने से प्रयत्न के अनन्तर शब्द के स्वरूप का लाभ होता है अभिव्यक्ति नहीं, इसलिये पहिला पक्ष सिद्ध होता है छः पक्ष प्रवृत्त नहीं होते हैं ॥ ४३ ॥

न्यायशास्त्र के पांचवें अध्याय का अनुवाद पूरा हुआ ॥

विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योर्विकल्पान्निग्रहस्थानबहुत्वमिति संक्षेपेणोक्तं तदिदानीं विभजनीयम्। निग्रहस्थानानि खलु पराजयवस्तून्यपराधाधिकरणानि प्रायेण प्रतिज्ञाद्यवयवाश्रयाणि तत्त्ववादिनमतत्त्ववादिनं चाभिसंप्लवन्ते। तेषां विभागः।

भाष्य की अवतरणिका ।

भा०:-विप्रतिपत्ति (उलटा समझना) और अप्रतिपत्ति (नहीं समझना) के अनेक होने से निग्रह स्थान बहुत हैं । यह (अ० १ । १ । सू० ६१) संक्षेप से कहा गया है । अब इन के क्या २ भेद हैं सो कहना चाहिये । क्योंकि निग्रह-स्थान ही ' हार ' या पराजय की वस्तु सब अपराधों या भूलों का घर है, जो प्रतिज्ञादि अवयव के आश्रय रहता है, और जिस के द्वारा तत्त्ववादी और अतत्त्ववादी दोनों ही तङ्ग किये जाते हैं । इन का विभाग इस प्रकार हैः-

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगो ऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ॥ १ ॥

तानीमानि द्वाविंशतिधा विभज्य लक्ष्यन्ते ।

भा०:-प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञाविरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप मतानुज्ञा, पर्य्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त और हेत्वाभास, ये २२ निग्रह स्थान हैं । अब इन २२ निग्रहस्थानों में से प्रत्येक का लक्षण कहते हैं ॥ १ ॥

प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः ॥ २ ॥

साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थिते प्रतिदृष्टान्तधर्मं स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुजानन् प्रतिज्ञां जहातीति प्रतिज्ञाहानिः । निदर्शनम् ऐन्द्रियकत्वादनित्यः शब्दो घटवदिति कृते अपर आह । दृष्टमैन्द्रियकत्वं सामान्ये नित्ये कस्मान्न तथा शब्द इति प्रत्यवस्थिते इदमाह यद्यैन्द्रियकं सामान्यं नित्यं कामं घटो नित्योऽस्त्विति । स खल्वयं साधकस्य दृष्टान्तस्य नित्यत्वं प्रसञ्जयन्निगमनान्तमेव पक्षं जहाति पक्षं जहत्प्रतिज्ञां जहातीत्युच्यते प्रतिज्ञाश्रयत्वात्पक्षस्येति ।

भा०:—साध्यधर्म के विरुद्ध धर्म से प्रतिषेध करने पर प्रतिदृष्टान्त के धर्म को अपने दृष्टान्त में मानने वाला प्रतिज्ञा 'छोड़ता' इस को "प्रतिज्ञाहानि" कहते हैं । उदाहरण जैसे- 'इन्द्रिय के विषय होने से घट की नाईं शब्द

अनित्य है,'। ऐसी प्रतिज्ञा करने पर। दूसरा कहता है कि 'नित्य जाति में इन्द्रिय विषयत्व है। तो वैसे ही शब्द भी क्यों नहीं? ऐसे निषेध पर यह कहता है कि 'जो इन्द्रिय विषय जाति नित्य है, तो घट भी नित्य हो, ऐसा मानने वाला साधक दृष्टान्त का नित्यत्व मान कर 'निगमन पर्यन्त ही पक्ष को छोड़ना है। पक्ष का छोड़ना प्रतिज्ञा का छोड़ना है, क्योंकि पक्ष प्रतिज्ञा के आश्रय है॥ २॥

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम्॥ ३॥

प्रतिज्ञातार्थोऽनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वाद् घटवदित्युक्ते योऽस्य प्रतिषेधः प्रतिदृष्टान्तेन हेतुव्यभिचारः सामान्यमैन्द्रियकं नित्यमिति तस्मिंश्च प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पादिति दृष्टान्तप्रतिदृष्टान्तयोः साधर्म्ययोगे धर्मभेदात्सामान्यमैन्द्रियकं सर्वगतमैन्द्रियकस्त्वसर्वगतो घट इति धर्मविकल्पात्तदर्थनिर्देश इति साध्यसिद्ध्यर्थं कथं यथा घटोऽसर्वगत एवं शब्दोऽप्यसर्वगतो घटवदेवानित्य इति तत्रानित्यः शब्द इति पूर्वा प्रतिज्ञा असर्वगत इति द्वितीया प्रतिज्ञा प्रतिज्ञान्तरं तत्कथं निग्रहस्थानमिति। न प्रतिज्ञायाः साधनं प्रतिज्ञान्तरं किंतु हेतुदृष्टान्तौ साधनं प्रतिज्ञायाः तदेतदसाधनोपादानमनर्थकमिति। आनर्थक्यान्निग्रहस्थानमिति।

भा०:-प्रतिज्ञात अर्थ (पदार्थ) के प्रतिषेध होने पर धर्म के विकल्प से उस के अर्थ के निर्देश को "प्रतिज्ञान्तर" कहते हैं। 'प्रतिज्ञात अर्थ है,' 'शब्द अनित्य है,' इन्द्रिय विषय होने से, घट की नाईं ऐसा कहने पर जो इस का प्रतिषेध है प्रतिदृष्टान्त से हेतु का व्यभिचार कि इन्द्रिय विषय जाति नित्य है प्रतिज्ञात अर्थ के प्रतिषेध होने पर धर्मविकल्प से दृष्टान्त और प्रतिदृष्टान्त के समान धर्मत्व होने से इन्द्रिय विषय जाति सर्वगत है और इन्द्रिय विषय घट सर्वगत नहीं। इस प्रकार धर्म के भेद से साध्य की सिद्धि के लिये जैसे घट सर्वगत नहीं, ऐसे ही शब्द भी सर्वगत न होने से घट की भांति अनित्य हो। अब यहां शब्द अनित्य है यह पहिली प्रतिज्ञा हुई, शब्द सर्वगत नहीं यह दूसरी प्रतिज्ञा हुई इस को पराजय स्थान क्यों कहते इस का हेतु यह है कि प्रतिज्ञा की साधक दूसरी प्रतिज्ञा नहीं हो सकती। किन्तु प्रतिज्ञा के साधक हेतु और दृष्टान्त होते हैं तो असाधक का ग्रहण व्यर्थ हुआ और निरर्थक होने से निग्रहस्थान कहा जाता है॥ ३॥

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ॥ ४ ॥

गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति प्रतिज्ञा । रूपादितोऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति हेतुः सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः । कथं यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं रूपादिभ्यो ऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिर्नोपपद्यते । अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति नोपपद्यते गुणव्यतिरिक्तं च द्रव्यं रूपादिभ्यश्चार्थान्तरस्यानुपलब्धिरिति विरुध्यते व्याहन्यते न संभवतीति ।

भा०:—प्रतिज्ञा और हेतु के विरोध को 'प्रतिज्ञाविरोध' कहते हैं । उदाहरण द्रव्य, गुण से भिन्न है यह प्रतिज्ञा हुई और 'रूप आदिकों से अर्थान्तर की अनुपलब्धि होने से, यह हेतु है। ये परस्पर विरोधी हैं क्योंकि जो द्रव्य गुण से भिन्न है, तो रूपादिकों से भिन्न अर्थ की अनुपलब्धि इसप्रकार कहना ठीक नहीं होता। और जो रूप आदिकों से भिन्न अर्थ की अनुपलब्धि हो तो 'गुण से भिन्न द्रव्य' ऐसा कहना नहीं बनता अर्थात् ये दोनों बात संभव नहीं हो सकतीं । इस को ' प्रतिज्ञाविरोध ' नामक निग्रहस्थान कहते हैं ॥ ४ ॥

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासन्न्यासः ॥ ५ ॥

अनित्यः शब्दः ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते परो ब्रूयात्सामान्यमैन्द्रियकं न चानित्यमेवं शब्दोऽप्यैन्द्रियको न चानित्य इति । एवं प्रतिषिद्धे पक्षे यदि ब्रूयात् कः पुनराह अनित्यः शब्द इति । सोऽयं प्रतिज्ञातार्थनिन्हवः प्रतिज्ञासन्न्यास इति ।

भा०:—पक्ष के निषेध होने पर प्रतिज्ञात ' माने हुए ' अर्थ का छोड़ देना ' प्रतिज्ञासन्न्यास ' कहाता है । उदाहरण जैसे 'इन्द्रिय विषय होने से शब्द अनित्य है' इस प्रकार कहने पर दूसरा कहे 'कि जाति इन्द्रियविषय है और अनित्य नहीं इसीप्रकार शब्द भी इन्द्रियविषय है पर अनित्य न हो । इसप्रकार पक्ष के निषेध होने पर यदि कहे कि कौन कहता है कि शब्द अनित्य है यह प्रतिज्ञा किये हुए अर्थ का छिपाना है इसी को "प्रतिज्ञासन्न्यास" कहते हैं ॥५॥

अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ॥६॥

निदर्शनम् एकप्रकृतीदं व्यक्तमिति प्रतिज्ञा कस्माद्धेतोरेकप्रकृतीनां विकाराणां परिमाणात् मृत्पूर्वकाणां शरावादीनां दृष्टं परिमाणं यावान्प्रकृतेर्व्यूहो भवति तावान्विकार इति दृष्टं च प्रतिविकारं परिमाणम् । अस्ति चेदं पारमाणं प्रतिव्यक्तं तदेकप्रकृतीनां विकाराणां परिमाणात् पश्यामो व्यक्तिमदनेकप्रकृतीति । अस्य व्यभिचारेण प्रत्यवस्थानं नानाप्रकृतीनामेकप्रकृतीनां च विकाराणां दृष्टं परिमाणमिति । एवं प्रत्यवस्थिते आह एकप्रकृतिसमन्वये सति शरावादिविकाराणां परिमाणदर्शनात् । सुखदुःखमोहसमन्वितं हीदं व्यक्तं परिमितं गृह्यते तत्र प्रकृत्यन्तररूपसमन्वयाभावे सत्येकप्रकृतित्वमिति ।

तदिदमविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषं ब्रुवतो हेत्वन्तरं भवति । सति च हेत्वन्तरभावे पूर्वस्य हेतोरसाधकत्वान्निग्रहस्थानं हेत्वन्तरवचने सति यदि हेत्वर्थनिदर्शनो दृष्टान्त उपादीयते नेदं व्यक्तमेकप्रकृति भवति प्रकृत्यन्तरोपादानाद् अथ नोपादीयते दृष्टान्ते हेत्वर्थस्यानिदर्शितस्य साधकभावानुपपत्तेः आनर्थक्याद्धेतोरनिवृत्तं निग्रहस्थानमिति ।

भा०:- अविशेष रूप से कहे हेतु के निषेध करने पर विशेष की इच्छा करने वाले को "हेत्वन्तर" नामक निग्रहस्थान प्राप्त होता है। उदाहरण जैसे यह व्यक्त एक प्रकृतिक है यह प्रतिज्ञा है, एक प्रकृति वाले विकारों के परिणाम से' यह हेतु है। 'मिट्टी से बने शराब आदिकों का परिणाम दृष्ट है जितना प्रकृति का व्यूह होता है उतना ही विकार होता है और यह परिमाण प्रतिव्यक्त है। वह एक प्रकृति वाले विकारों के परिमाण से देखा जाता है इस से सिद्ध हुआ कि यह व्यक्त एक प्रकृतिक है। इस का व्यभिचार से निषेध करते हैं कि अनेक प्रकृतिवाले और एक प्रकृतिवाले विकारों का परिमाण देखा गया है। ऐसे निषेध करने पर कहना है कि एक प्रकृति के समन्वय (मिलने पर) रहते शराब आदि विकारों के परिमाण देखने से यह व्यक्त (शरीर) सुख दुःख मोह से युक्त परिमित ग्रहण किया जाता है। वहां प्रकृत्यन्तररूप समन्वय के अभाव रहते एक प्रकृति का होना यह सामान्यरूप से कहे हेतु के निषेध करने पर विशेष कहनेवाले को अन्य हेतु होता है। और जब दूसरा हेतु होगया तब पहिले हेतु को साधक न होने से निग्रहस्थान हुआ अर्थात् किसी प्रतिज्ञा के सिद्ध के लिये साधारण रूप से कोई हेतु कहा फिर जब किसी ने उस पर कोई दोष दे दिया तब उसी हेतु में और एक विशेषण लगा दिया तो यह 'हेत्वन्तर' नामक निग्रहस्थान हुआ ॥६॥

प्रकृतादर्थादप्रतिसम्बन्धार्थमर्थान्तरम् ॥ ७ ॥

यथोक्तलक्षणे पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे हेतुतः साध्यसिद्धौ प्रकृतायां ब्रूयान्नित्यः शब्दो ऽस्पर्शत्वादिति हेतुः । हेतुर्नाम हिनोतेर्धातोस्तुनि प्रत्यये कृदन्तपदं पदं च नामाख्यातोपसर्गनिपाताः अभिधेयस्य क्रियान्तरयोगाद्विशिष्यमाणरूपः शब्दो नाम क्रियाकारकसमुदायः कारकः सङ्ख्याविशिष्टक्रियाकालयोगाभिधाय्याख्यातं धात्वर्थमात्रं च कालाभिधानविशिष्टं प्रयोगेष्वर्थादभिद्यमानरूपा निपाता उपसृज्यमानाः क्रियावद्योतका उपसर्गा इत्येवमादि तदर्थान्तरं वेदितव्यमिति ।

भा०:-प्रकृत (असली) अर्थ से सम्बन्ध न रखने वाले अर्थ को 'अर्थान्तर' कहते हैं उदाहरण जैसे कोई कहे कि शब्द नित्य है, (प्रतिज्ञा) अस्पर्शत्व से

यह हेतु है। हेतु किसे कहते हैं हि धातु से 'तुनि' प्रत्यय करने से 'हेतु' यह कृदन्त पद हुआ और नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात ये पद हैं। यह प्रकृत अर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता इसलिये 'अर्थान्तर' नामक निग्रह-स्थान कहते हैं ॥ ७ ॥

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ॥ ८ ॥

यथा नित्यः शब्दः कचटतपाः जबगडदशत्वात् झभञ्घढधषवदिति एवं प्रकारं निरर्थकम्। अभिधानाभिधेयभावानुपपत्तौ अर्थगतेरभावाद् वर्णाः क्रमेण निर्दिश्यन्तइति।

भा०:-वर्णक्रमनिर्देश वाला निरर्थक कहाता है जैसे शब्द क, च ट, त, प, नित्य है, (प्रतिज्ञा) ज, ब, ग, ड, द, श, त्व से, (हेतु) झ भ ञ घ ढ ध ष की नाईं, (उपमा) इसप्रकार का निरर्थक कहा जाता क्योंकि नाम और अर्थ की अनुपपत्ति से अर्थबोध के न होने से वर्ण ही क्रम से उच्चरित हुए यह निरर्थक होने से 'निरर्थक' नामक निग्रहस्थान कहाता है ॥ ८ ॥

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ॥९॥

यद्वाक्यं परिषदा प्रतिवादिना च त्रिरभिहितमपि न विज्ञायते श्लिष्ट-शब्दमप्रतीतप्रयोगमतिद्रुतोच्चरितमित्येवमादिना कारणेन तदविज्ञातमविज्ञा-तार्थमसामर्थ्यसंवरणाय प्रयुक्तमिति निग्रहस्थानमिति।

भा०:--जिस अर्थ को वादी ऐसे शब्दों में कहै जो प्रसिद्ध न हो उन के प्रसिद्ध न होने के कारण से या अति शीघ्र उच्चारण के कारण से या उच्चारित शब्दों के बहुत अर्थ वाचक होने से प्रयोग प्रतीत न होने से तीन बार कहने पर भी वादी का वाक्य किसी सभासद, विद्वान और प्रतिवादी से न समझा जावे, तो ऐसे अर्थ कहने से वादी "अविज्ञातार्थ" नामी निग्रहस्थान में आकर हार जाता है। धूर्तवादी इस भ्रम से कि अन्य पुरुष की बुद्धि में पदार्थ के न आने से मैं जीत जाऊंगा ऐसे वाक्य कहता है, परन्तु उसका फल विरुद्ध होने से वह कथन निग्रहस्थान होता है ॥ ९ ॥

पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ॥ १० ॥

यत्रानेकस्य पदस्य वाक्यस्य वा पौर्वापर्येणान्वययोगो नास्ति इत्यसम्बद्धार्थत्वं गृह्यते तत्समुदायार्थस्यापायादपार्थकम्। यथा दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्डः अधरोरुकमेतत् कुमार्य्याः पाय्यं तस्याः पिता अप्रतिशीन इति।

भा०:-जहां अनेक पद या वाक्यों का पूर्व, पर, क्रम से अन्वय नहीं अतएव असम्बद्धार्थत्व (एक दूसरे से मेल नहीं रखता) जाना जाता है, वह

समुदाय अर्थ के अपाय (हानि) से 'अपार्थक' नामक निग्रहस्थान कहाता है। उदाहरण जैसे दश अनार, छः पूये, कुण्ड, चर्म, अजा, कहना आदि। वाक्य का दृष्टान्त-जैसे यह कुमारी का रौरुक (मृग चर्म) शाय्य है। उस का पिता सोया नहीं है। ऐसा कहना अपार्थक है ॥ १० ॥

अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥ ११ ॥

प्रतिज्ञादीनामवयवानां यथालक्षणमर्थवशात् क्रमः तत्रावयवविपर्यासेन वचनमप्राप्तकालमसम्बद्धार्थं निग्रहस्थानमिति।

भा०:-प्रतिज्ञा आदि अवयवों का जैसा लक्षण कहा कहा गया है उस प्रकार से अर्थवशात् जैसा कहने का क्रम है उसके विपरीत सभा क्षोभ या अन्य कारणों से अवयवों का आगे पीछे कहना अर्थात् जिस अवयव के पहिले या पीछे जिस अवयव के कहने का समय है, उस प्रकार से न कहने को 'अप्राप्तकाल' नामक निग्रहस्थान कहते हैं, क्योंकि क्रम के विपरीत अवयवों के कहने से साध्य की सिद्धि नहीं होती ॥ ११ ॥

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ॥ १२ ॥

प्रतिज्ञादीनामवयवानामन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं न्यूनं निग्रहस्थानं साधनाभावे साध्यासिद्धिरिति।

भा०:-प्रतिज्ञा आदि पांच अवयवों में से किसी एक अवयव से हीन वाक्य को सभाक्षोभ या किसी कारण से कहना 'न्यून' नामक निग्रहस्थान है। किसी अवयव से हीन वाक्य से साधन के अभाव होने से साध्य की सिद्धि नहीं होती ॥ १२ ॥

हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ॥ १३ ॥

एकेन कृतत्वाद् अन्यतरस्यानर्थक्यमिति तदेतन्नियमाभ्युपगमे वेदितव्यमिति।

भा०:-हेतु और उदाहरण के अधिक होने से अधिक नामक निग्रहस्थान कहाता है। जब कि एक कार्य से सिद्ध हो गया तब दो में से एक व्यर्थ होगा, परन्तु यह बात नियम के मान लेने पर है, नहीं तो नहीं ॥ १३ ॥

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ॥ १४ ॥

अन्यत्रानुवादात् शब्दपुनरुक्तं वा नित्यः शब्दो नित्यः शब्द इति शब्दपुनरुक्तमर्थपुनरुक्तमनित्यः शब्दो निरोधधर्मको ध्वान इति। अनुवादे त्वपुनरुक्तं शब्दाभ्यासादर्थविशेषोपपत्तेः "यथा हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनमिति।"

भा०:-जो किसी प्रयोजन से पुनः कथन होता, उसे "अनुवाद" कहते। प्रयोजन के साथ पुनः कथन में दोष नहीं आता, और जो व्यर्थ पुनः कथन

होता, उसे पुनरुक्त कहते हैं। इससे इस को 'पुनरुक्त' नामक निग्रह स्थान कहते हैं। "पुनरुक्त" दो प्रकार का होता एक 'शब्दपुनरुक्त' एवं दूसरा 'अर्थ पुनरुक्त'। इन में से शब्द पुनरुक्त उसे कहते जो किसी प्रयोजन से अर्थ विशेष की सिद्धि के लिये होता है अतएव इसे पुनरुक्त नहीं कहते। उदाहरण जैसे हेतु कहने पर प्रतिज्ञा का फिर से कहना 'निगमन' होता है॥१४॥

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ॥ १५ ॥

पुनरुक्तमिति प्रकृतम्। निदर्शनम् उत्पत्तिधर्मकत्वादनित्यमित्युक्त्वा अर्थादापन्नस्य योऽभिधायकः शब्दस्तेन स्वशब्देन ब्रूयादनुत्पत्तिधर्मकं नित्यमिति तच्च पुनरुक्तं वेदितव्यम्। अर्थसम्प्रत्ययार्थे शब्दप्रयोगे प्रतीतः सोऽर्थोऽर्थापत्त्येति।

भा०:—एक शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति हो उसी अर्थ को पुनः अन्य शब्द से कहना 'अर्थपुनरुक्त' है। उदाहरण जैसे—उत्पत्तिधर्मक होने से अनित्य है यह कहकर जो अर्थापत्ति से सिद्ध है। अर्थात् उत्पत्ति धर्मक के अनित्य कहने ही से अनुत्पत्ति धर्मक का नित्य होना सिद्ध और विदित होने से फिर उस का कहना 'निरर्थक' है। निरर्थक होने से निग्रहस्थान है॥१५॥

विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्य प्रत्युच्चारण-मननुभाषणम् ॥ १६ ॥

विज्ञातस्य वाक्यार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्य यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानमिति। अप्रत्युच्चारयन् किमाश्रयं परपक्षप्रतिषेधं ब्रूयात्।

भा०:—सभा अर्थात् सभासद् ने जिस अर्थ को जान लिया और वादी ने जिस को तीनवार कह दिया ऐसे जाने और तीनवार कहे हुए को सुनकर भी जो प्रतिवादी कुछ न कहे तो उसको 'अननुभाषण' नामक निग्रहस्थान कहते॥१६॥

अविज्ञातं चाज्ञानम् ॥ १७

विज्ञातार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्य यदविज्ञातं तदज्ञानं निग्रहस्थानमिति। अयं खल्वविज्ञाय कस्य प्रतिषेधं ब्रूयादिति।

भा०:—(और) जिस बात को सभासद् ने अच्छी प्रकार जान लिया हो और उसी बात को प्रतिवादी ने समझाने के लिये वादी से तीन वार कहे। इस पर यदि वादी उस पदार्थ को न समझ कर पराजय को प्राप्त हो—इस को "अज्ञान" नामक निग्रहस्थान है। क्योंकि जिस को उसने समझा नहीं उसका खण्डन क्योंकर करेगा? ॥ १७ ॥

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥ १८ ॥

परपक्षप्रतिषेधे उत्तरं तद्यदा न प्रतिपद्यते तदा निगृहीतो भवति ।

भा०:–परपक्ष का खण्डन करना उत्तर है । सो यदि किसी कारण से समय पर न फुरा तो वह "अप्रतिभा" नामी निग्रहस्थान कहाता है ॥१८ ॥

कार्यव्यासङ्गात्कथाविच्छेदो विक्षेपः ॥ १९ ॥

यत्र कर्तव्यं व्यासज्य कथां व्यवच्छिनत्ति इदं मे करणीयं विद्यते तस्मिन्नवसिते पश्चात्कथयामीति विक्षेपो नाम निग्रहस्थानम् । एकनिग्रहावसानायां कथायां स्वयमेव कथान्तरं प्रतिपद्यतइति ।

भा०:—जहां प्रतिवादी यों कह कर समाधान के समय को टाल देवे कि " मुझे इस समय कुछ आवश्यक काम है, उसे करके पीछे शास्त्रार्थ करूंगा "—तो इस प्रकार के निग्रहस्थान का नाम "कथाविच्छेद है" ॥ १९ ॥

स्वपक्षदोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥ २० ॥

यः परेण चोदित दोषं स्वपक्षे ऽभ्युपगम्यानुद्धृत्य वदति भवत्पक्षेऽपि समानो दोष इति स स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात्परपक्षे दोषं प्रसज्जयन्परमतमनुजानातीति मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानमापद्यतइति ।

भा०:–जो प्रतिवादी ने दोष दिया उसको अपने पक्ष में अङ्गीकार करके विना उसके उद्धार किये यह कहना कि तुम्हारे पक्ष में भी ऐसा ही दोष है ' मतानुज्ञा ' नामक निग्रहस्थान होता है । क्योंकि प्रतिवादी के किये हुये खण्डन का उद्धार किये विना अपने पक्ष की सिद्धि नहीं हो सकती। प्रतिवादी के पक्ष में भी समान दोष होने से यही फल होगा कि दो में से एक पक्ष की भी सिद्धि न होगी इससे वादी के पक्ष की सिद्धि नहीं होती ॥ २० ॥

निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ॥ २१ ॥

पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्या चोदनीयः तस्योपेक्षणं निग्रहस्थानं प्राप्तो ऽसीत्यननुयोगः । एतच्च कस्य पराजय इत्यनुयुक्तया परिषदा वचनीयं न खलु निग्रहं प्राप्तः स्वकौपीनं विवृणुयादिति ।

भा०:–निग्रहस्थान में प्राप्त हुए का निग्रह न करना 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' नामक निग्रहस्थान कहाता है । यह किस का पराजय है यह सभा को कहना चाहिये, क्योंकि जो निग्रहस्थान में आया है, वह निश्चय अपनी पत (परदा) आप नही उघाड़ेगा । भला अपनी हार को कोई अपने आप कह सकता है ? कि जिस को जीतने की इच्छा रहती है ॥२१॥

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगोनिरनुयोज्यानुयोगः ॥२२॥

निग्रहस्थानलक्षणस्य मिथ्या ऽध्यवसायादनिग्रहस्थाने निगृहीतो ऽसीति परं ब्रुवन् निरनुयोज्यानुयोगाद् निगृहीतो वेदितव्य इति ।

भा०:-भ्रम से मिथ्या निग्रहस्थान होने की बुद्धि से पर को यह कहना कि तू निग्रहस्थान को प्राप्त है-इस को 'निरनुयोज्यानुयोग' नामक निग्रहस्थान कहते हैं। या समय पर प्रकट करने के योग्य निग्रहस्थान को प्रकट न करके वाक्य के समाप्त होने पर या कथा की समाप्ति पर वादी की अज्ञानता और अपने बोध की अधिकता प्रकट करने के लिये निग्रहस्थान के प्रकट करने को 'निरनुयोज्यानुयोग' कहते हैं ॥२२॥

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसङ्गो ऽपसिद्धान्तः ॥ २३ ॥

कस्य चिदर्थस्य तथाभावं प्रतिज्ञाय प्रतिज्ञातार्थविपर्ययाद् असंयमात् कथा प्रसञ्जयतो"ऽपसिद्धान्तो" वेदितव्यः । यथा न सदात्मानं जहाति न सतो विनाशो नासदात्मानं लभते नासदुत्पद्यतइति सिद्धान्तमभ्युपेत्य स्वपक्षं व्यवस्थापयति। एकप्रकृतीदं व्यक्तं विकाराणामन्वयदर्शनात् । मृदन्वितानां शरावादीनां दृष्टमेकप्रकृतित्वं तथा चायं व्यक्तभेदः सुखदुःखमोहान्वितो दृश्यते तस्मात्समन्वयदर्शनात्सुखादिभिरेकप्रकृतीदं शरीरमिति । एवमुक्तवाननुयुज्यते अथ प्रकृतिर्विकार इति कथं लक्षितव्यमिति । यस्यावस्थितस्य धर्मान्तरनिवृत्तौ धर्मान्तरं प्रवर्तते सा 'प्रकृतिः' यच्च धर्मान्तरं प्रवर्तते स विकार इति सोऽयं प्रतिज्ञातार्थविपर्यासाद् अनियमात् कथां प्रसञ्जयति प्रतिज्ञातं खल्वनेन नासदाविर्भवति न सत्तिरोभवतीति सदसतोश्च तिरोभावाविर्भावमन्तरेण न कस्य चित्प्रवृत्तिः प्रवृत्त्युपरमश्च भवति । मृदि खल्ववस्थितायां भविष्यति शरावादिलक्षणं धर्मान्तरमिति प्रवृत्तिर्भवति अभूदिति च प्रवृत्त्युपरमः तदेतन्मृद्धर्माणामपि न स्यात्। एवं प्रत्यवस्थितो यदि सतश्चात्महानमसतश्चात्मलाभमभ्युपैति तदस्यापसिद्धान्तो निग्रहस्थानं भवति अथ नाभ्युपैति पक्षोऽस्य न सिध्यति।

भा०:-किसी अर्थ के सिद्धान्त को मान कर, नियमविरुद्ध "कथाप्रसङ्ग" करना "अपसिद्धान्त" नामक निग्रहस्थान होता है। जैसे-सत् वस्तु आत्मा को नहीं छोड़ता, सत् का विनाश नहीं, और असत् आत्मा का लाभ नहीं करता, असत् की उत्पत्ति नहीं । इस सिद्धान्त को मान कर अपने पक्ष को स्थापन करता है, कि यह व्यक्त एक प्रकृतिवाला है, विकारों के सम्बन्ध दर्शन से मट्टी सहित शराव आदिकों का एक प्रकृतिवाला होना देखा गया है। उसी प्रकार यह व्यक्त भेद सुख, दुःख, मोह संयुक्त देखा जाता है। अत एव उसी सम्बन्ध के देखने से सुखादिकों के साथ एक प्रकृतिवान् शरीर है। अब इस पर यह प्रश्न होता है कि 'प्रकृति इस का लक्षण किस प्रकार करना।

जिस के विद्यमान रहते एक धर्म के निवृत्त होने पर दूसरा धर्म प्रवृत्त होता है उसे 'प्रकृति' कहते हैं। और जो अन्य धर्म प्रवृत्त होता है उसे 'विकार' कहते हैं। इस प्रकार माने हुए अर्थ के विपर्य्यय होने से नियम विरुद्ध "कथा-प्रसङ्ग" कहाता है। क्योंकि 'असत् प्रकट नहीं होता' यह वादी की प्रतिज्ञा थी और सत्, असत् के नाश और उत्पत्ति विना किसी की प्रवृत्ति का उपराम नहीं होता। अवश्य मिट्टी की विद्यमानता में शराव आदि लक्षण अन्य धर्म होगा, इस लिये प्रवृत्ति होती है, और होगया अतएव प्रवृत्ति का उपराम होता है। तब यह मट्टी के धर्मों को भी न हो ऐसा निषेध करने पर सत् की आत्महानि और असत् के आत्म लाभ को मान ले तो इस को "अपसिद्धान्त" नामक निग्रहस्थान कहते हैं। और यदि इसे न माने तो इस का पक्ष ही नहीं सिद्ध होता ॥ २३ ॥

हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ॥ २४ ॥

हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि। किं पुनर्लक्षणान्तरयोगाद् हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानत्वमापन्नाः यथा प्रमाणानि प्रमेयत्वमित्यत आह। यथोक्ता इति। हेत्वाभासलक्षणेनैव निग्रहस्थानभाव इति। तइमे प्रमाणादयः पदार्था उद्दिष्टा लक्षिताः परीक्षिताश्चेति।

"योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद्वदतां वरम्।
तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्तयत् ॥"

इति श्रीवात्स्यायनीये न्यायभाष्ये पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

भा०:-हेत्वाभास भी जैसा पूर्व ही कहे गये हैं, उन्हीं लक्षणों से 'निग्रहस्थान' हैं, जो ऐसा संदेह हो कि भिन्न लक्षणों से पूर्व ही कहे गये फिर 'हेत्वाभास' 'निग्रहस्थान' कैसे होंगे? तो 'हेत्वाभासों' का निग्रहस्थान होना, प्रमाणों का प्रमेय होने की नाईं मानने योग्य है। इसी से कहा गया है कि "जैसे कहे गये हैं" अर्थात् हेत्वाभासों का पहिले कहे हुए लक्षणों ही से पक्ष या साध्य की सिद्धि नहीं होती प्रत्युत साध्य की हानि ही होती है, इसलिये निग्रहस्थान सिद्ध होता है। प्रमाणादि पदार्थों को कह कर, उन प्रत्येक के लक्षण कह गये, कहे लक्षणों की परीक्षा भी किया गयी ॥

जो न्याय शास्त्र, वक्ताओं में श्रेष्ठ कणाद ऋषि को भली भांति प्रकट हुआ, उस न्यायशास्त्र का सम्पूर्ण भाष्य वात्स्यायन (मुनि) ने किया ॥२४॥

न्यायशास्त्र के पञ्चम अध्याय का भावानुवाद पूरा हुआ।

और ग्रन्थ भी समाप्त हुआ ॥ शुभम् ॥

पृ०	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२१०	२०	मिथ्मा	मिथ्या
२११	३	(अ१।१।१७)	(अ१।१।१७में)
२१२	६५	धात	घात
”	७६	धात	घात
२१३	१	भित्व	भित्वे
२१५	११	दुसरे	दूसरे
२१७	२५	औपचादिक	औपचारिक
२२४	८	उत्पति	उत्पत्ति
२२९	९	उत्पत्तिभ्यम्	उत्पत्तिभ्याम्
२३७		३३७	२३७
२३८		३३८	२३८
२३९		३३९	२३९
२४०		३४२	२४०

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२४३	१४	रनज्ञीय	रज्ञनीय
२६०	१३	नैतद्युक्त	नैतद्युक्त
२६०	१९	क्षेदादिभिः	क्षुदादिभिः
२६४	२१	वधर्म्याम् ।	वैधर्म्याम् ।
२६५	२२	चतुविंशतिः	चतुर्विंशतिः
२६५	१६	प्रयुक्ते	प्रयुक्ते
२६६	३९	आत्मा से युक्त और क्रिया वाला है।	लोष्ट हेतु औरक्रिया गुणवाला है।
२७५	२६	ग्रावणां	ग्राव्णां
२९०	२४	प्रतिपत्त	प्रतिपत्त
२९१	२१	सभासद	सभासद्

आर्यभटीयसटीक सानुवाद । मूल्य १)

महामति पं० आर्यभट कुसुमपुर निवासी ने वेद के अनुकूल आर्या-छन्दों मे यह अपूर्व ज्योतिष का ग्रन्थ शाके ४२१ में बनाया था। इसी पुस्तक में पृथिवी का भ्रमण साफ २ लिखा है। इस की भूमिका में समुद्रमथन, रास-लीला, आदि पुराणोक्त उपाख्यानों का विचार किया गया है । यह ग्रन्थ आज तक हिन्दुस्तान मे नहीं छपा था हम ने इस को जर्मन देश मे मंगवाकर मूल तथा पं० परमेश्वर कृत टीका और भाषानुवाद सहित छपवाया है मू० १) है॥

सामवेदीयगोभिलगृह्यसूत्र सटीकसानुवाद । मू० २॥)

वेद के शिक्षा, कल्प व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष इन छः अङ्गों में से "कल्प" नामक अङ्ग वेद के हस्त स्वरूप हैं। अर्थात् वेद का जो प्रधान उद्देश्य-श्रेयस्कर कर्मकाण्ड की प्रवृत्ति कराने में-है उसी का प्रतिपादक कल्पसूत्र है। चारों वेदों की अलग २ शाखा होने से, प्रत्येक शाखाओं के भिन्न २ गृह्यसूत्र हैं। यह गोभिल गृह्यसूत्र-सामवेद की कौथुमी शाखा का-गोभिल मुनि प्रणीत-आह्निककर्म की पद्धति स्वरूप है । इस ग्रन्थ में प्रथम सूत्र है। प्रत्येक सूत्र पर संस्कृतटीका, आवश्यकीय स्थानों में टिप्पणी और गर्भाधानादि संस्कारों में जिन वेद मन्त्रों के पढ़ने की आवश्यकता पड़ती है, वे पूरे २ मन्त्र भी इस टीका में रक्खे गये हैं। और भूमिका में वेद, शाखा, सूत्र, गोत्र, प्रवर आदि पर अत्यन्त उपयोगी विचार किया गया है सुन्दर चिकने कागज पर नये टाइप में अत्यन्त शुद्ध छपा है।

सूर्यसिद्धान्त भाषाटीका और बृहद्भूमिका सहित । मू० २)

यह ग्रन्थ-सिद्धान्त ज्योतिष के उपलभ्य ग्रन्थों में सब से प्राचीन सर्व-मान्य है । भारतवर्ष में ज्योतिष के अनुसार पञ्चाङ्ग आदि बनाने तथा गणित आदि सिद्धान्त ज्योतिष के विषय सम्बन्धी विवाद होने पर-इसी ग्रन्थ का प्रामाण्य माना जाता है। आज तक इस अमूल्य ज्योतिष के ऊपर ऐसा अपूर्व विचार नहीं किया गया था। इस की भूमिका के १५० पृष्ठों में प्रायः संस्कृत ज्योतिष, अङ्गरेजी आदि ज्योतिष, वेद, ब्राह्मणादि पुस्तकों से भारतवर्षीय ज्योतिषशास्त्र का गौरव सिद्ध किया गया है। केवल इस एक ही पुस्तक के पढ़ने से विना गुरु प्रायः ज्योतिष के विषयों का ज्ञाता हो सकता है।

पिङ्गलसूत्र सटीक सानुवाद । मू० १॥)

वेदार्थ समझने के लिये-छन्दोग्रन्थ की भी आवश्यकता है। वेद में स्थान २

पर छन्दो विशेष का विधान है, इसी कारण गायत्री उष्णिक्, अनुष्टुप् बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, इन सात छन्दों का वर्णन तथा मगण, यगण आदि छन्द सम्बन्धी वैदिक तथा लौकिक छन्दों का वर्णन है। विना छन्द ज्ञान के वेद पढ़ना दोष लिखा है तथा विना छन्द ज्ञान के मन्त्रों का अर्थ भी ठीक २ समझ में नहीं आ सकता, क्योंकि विना षडङ्ग के वेद का तात्पर्य समझना आहोपुरुषिकामात्र है। यद्यपि श्रुतबोध, वृत्त रत्नाकर आदि भी छन्दोग्रन्थ हैं परन्तु—उन में वैदिक छन्दों का कुछ भी वर्णन नहीं है, अतएव हम ने बड़े परिश्रम वेद के छः अङ्गों में से पिङ्गलकृत् छन्दःसूत्र पर हलायुधकृत वृत्ति सहित का अति उपयोगी सरल भाषानुवाद किया है। उत्तम चिकने कागज पर अत्यन्त शुद्ध छपा है।

नीचे लिखे पुस्तक शीघ्र छपेंगे।

१—सिद्धान्तशिरोमणि—पं० भास्कराचार्य्य कृत ज्योतिष का ग्रन्थ (गोलाध्याय) संस्कृत टीका और भाषानुवाद एवं उपयुक्त चित्र सहित मू० २

२—सचित्र भारतवर्षीय प्राचीन भूगोल।

नाम ही से समझ जाइये—वाल्मीकीय तथा महाभारत आदि के समय में देशों की स्थिति का—चित्र, रावण, बालि, तथा भगवान् श्रीरामचन्द्र जी आदि के राज्य के भिन्न २ रंग दे कर नकशा छापा जावेगा २॥)

३—सर्वदर्शनसंग्रह—माधवाचार्यकृत्—जिस में १६ दर्शन हैं और जिस में आस्तिक नास्तिक दर्शनों का सिद्धान्त लिखा है। संस्कृत औ भाषानुवाद सहित और भूमिका में सब दर्शनों पर गूढ़ विचार तथा—अङ्गरेजी में भी प्रत्येक दर्शन का खुलासा लिखा गया है मूल्य—२॥)

इस में नीचे लिखे दर्शन हैं। इन का अलग २ दाम इस प्रकार होगा १ चार्वाक ≡), बौद्ध ≡), आर्हत ।), रामानुज ।), पूर्णप्रज्ञ ≡), पाशुपत =), शैव दर्शन ≡), प्रत्यभिज्ञान, =), रसेश्वर =), न्याय =) वैशेषिक =), मीमांसा = पाणिनीय =), सांख्य =), पातञ्जल ।) और शाङ्करदर्शन ॥) है।